## डॉ० मण्डनमिश्राभिनन्दनाङ्कः

# शोध-प्रभा

(A RESEARCH JOURNAL)

राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठीया

## शोध-पत्रिका

# शोध-प्रभा

प्रधानसम्पादकः
प्रो० वाचस्पति उपाध्यायः
कुलपतिः

प्रकाशन-स्थलम्
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
शहीदजीतसिंहमार्गः, कटवारियासराय।
नईदिल्ली-११००१६

---

## घोषणा-पत्रम्

| | |
|---|---|
| १. प्रकाशनम् | : श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नई दिल्ली-११००१६ |
| २. प्रकाशनावधिः | : त्रैमासिकः |
| ३. प्रकाशकः | : प्रो० वाचस्पति उपाध्यायः, कुलपतिः |
| राष्ट्रियता | : भारतीयः |
| संकेतस्थानम् | : श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, शहीदजीतसिंहमार्गः, कटवारिया सराय, नई दिदल्ली - ११००१६ |
| ४. मुद्रकस्य नाम | : प्रो० वाचस्पति उपाध्यायः, कुलपतिः |
| राष्ट्रियता | : भारतीयः |
| संकेतस्थानम् | : श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, शहीदजीतसिंहमार्गः, कटवारिया सराय, नई दिल्ली - ११००१६ |
| ५. प्रधान सम्पादक नाम | : प्रो० वाचस्पति उपाध्यायः, कुलपतिः |
| राष्ट्रियता | : भारतीयः |
| संकेतस्थानम् | : श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, शहीदजीतसिंहमार्गः, कटवारिया सराय, नई दिल्ली - ११००१६ |

अहं प्रो० वाचस्पति उपाध्याय एतद्द्वारा घोषयामि यदुपर्युक्ताः सर्वाः सूचनाः सत्या यथार्थाश्चेति।

प्रो० वाचस्पति उपाध्यायः, कुलपतिः
प्रकाशकः

# शोध-प्रभा

**श्रीलालबहादुरशास्त्री-राष्ट्रिय-संस्कृत-विद्यापीठस्य**

**"अनुसन्धान-प्रकाशन-विभागीया पत्रिका"**

१. एषा त्रैमासिकी शोध-पत्रिका।

२. अस्याः प्रकाशनं प्रतिवर्षं जनवरी-अप्रैल-जुलाई-अक्टूबरमासेषु भवति।

३. अस्याः प्रधानमुद्देश्यं संस्कृतज्ञेषु स्वोपज्ञानुसन्धान-प्रवृत्तेरुद्बोधनं प्रोत्साहनं विविधदृष्ट्याऽनुसन्धेयविषयाणां प्रकाशनं च विद्यते।

४. अस्यां 'श्रीलालबहादुरशास्त्री-राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ'स्थानामन्येषां च विदुषां स्वोपज्ञविचारपूर्णा अनुसन्धानप्रधाननिबन्धाः प्रकाश्यन्ते।

५. अप्रकाशितानां दुर्लभानां प्राचीनाचार्यरचितानां लघुग्रन्थानां सम्पादन-भावानुवाद टीकाटिप्पण्यादिपुरस्सरं प्रकाशनमप्यस्यां क्रियते।

६. प्रकाशित-निबन्धस्य प्रतिमुद्रणानि पत्रिकायाश्च सोऽङ्को (एका प्रतिः) लेखकाय निःशुल्कं दीयते, यस्मिस्तदीयो निबन्धः प्रकाशितो भवति।

७. अस्यां पत्रिकायां विशिष्टानां संस्कृत-हिन्द्याङ्ग्ल-ग्रन्थानां समालोचना अपि प्रकाश्यन्ते। तदर्थं द्वे प्रतिकृती प्रेषयितव्ये। आलोच्यग्रन्थस्यालोचना यस्मिन्नङ्के प्रकाशिता भवति सोऽङ्को ग्रन्थकर्त्रे निःशुल्कं दीयते किञ्च समालोचना पत्राण्यपि यथासौविध्यं दीयन्ते।

८. अस्या वार्षिकं मूल्यं ६०=०० रु० (षष्टिः रूप्यकाणि) एकाङ्कस्य च २०=०० रु० (विंशति रूप्यकाणि) सन्ति, इदं शुल्कं कुलसचिव, श्रीलाल-बहादुरशास्त्री-राष्ट्रिय-संस्कृत-विद्यापीठ, शहीदजीतसिंह मार्ग, नई दिल्ली-१६, इति सङ्केतेन (बैंकड्राफ्ट, पोस्टल आर्डर अथवा मनीआर्डर) द्वारा प्रेषणीयम्।

९. पत्रिकासम्बन्धी सर्वविधः पत्रव्यवहारः 'सम्पादकः' 'शोध-प्रभा', श्रीलाल-बहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, शहीदजीतसिंह मार्ग, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-११००१६ इति सङ्केतेन विधेयः।

सम्पादकः

Phone : (STD. 04112) - 22115
Sri Chandramouleeswaraya Namaha :
SRI SANKARA BHAGAVADPADACHARYA PARAMAPARAGATHA
*His Holiness Sri Kanchi Kamakoti Peetathipathi*
**Jagadguru Sri Sankaracharya Swamigal**
SRIMATAM SAMSTHANAM
No. Salai Street, KANCHEEPURAM-631 502
Camp : Kancheepuram. Date : 27-07-96

# Message

Dr. Mandan Mishra, a renowned scholar of Sanskrit has done great service to Sanskrit, our noble herirage and our Sanskriti. He has been connected with several Sanskrit Organisations of our country and he has been responsible for the establishement of a number of Sanskrit and cultural institutions. Sri Mishra is a very popular figure amongst scholars all over Bharat. He has been held in high esteem by his teachers, and his pupils.

As a speaker and as a writer, he has gained the praise of the Sanskrit world.

Dr Mishra has frequently visited Kanchi and our Math, and participated in many an important function of our Math. He has been suitably honoured by the Acharyas of Kanchi. With the grace of Sri Chandramouleeswara, we convey our bountiful blessings to him, for a long and prosperous retired life, with further continuous service to our ancient and glorious Sanskrit language and our hoary Indian culture.

Narayana Smrithi.

# श्री श्री जगद्गुरू शङ्कराचार्य महासंस्थानम्
# दक्षिणाम्नाय श्री शारदापीठम्, श्रृङ्गेरी

*PRIVATE SECRETARY*
**To His Holiness**
**Sri Jagadguru Shankaracharya**
**Dakshinamnaya**
**Sri Sharada Peetham,**
**SRINGERI-577139 (Karnataka)**

**Ref : Dol-6396**

**Camp : श्रृंगगिरि:**

**Date : 5.8.1996**

श्रीमत्सु वाचस्पति उपाध्यायमहोदयेषु सादरा विज्ञप्तिः।

देहलीनगरीस्थ श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृतविद्यापीठेन विदुषां श्रीमण्डनमिश्रमहाभागानां संमाननाय एका स्मारिका प्रकाश्यत इति विज्ञाय श्रीजगद्गुरुचरणा अमोदन्त।

संस्कृतभाषायाः प्रसाराय श्रीमद्भिः मण्डनमिश्रैः कृतान् प्रयत्नान् कस्को नाभिनन्देत् सुरभारतीप्रणयी सचेताः। संस्कृतविद्यापीठस्थापन संस्कृतसम्मेलनप्रवर्तनादयः तेषामेव परिश्रमस्य फलस्वरूपा इति अतिरोहितं समेषाम्। विद्याविनयादि सद्गुणशोभिता इमे सर्वेषामपि प्रीत्यादरपात्रतामापन्नास्सन्ति।

त्रिंशद्वर्षपूर्वं देहलीनगरीं ऐदं प्राथम्येन स्वपदरजोभिः पावितवतां श्रृंगगिरि शारदापीठाधीश्वराणां ब्रह्मीभूत जगद्गुरु श्रीमदभिनवविद्यातीर्थमहास्वामिनां विशिष्टां सेवां विधाय विद्यारत्नाकर इति बिरुदप्रदानेन सदयं तैरन्वगृह्यन्त। इत्थमेव अद्यतन जगद्गुरूणां श्रीभारतीतीर्थमहास्वामिनां दिल्लीनगर्यां चातुर्मास्यानुष्ठानावसरे महतीं वरिवस्यां विधाय तेषामपि निरवग्रहानुग्रहभाजनानि अभूवन्।

अत एवैतेषां संमाननाय प्रकाश्यमानायाः स्मारिकायाः उपादेयतामाशंसमानाः श्रीजगद्गुरु भारतीतीर्थश्रीचरणा आशासते यत् भगवत्याः-शारदाम्बायाः भगवतश्चन्द्रकलावतंसस्य च कृपया श्रीमण्डनमिश्राः एवं अस्मिन् विशिष्टे कार्ये प्रवर्तमानाः सर्वेपि सहृदयाः श्रेयः परम्पराभिः समभिवर्धन्तामिति।

**इति निवेदयिता**

**(एव्• एस्• दक्षिणामूर्तिः)**

# अभीक्षण ज्ञानोपयोगी संत आचार्यश्री विद्यानन्द जी का शुभाशीर्वाद-सन्देश

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ (महाभारत उद्योग पर्व)

अर्थः—मनुष्य में विद्या से, धन से एवं उच्चकुल से अभिमान का भाव आ जाता है; परन्तु यह अभिमान उन्हें ही होता है, जो असज्जन है एवं इनमें ही अवलिप्त हैं (अर्थात् जिन्होंने इनको ही अपने जीवन का लक्ष्य माना हुआ है)। तथा जो सज्जन हैं, वे इन तीनों की प्राप्ति होने पर और अधिक विनयवान् हो जाते हैं।

धर्मानुरागी, दृढ़ मनस्वी, कर्मठ एवं दूरदर्शी डॉ० मण्डन मिश्र जी के जीवन में सज्जनता का प्रकर्ष प्रतिबिम्बित है। इस देश की प्राचीन गौरवमय भाषा संस्कृत की जब बीसवीं शताब्दी में निरन्तर उपेक्षा हो रही थी, तब आपनें संस्कृत के स्वर झोपड़ी से राष्ट्रपति भवन तक गुंजायमान किये एवं उसकी गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित किया। तथा समग्र भारतीय चेतना के प्रतिनिधि बनकर वे अब संस्कृत की सहोदरा जनभाषा प्राकृत को भी इसी तरह प्रतिष्ठित करने में प्राणपणसे संलग्न हैं। यह उनकी वैचारिक उदात्तता एवं व्यापक दृष्टिकोण के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व की गरिमा का निदर्शन है।

राष्ट्र के ऐसे गरिमाशाली भाषाविद्, समाजशास्त्री एवं संस्कृति-उन्नायक का सुदीर्घ स्वस्थ जीवन निरन्तर उन्नति के नित-नूतन आयाम स्थापित करे, तथा सभी के मण्डन के लिए वे समर्पित रहें—ऐसा मेरा मंगल आशीर्वाद है।

अटल बिहारी वाजपेयी
नेता, प्रतिपक्ष
लोक सभा

१ अगस्त, १९९६

प्रिय प्रो० उपाध्याय जी,

आपका १९ जुलाई, १९९६ का पत्र प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि डॉ० मण्डन मिश्र के सम्मान में श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ की शोध-पत्रिका "शोधप्रभा" का एक विशेषांक प्रकाशित होने जा रहा है।

डॉ० मिश्र संस्कृत की प्रतिष्ठा, गरिमा, महिमा और सार्वदेशिक स्वरूप की प्रतिमूर्ति हैं।

मैं इस अनुष्ठान की सफलता की कामना करता हूं।

शुभकामनाओं सहित,

(अटल बिहारी वाजपेयी)

**P. V. Narasimha Rao**

9, Motilal Nehru Marg
New Delhi-110 001

दिसम्बर ३१, १९९६

## संदेश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) अपनी अनुसंधान पत्रिका "शोध-प्रभा" का विशेषांक श्री मण्डन मिश्र जी के सम्मान में प्रकाशित कर रहा है।

संस्कृत भाषा के विकास में डा० मिश्र का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने संस्कृत को अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की। वास्तव में डा० मिश्र स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत जागरण के सूत्रधार हैं।

मैं इस विशेषांक के लिए विद्यापीठ को बधाई देता हूँ।

(पी०वी० नरसिंह राव)

बलिराम भगत

राज भवन, जयपुर-३०२००६
Raj Bhawan, Jaipur

राज्यपाल, राजस्थान
Governor of Rajasthan

१ अगस्त, १९९६

## सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) कटवारिया सराय, नई दिल्ली की शोध पत्रिका "शोध प्रभा" का विशेषांक संस्कृत के विद्वान डॉ० मण्डन मिश्र के सम्मान में प्रकाशित किया जा रहा है।

मुझे विश्वास है कि डॉ० मण्डन मिश्र के सम्मान में प्रकाशित की जा रही इस "शोध प्रभा" पत्रिका में संस्कृत साहित्य के संवर्द्धन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की जाएगी।

मेरी ओर से शुभकामनाएं।

(बलिराम भगत)

उपराज्यपाल
दिल्ली
LIEUTENANT GOVERNOR
DELHI

राज निवास
दिल्ली-११००५४
RAJ NIWAS
DELHI-110054

०१ अगस्त, १९९६

## सन्देश

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) की शोध पत्रिका "शोध प्रभा" का एक विशेषांक डा० मण्डन मिश्र के सम्मान में प्रकाशित किया जा रहा है। डा० मण्डन मिश्र संस्कृत की प्रतिष्ठा, गरिमा, महिमा और सार्वदेशिक स्वरूप की प्रतिमूर्ति रहे हैं।

डा० मिश्र ने संस्कृत में शोध, प्रचार व प्रसार में जो कार्य किया है और प्रोत्साहन दिया है वह अद्वितीय है, उनका योगदान साहित्य में सदा स्मरणीय रहेगा।

मैं शोध पत्रिका के विशेषांक प्रकाशन पर श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ को हार्दिक बधाई देता हूं। मुझे आशा है कि प्रस्तुत प्रकाशन शोध कार्य करनेवालों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

(पी० के० दवे)

मुख्य मंत्री
राजस्थान
जयपुर

६ जलाई १९९५

## सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली द्वारा डॉ० मण्डन मिश्र के सम्मान में विद्या-पीठ की शोध पत्रिका—शोध प्रभा के विशेषांक का प्रकाशन किया जा रहा है।

डॉ० मण्डन मिश्र देश के उन लब्ध प्रतिष्ठ संस्कृत विद्वानों में से हैं जिन्होंने देववाणी संस्कृत भाषा को नये आयाम देकर व्यापक बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है। ऐसे मूर्धन्य विद्वान के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को विशेषांक के माध्यम से प्रकाशमान करना श्रेयस्कर है।

मुझे विश्वास है कि पत्रिका शोध प्रभा अपने नाम के अनुरूप डॉ० मण्डन मिश्र की सारस्वत सेवाओं की प्रभा सिद्ध होगी।

मेरी शुभकामनाएं,

(भैरोंसिह शेखावत)

साहिब सिंह
मुख्य मंत्री
SAHIB SINGH
CHIEF MINISTER

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली सरकार
GOVT. OF NATIONAL CAPITAL TERRITORY OF DELHI
पुराना सचिवालय, दिल्ली-११० ०५४
OLD SECRETARIAT, DELHI-110054
TEL. NO.
D.O. NO. CM/96/II/3101
दिनांक
Dated

८-८-१९९६

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), कटवारिया सराय, नई दिल्ली की शोध-पत्रिका "शोधप्रभा" का एक विशेषांक डॉ० मण्डन मिश्र के सम्मान में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया है। डॉ० मिश्र संस्कृत की प्रतिष्ठा, गरिमा, महिमा और सार्वदेशिक स्वरूप की प्रतिमूर्ति है जिनको देश के सभो क्षेत्रों का सहयोग मिलता रहा श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ तो उन्हीं का स्वप्न है जो उनके हाथों साकार हुआ है। लेखन, भाषण, संगठन तथा प्रशासन कौशल के साथ-साथ सामाजिक क्षेत्र में भी उनका व्यक्तित्व उभर कर सामने आया है। साठ से भी अधिक ग्रंथों का सम्पादन और प्रकाशन भी डॉ० मिश्र के निर्देशन में हुआ है। प्रत्येक प्रदेश की संस्कृत संस्था के विकास में, विभिन्न विश्वविद्यालयों, अकादमियों और विद्यापीठों के शुभारम्भ और राष्ट्र में संस्कृत और संस्कृति के वातावरण के निर्माण में आपका नेतृत्व प्रशंसनीय है।

आशा है इस विशेषांक में डॉ० मिश्र के जीवन, दर्शन व उपलब्धियों के संबंध में विस्तृत जानकारी होगी जिसके पाठक निस्संदेह लाभान्वित होंगे। संस्कृत साहित्य के लिए अर्पित सेवाओं के लिये डॉ० मिश्र का नाम सदैव याद किया जाता रहेगा। मैं, इस अवसर पर डॉ० मिश्र के अच्छे स्वास्थ्य एवं चिरायु के साथ ही इस विशेषांक के सफल एवं सुन्दर प्रकाशन की कामना करता हूं।

(साहिब सिंह)

नवल किशोर शर्मा
अध्यक्ष

**Naval Kishor Sharma**
Chairman

**Khadi and Village Industries Commission**

'Gramodaya', 3 Irla Road,
Vile Parle (W), Bombay-400 056
Phones : 8363659 / 8364056 (O) 6202717 (R)
Telex : 011-79024 KVIC IN
Gram : KHADIGRAM
Fax : 022-8363659

क्र: अ. स./४/९५
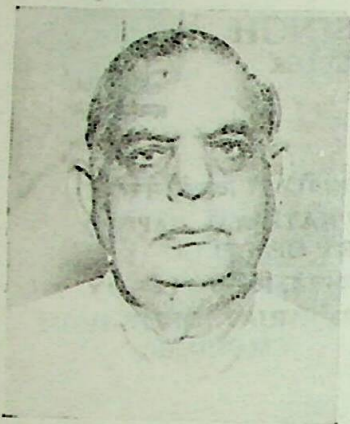
जून १३, १९९५

प्रिय श्री प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी,

डा० मण्डन मिश्र जिनके कारण श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ आज की स्थिति में पहुंचा है उस व्यक्तित्व के प्रति आपके विद्यापीठ ने शोधप्रभा का एक विशेषांक डा० मिश्र के सम्मान में प्रकाशित करने का निश्चय किया है, वह सराहनीय है।

डा० मण्डन मिश्र को मैं एक लम्बे अरसे से जानता हूं। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व, उनकी लगन, श्रम व निष्ठा में है। डा० मण्डन मिश्र को एक साधारण व्यक्ति से आज देश के मूलधन संस्कृत विद्वानों में खड़ा कर दिया है। डा० मण्डन मिश्र ने संस्कृत जगत को बहुत कुछ दिया है। उनकी सेवाएं चिर स्मरणीय हैं। संस्कृति को प्रतिष्ठा प्रदान करनेवाले नेता थे। मुझे याद है कि संस्कृति पर जब-जब भी संकट आये, उन्होंने सूझबूझ और अपने नेतृत्व में शक्ति के बल पर उसे दूर किया। संस्कृति पर उन संकटों को दूर करने का उन्होंने अविस्मरणीय प्रयत्न किया है, जिसके कारण आज संस्कृति भारत में प्रस्थापित हो चुकी है। विद्वता के साथ सादगी, काम के बदले में किसी फल की इच्छा न करते हुए बराबर अपने उद्देश्य के प्रति कार्य करने के लिये आगे बढ़ते रहना, यह उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है।

मैं मण्डन जी के लम्बे व स्वस्थ जीवन की मंगलमय कामना करता हूं और मैं विश्वास करता हूं कि उनका जो अभियान है वह भारतीय संस्कृति को देश में, जनमानस में प्रस्थापित करने में सहायक होगा।

(नवल किशोर शर्मा)

कृभको
KRIBHCO

HARI KRISHNA SHASTRI
CHAIRMAN

कृषक भारती कोआपरेटिव लिमिटेड
ए-१०, सेक्टर १, नोएडा-२०१३०१ (उ०प्र०)
दूरभाष : ८९-३७११२

KRISHAK BHARATI COOPERATIVE LTD.
A-10, Sector-1. Noida-201 301 (U.P.)
Phone : 89-37112

३० जून, १९९५

प्रिय प्रो० उपाध्याय जी,

आपका २३-५-९५ का पत्र प्राप्त हुआ। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप डा० मण्डन मिश्र के सम्मान में विद्यापीठ की शोध पत्रिका का एक विशेषांक प्रकाशित कर रहे हैं।

डा० मिश्र, निसंदेह उच्च कोटि के विद्वान हैं जिन्होंने श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ की अपार सेवा की है। इस मानित विश्वविद्यालय की प्रगति में डा० मिश्र का योगदान बहुत सराहनीय रहा है। मैं उनके स्वस्थ एवं दीर्घायु की कामना करता हूं।

(हरी कृष्ण शास्त्री)

दूरभाष का. : ३०११०८०, ३०११६०६
३०१२६६२, ३०१०९६२
३०१२७११, ३०१८२७९

# अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (इ)

सुनील शास्त्री
संयुक्त सचिव

२४, अकबर रोड,
नई दिल्ली-११००११

७ अगस्त, १९९६

श्री वाचस्पति उपाध्याय जी,

आपका पत्र दिनांक १९-७-१९९६ मिला। मुझे यह जानकर अपार हर्ष हो रहा है कि संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान श्रद्धेय डा० मण्डन मिश्र के सम्मान में लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ अपनी शोध पत्रिका 'शोध प्रभा' का विशेषांक प्रकाशित कर रहा है।

डा० मिश्र संस्कृत की प्रतिष्ठा, गरिमा, महिमा और सार्वदेशिक स्वरूप की प्रतिमूर्ति हैं। ऐसे संस्कृत के मनीषी का सम्मान सम्पूर्ण संस्कृत जगत का सम्मान है।

शोध पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु सम्पादक मण्डल को मेरी कोटिशः हार्दिक मंगल कामनाएं।

(सुनील शास्त्री)

**Dr. BISWANARAYAN SHASTRI** Ex-M.P.
Ex-Vice-Chairman,
State Planning Board.

**RITAYANA**
Red Cross Road
Chandmari,
Guwahati-781003
Tele : 541151

८-९-९६

# अभिनन्दनम्

अथेयं वार्त्ता नितरामानन्दमावहति विविध-विद्याविद्योतितान्तःकरणानां जैमिनीयन्यायनिष्णातानां कुलपतिवर्यणां मण्डनमिश्राणां मण्डनमिश्रकल्पानां सम्बर्द्धना समायोजिता लालबाहादुरशास्त्री-राष्ट्रिय-संस्कृत-विद्यापीठ-कुलपतिनाऽऽचार्यैरन्तेवासिभिश्च शोधपत्रिकाविशेषाङ्कप्रकाशनेन। अवसरेऽस्मिन् वाक्य-पुष्पाञ्जलिभिः सम्बर्द्धनां ज्ञापयामस्तस्मै।

राजस्थानेषु हणुतियाग्रामेगृहीतजन्मा अधीतविद्यो मण्डनमिश्रः संस्कृत-वाङ्मयस्याऽध्यापने जयपुरे स्वीयप्रतिभयाऽन्यानतिशेते स्म। ततश्च संस्कृतस्य प्रसारे प्रचारे च समर्पितप्राणोऽयं खलु धीमान् मनीषी दिल्लीनगर्यां संस्कृतसेवायां नियुक्तो लालबहादुरशास्त्रीविद्यापीठं संस्थाप्य कतिपयैरेव वर्षैर्विद्यापीठोऽयं विश्वविद्यालयमर्यादां प्रापित इति यस्य कीर्त्तिं सगौरवं समुद्घोषयन्ति संस्कृताध्यायिनो राजपुरुषाश्च स मण्डनमिश्रो विजयतेतराम्।

आसमुद्रहिमाचलं यस्य गतिरमोघा संस्कृतसेवायां यस्य प्रतिभा समाज-

सेवायां विस्फुरिता यस्य च मतिः संस्कृतानुशीलने सततं लग्ना तस्मै सर्वथा युज्यते सर्वेषां मनोऽभिनिवेशः।

"प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः"

इति कालिदासोक्तं संस्मरन्तः श्रेयसे प्रेयसे च गुणीनां गुणस्यानुकीर्त्तनं शुश्रूषा च सर्वेषां समीहा।

संस्कृताध्यापने सत्स्वपि विद्यापीठेषु प्रवर्त्तमाने संस्कृताध्यापने विश्वविद्यालयेषु प्रकाशितेष्वपि परस्सहस्रेषु शोधग्रन्थेषु न संस्कृतं तथाऽऽत्मीयं हृदये विराजते जनानां यथा पूर्वमासीत्। न वा गीर्वाणवाणी उषतीव योषा न तथाऽऽत्मानं विवृणोति विदुषे इत्यपि तर्कयामि। अतः आत्मीयत्वमन्तरङ्गत्वं संस्कृतं यथा भवेत्, यथा च धमनीषु रक्तेषु च संस्कृतं प्रवहति, यथा च रक्तबीजवत् संस्कृतं सर्वत्र सहस्रधा क्षणात् क्षणं जायते, यथा वा जनेषु वरीवर्त्ति तथा सर्वैर्यतितव्यं कायेन मनसा वाचा। दिग्दर्शनं कृतं मिश्रमहाभागेन अस्मिन् विषये, नीतं च लोहेभ्योऽपि कठिनतरं संस्कृतबन्धनं विद्यार्थिनामिति देशे विदेशे च सुप्रसिद्धोऽयं जनः मया हृदयसंवादेनाऽभिनन्दितो वर्धापितश्च।

जयति मण्डनमिश्रो विद्याविमण्डितकीर्त्तिः।<br>
अधीतिबोधाचरणैः सतत-संप्राप्तदीप्तिः॥<br>
नारायणेन विश्वेन गुम्फिता यशोमालिका।<br>
चन्द्रलेखेव भर्गस्य मूर्द्धभूषा प्रकल्पताम्॥

विश्वनारायणशास्त्रिणा

rofessor K. Satchidananda Murty

Ph.D., Hon. D. Litt. Hon. Dr. Phil., Hon. Sc. D.

Vice President,
International Federation of Philosophical Societies

Phone : 08644-68-202

"Aparajita"
Sangam Jagarlamudi,
Guntur Dist., A.P.,
522 213,
India

Dr. Mandan Mishra played an important role in the social and intellectual life of Rajasthan in the 40s and 50s. Thereafter the country became the field of his activity. In the early 60s Sanskrit Vidyapeeth was established in Delhi under his direction. Later he became the Director of the National Sanskrit Samsthan. Dr. Mishra was responsible for the establishment of Sanskrit Vidyapeeth in Jaipur, Lucknow & Bhopal. Due to his efforts the Delhi and Tirupati Vidyapeethas became deemed Universities in 1989 and he became the founder Vice Chancellor of the former. As Secretary of the National Veda Vidya Pratisthan, his contribution to the propagation of Vedic studies is outstanding. He has received the highest awards from the Govt. of India and the heads of Mathas. Many publications have also come out under his inspiration and guidance.

In short, Dr. Mishra can be described as the leader of Indian Sanskritists and his services to the promotion of Sanskritic learning are unrivalled. I pay my tribute to this great scholar and the most dynamic personality in the field of Indian Sanskritic studies.

08 August 1996 (K. Satchidananda Murty)

इन्दिरा गान्धी
राष्ट्रीय कला केन्द्र
INDIRA GADHI
NATIONAL CENTRE FOR THE ARTS
Janpath New Delhi, Grams : 'KAISAMPADA'
Telephone : 384901, Telex : 031-63443 IGNC IN
Fax : 91-11-381139
Academic Director

D.O. No. AD/IGNCA/1070/95

July 4, 1995

Dear Dr. Upadhyaya

Thank you for your letter of May 23, 1995.

I am happy to learn that a special number of 'Shodh-Prabha', the research Journal of Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Deemed University, is being published in honour of Dr. Mandan Mishra. This is very appropriate and a timely step taken by friends and admirers; and I too welcome the idea.

I have known Dr. Mandan Mishra as a Sanskrit Scholar for a long time. His devoted service to Sanskrit is widely known. His admirable contribution towards development of Sanskrit and its extensive use by way of establishing Sanskrit Institutions and Vidyapeethas is well known. Taking into consideration his love and faith for Sanskrit and the zeal with which he worked for enriching the Sanskrit language, it is befitting that such a Journal is brought out in his honour.

I hope this issue of Shodh Prabha will prove popular, particularly source of encouragement for the future and newly coming up Sanskrit lovers. I wish him a long life in his booming health, so that he could do much more for the spread and enrichment of Sanskrit.

(KAPILA VATSYAYAN)

डा० विद्यानिवासमिश्रः
पूर्वं कुलपतिः
वाराणसीस्थकाशीविद्यापीठस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य च

# मंगलाशिषः

आचार्यं श्रीमण्डनमिश्राः बहोः कालाद् मम अनायासम् एव स्नेहभाजनीभूताः। नास्ति तत्र केवलं तेषां संस्कृतसेवानैरन्तर्यं कारणम्, न चापि तेषां विनयप्रकर्षः कोऽपि हेतुः, न च तेषां बह्वीषु संस्थासु अध्यक्षतया संस्कृतोत्थानोपक्रमाः अपि केवलं स्नेहोत्पादकाः, एतानि सर्वाणि सन्त्येव किन्तु एतानि सर्वाणि अतिक्रम्य अस्ति किञ्चिदपूर्वम् आभ्यन्तरं कारणम् येन अवशतया मया तेषु प्रीतिः विधीयते।

संस्कृतस्य कृते सिकतीभूते राजधानीस्थले दिल्लीनगरे तेषाम् अनेनैव गुणेन बलवत्तया स्नेहरसः समुदपादि अत्र कदाचन तेषां कुलादागतः संस्कारः कारणं भवेत् उताहोस्वित् कश्चन प्राक्तनजन्मसंस्कारः भवेत्। अस्ति कोऽपि संस्कारः विस्मयकारी। एतन्निमित्तीकृत्य संस्कृतस्य दिल्लीदिग्विजयः।

यद्येकाक्षरमपि तैः न प्रणीतं भवेत् तदपि केवलं एकमेवाद्वितीयं कारणं राजधान्यां संस्कृतस्य संस्थारूपेण संस्थापनम् अक्षयकीर्तिकारि। एते मीमांसादिशास्त्रविशारदानां यशःशरीराणां श्रीमत्पट्टाभिरामशास्त्रिणां पट्टशिष्याः। शास्त्रिमहोदयानां ग्रन्थान् सम्पाद्य प्रकाश्य च आर्षेयाद् ऋणाद् एभिरात्मा मोचितः। किन्तु केवलं गुरूणामेव एकान्ततः सेवा अनेन न समपादिपूजार्हाणाम् अनेकेषां विदुषां यथासमयं प्रोत्साहनेन सम्मानेन यशोवर्धनेन च सम्यक् सपर्या समाचरिता। अत एव एते सत्यमेव सुधियां विधेयाः। मन्ये काचन एभिः गुह्यतमोपासना नित्यमुपास्यते यया एते नित्यमहरहर्नवनवैरोजोभिः उद्योतमानाः दृश्यन्ते।

एतेषां षष्टिपूर्तिः सम्पन्ना इति अत्र मनसि न संजायते विश्वासः यतोहि षष्ट्युत्तरमपि एते क्रियाशीलतया नित्यं संस्कृतस्य कृते देशविदेशाहिण्डनशीलतया नवनवोन्मेषशालिनः तरुणायमानाः एव प्रत्यक्षीक्रियन्ते। एषां सभाजनावसरे एतेषां निःश्रेयसम् अभ्युदयं च हृदयनिर्भरमाकांक्षे। एतांश्च मंगलाशीभिरभिषिञ्चामि।

(विद्यानिवासमिश्रः)

इन्दिरा गान्धी
राष्ट्रीय कला केन्द्र
**INDIRA GADHI**
**NATIONAL CENTRE FOR THE ARTS**

Janpath New Delhi, Grams : 'KAISAMPADA'
Telephone : 384901, Telex : 031-63443 IGNC IN
Fax : 91-11-381139

Academic Director

D.O. No. AD/IGNCA/1070/95

July 4, 1995

Dear Dr. Upadhyaya

Thank you for your letter of May 23, 1995.

I am happy to learn that a special number of 'Shodh-Prabha', the research Journal of Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Deemed University, is being published in honour of Dr. Mandan Mishra. This is very appropriate and a timely step taken by friends and admirers; and I too welcome the idea.

I have known Dr. Mandan Mishra as a Sanskrit Scholar for a long time. His devoted service to Sanskrit is widely known. His admirable contribution towards development of Sanskrit and its extensive use by way of establishing Sanskrit Institutions and Vidyapeethas is well known. Taking into consideration his love and faith for Sanskrit and the zeal with which he worked for enriching the Sanskrit language, it is befitting that such a Journal is brought out in his honour.

I hope this issue of Shodh Prabha will prove popular, particularly source of encouragement for the future and newly coming up Sanskrit lovers. I wish him a long life in his booming health, so that he could do much more for the spread and enrichment of Sanskrit.

**(KAPILA VATSYAYAN)**

डा० विद्यानिवासमिश्रः
पूर्वं कुलपतिः
वाराणसीस्थकाशीविद्यापीठस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य च

# मंगलाशिषः

आचार्यं श्रीमण्डनमिश्राः बहोः कालाद् मम अनायासम् एव स्नेहभाजनीभूताः। नास्ति तत्र केवलं तेषां संस्कृतसेवानैरन्तर्यं कारणम्, न चापि तेषां विनयप्रकर्षः कोऽपि हेतुः, न च तेषां बह्वीषु संस्थासु अध्यक्षतया संस्कृतोत्थानोपक्रमाः अपि केवलं स्नेहोत्पादकाः, एतानि सर्वाणि सन्त्येव किन्तु एतानि सर्वाणि अतिक्रम्य अस्ति किञ्चिदपूर्वम् आभ्यन्तरं कारणम् येन अवशतया मया तेषु प्रीतिः विधीयते।

संस्कृतस्य कृते सिकतीभूते राजधानीस्थले दिल्लीनगरे तेषाम् अनेनैव गुणेन बलवत्तया स्नेहरसः समुदपादि अत्र कदाचन तेषां कुलादागतः संस्कारः कारणं भवेत् उताहोस्वित् कश्चन प्राक्तनजन्मसंस्कारः भवेत्। अस्ति कोऽपि संस्कारः विस्मयकारी। एतन्निमित्तीकृत्य संस्कृतस्य दिल्लीदिग्विजयः।

यद्येकाक्षरमपि तैः न प्रणीतं भवेत् तदपि केवलं एकमेवाद्वितीयं कारणं राजधान्यां संस्कृतस्य संस्थारूपेण संस्थापनम् अक्षयकीर्तिकारि। एते मीमांसादिशास्त्रविशारदानां यशःशरीराणां श्रीमत्पट्टाभिरामशास्त्रिणां पट्टशिष्याः। शास्त्रिमहोदयानां ग्रन्थान् सम्पाद्य प्रकाश्य च आर्षेयाद् ऋणाद् एभिरात्मा मोचितः। किन्तु केवलं गुरूणामेव एकान्ततः सेवा अनेन न समपादिपूजार्हाणाम् अनेकेषां विदुषां यथासमयं प्रोत्साहनेन सम्मानेन यशोवर्धनेन च सम्यक् सपर्या समाचरिता। अत एव एते सत्यमेव सुधियां विधेयाः। मन्ये काचन एभिः गुह्यतमोपासना नित्यमुपास्यते यया एते नित्यमहरहर्नवनवैरोजोभिः उद्योतमानाः दृश्यन्ते।

एतेषां षष्टिपूर्तिः सम्पन्ना इति अत्र मनसि न संजायते विश्वासः यतोहि षष्ट्युत्तरमपि एते क्रियाशीलतया नित्यं संस्कृतस्य कृते देशविदेशाहिण्डनशीलतया नवनवोन्मेषशालिनः तरुणायमानाः एव प्रत्यक्षीक्रियन्ते। एषां सभाजनावसरे एतेषां निःश्रेयसम् अभ्युदयं च हृदयनिर्भरमाकांक्षे। एतांश्च मंगलाशीभिरभिषिञ्चामि।

(विद्यानिवासमिश्रः)

**N.S. Ramanuja Tatacharya**
Former Vice-Chancellor of Rashtriya
Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati.

Honorary Professor
French Institute of Indology
Pondichery-605001

मान्याः कुलपतिमहोदयाः !

भवतां D. O. No. RSV/Shodh/95-96 संख्याङ्कितं 23-5-95 दिनाङ्कितं च पत्रं प्राप्तम्। डा० मण्डनमिश्रमहोदयानाम् अभिनन्दनार्थं शोधप्रभायाः विशेषाङ्कं प्रकाशयिष्यत इति ज्ञात्वा भृशं संतुष्यामि।

श्रीलालबहादुरसंस्कृतविद्यापीठस्य स्थापकाः प्रथमनिर्देशकाः मानितविश्वविद्यालयत्वं प्राप्तस्य तस्य प्रथमकुलपतयश्च डा० मण्डनमिश्राः सर्वतः प्रसृमरकीर्तयः विराजन्ते। ते स्वयं प्राच्यप्रतीच्यविद्यानिष्णाताः अध्यापनाद्यनुभवसम्पन्नाः विरचितसंपादितनैकविधग्रंथाः भारते सर्वत्र यानि संस्कृत प्रचारार्थंकार्याणि प्रचलन्ति तत्र सूत्रधारभूताः उत्साहशीलाः रात्रिंदिवं संस्कृतविद्यापीठादिस्थापनतदभिवर्धनादिकृते प्रयतनशीलाः पण्डितपक्षपातिनः प्रोत्साहकाः स्वगुणाकृष्टसर्वहृदयाः उदारस्वभावाः प्रथन्ते। तेषां प्रयासेन बहुत्र संस्कृतविद्यापीठानि स्थापितानि, अध्यापकानां विश्वविद्यालयानुसारिपदवेतनादिश्रेणयः प्रापिताः, शोधसंस्थाश्चानेकाः स्थापिताः। एतेषां महिम्नामेकत्र समवायः प्रो० मण्डनमिश्रेभ्योदुर्दर्शः। तेषामभिनन्दनेन शोधप्रभाप्यभिनन्दिता भवति। वर्धतां शोधप्रभा, वर्धन्तांतरामभिनन्द्याः मिश्रमहोदयाः, वर्धन्तांतमामभिनन्दयितारः।

इति

एन्० एस्० रामानुजताताचार्यः

डा० श्री० वा० सोहोनी
एम्. ए. (मुंबई) एम्. ए. (केंब्रिज)
विद्यावारिधि (नालंदा)
विद्यावाचस्पति (दरभंगा)
डी. लिट्. (विक्रम)
आय्. सी. एस् (निवृत्त)
राष्ट्रपति पुरस्कार (संस्कृत)

☎ : ३३१६८६
'मनाली'
प्रभात रोड (१५)
पुणे ४११ ००४

३ ओक्टोवर, १९९६

मुझे सूचना मिली है कि श्रीमान् डॉ० मंडनमिश्र के सम्मान में, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ की शोध-पत्रिका, 'शोध-प्रभा' का विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है। डॉ० मंडन मिश्र जी ने संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में, उसके अध्ययन, अध्यापन तथा संशोधन कार्यों की दिशाओं में, अविरत सेवा की है। इन महान् उद्दिष्टों के पूर्ति के लिये आवश्यक लोकसंग्रह भी सम्पन्न किया है। देववाणी के प्रति उनके कार्य के क्षितिज निरन्तर वर्धमान रहें यह संस्कृतप्रेमियों की शुभेच्छा रहेगी।

(श्री वा० सोहोनी)

डा० नगेन्द्र
सम्मानित आचार्य
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

# संदेश

आज से दस पन्द्रह वर्ष पूर्व जब किसी प्रसंग में ड़ॉ० मण्डन मिश्र का सम्मान हो रहा था, तब मैंनें राजधानी के सन्दर्भ में उनकी प्रशस्ति में दो पंक्तियां पढ़ी थीं।

'देववाणी के विगत जो बीस वर्ष अमिश्र
नाम उनका एक है—आचार्य मण्डन मिश्र'।

आज जब शक्ति नगर की वह संस्कृत पाठशाला राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) में परिवर्तित हो गयी है तो उक्त प्रशस्ति की मैं थोड़ा संशोधन कर पुनरावृत्ति कर रहा हूँ—

देववाणी के विगत जो तीस वर्ष अमिश्र
नाम उनका एक है—आचार्य मण्डन मिश्र'।

मैं डॉ० मण्डन मिश्र के निरन्तर उत्कर्षमय जीवन के लिए भगवान से प्रार्थना करता हूं।

(नगेन्द्र)

डॉ० धर्मपाल

कुलपति

फोन : आफिस : ४२७३६६
निवास : ४२६२३५

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४
(भारत)

पत्रांक : २०५/

दिनांक : २०/६/९५

आपके पत्र क्रमांक अ० शा० पत्र सं० आर एस वी/शो० प्र०/९५-९६ दिनांक २३ मई १९९५ के लिए हार्दिक धन्यवाद। मुझे यह जानकर अपार प्रसन्नता है कि श्रद्धेय डा० मण्डन मिश्र के सम्मान में श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ ने शोध पत्रिका शोधप्रभा का एक विशेषांक प्रकाशित करने का निर्णय लिया है। माननीय डा० मण्डन मिश्र को मैं सन् १९६५ से जानता हूं जब यह संस्थान शक्तिनगर में था। मैंने उन्हें एक सहज आत्मीय बड़े भाई का भाव रखने वाला व्यक्ति पाया। मैं उनके प्रति और उनके गरिमा मंडित व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा रखता हूं। उनकी कार्यशैली से मैं बहुत ही प्रभावित हूं। मुझे अनेक बार राष्ट्रपति भवन, राष्ट्रीय संग्रहालय तथा राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ के परिसरों में डा० मण्डन मिश्र द्वारा आयोजित समारोहों में जाने का अवसर मिला है। इन समारोहों की भव्यता एवं गरिमा सदैव दर्शनीय रही है तथा उनका व्यापक प्रभाव भी पड़ा है। संस्कृत साहित्य एवं भाषा के उन्नयन में उनका अपना विशिष्ट योगदान है। महर्षि सान्दीपनी वेद विद्या प्रतिष्ठान को उन्होंने जीवन्तता प्रदान की है। प्रो० मण्डन मिश्र एक त्यागी तपस्वी एवं संस्कृत के प्रति समर्पित शलाका पुरुष हैं।

मैं माननीय डा० मण्डन मिश्र की दीर्घायु एवं स्वास्थ्य की कामना करता हूं कि वे भारतीय संस्कृति के संवाहक के रूप में सदैव सक्रिय योगदान देते रहें।

(डा० धर्मपाल)

**डा० गंगाधर भट्ट**
**भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष**
**राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**

# सन्देश

मुझे यह जानकर परम हर्ष का अनुभव हो रहा है कि संस्कृत-जगत् के सुप्रथित विपश्चिदग्रगण्य, सरस्वती के अनन्य उपासक डॉ० मण्डन मिश्र के बहु-आयामी उद्भट एवं विलक्षण प्रतिभा के सर्वाङ्गीण चित्रण का परिचायक एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

राजस्थान में जयपुर को संस्कृत साहित्य में अपने अमूल्य योगदान के लिये काशी के बाद दूसरा शीर्षस्थ "अपरा काशी" नाम से अलंकृत किया गया है। संस्कृत-शिक्षा के क्षेत्र में राजस्थान धरित्री सदैव उर्वरा रही है। इस धरित्री ने वस्तुतः संस्कृत के ऐसे मनीषियों को जन्म दिया है जो अपने योगदान के असाधारण कीर्तिमान की अमिट छाप छोड़ जाते हैं।

डॉ० मण्डन मिश्र ने देश-विदेश में राजस्थान के नाम को अमरता प्रदान की है। आपके प्रयासों से ही संस्कृत जगत् में विकास की मन्दाकिनी प्रवाहित होती हुई देश के कोने-कोने को आप्यायित करती रही है। स्थान-स्थान पर विद्या-पीठों, महाविद्यालयों की स्थापना का श्रेय आपको है। समाज एवं प्रशासन द्वारा संस्कृत को अपना गौरवमय स्थान दिलाने में आपकी विलक्षण प्रतिभा मुखरित हुई है।

सरस्वती पुत्र डॉ० मण्डन मिश्र के सम्मान में प्रकाशित किये जाने वाले कार्यक्रमों एवं अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता की कामना करता हूँ।

सद्भावनाओं सहित,

**(गंगाधर भट्ट)**

# नैवेद्यम्

> ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं
> धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
> फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां
> विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥

महामहेश्वराचार्याणामभिनवगुप्तपादानामेषा भणितिरविकलं समुद्घाटयति भारतीयमनीषामञ्जूषाम्, यत्र हि ब्रह्मव्याहारभूतः षडङ्गो वेदो मूलं द्रविणम्। वैदिककालादारभ्येदानीं यावत् निरन्तरं प्रस्रवन्ती सुरभारतीभागीरथी बहुविधानि ग्रन्थरत्नानि सूते सूते च महतीं विद्वत्परम्पराम् । दीपाद् दीप इवोत्तरोत्तरं प्रवर्तते ज्ञानम् । पूर्ववर्त्तिनो दीपस्योत्तरवर्त्तिनि दीपे सङ्क्रमितं ज्योतिः परम्परामेव द्योतयति । फलतः परम्पराप्रवर्तितविद्याविशेषभाजां विद्यावतां समधिष्ठानं विद्वत्सु गौरवप्रदायि विद्यते ।

करालकलिकवलितेऽस्मिन् काले क्षीयमाणपरम्परापरिरक्षणप्रवृत्तानाचार्यप्रवरान् समुपतिष्ठन्ते साम्प्रतिका विद्वांसो बहुविधविद्याविलासैः । प्रथितेषु तेषु तेषु विद्याविकाससम्भारेषु ग्रन्थग्रथनमध्यास्ते प्रमुखं पदम् । अयमेवार्थोऽभिनन्दनग्रन्थस्य ।

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ इति

महामुनेर्मनोर्व्याहृतिरेषा भारतीयतायाः यन्मूलं तत्त्वं प्रकाशयति तदिदानीं देशस्य केन्द्रेऽधिष्ठितस्य प्रतिष्ठितस्य च संस्कृतसंस्कृतिप्रचारणायां श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठस्य मुख्यकर्मास्ति संवृत्तम् । तच्च प्रचारणं पारम्परिकाणाम् अध्ययनाध्यापनैः, पण्डितानां प्रामाणिकप्रवचनैः, विदुषां विविधैर्व्याख्यानैः, भाष्यवृत्तिसमुपेतानां मौलिकग्रन्थानां, शोधप्रबन्धानां नूतनतथ्यसम्पन्ननिबन्धानां प्रकाशनैश्च सततं सम्पाद्यते ।

अस्यामेव दिशि विद्यापीठेनानवरतं शोधप्रभायाः प्रकाशनं समनुष्ठीयते । गरीयसी खल्वस्याः शोधपत्रिकायाः परम्परा । न केवलमस्याः विच्छित्तिविशेषजननै ग्रन्थग्रन्थिशिथिलात्मिकाऽनुसन्धानमूला दृष्टिरपितु सुरभारतीसम्भरणशीलानां विविधविद्याविद्योतितान्तःकरणानां विद्वत्तल्लजानां सुप्रकाशितं जीवातुवृत्तमपि

महते कारणाय कल्पते। संस्कृतपत्रिकासु सुतरां प्रथितायाः शोधप्रभायाः यद्यपि सर्वे अङ्काः अनितरसाधारणगुणभाजः किन्तु विशेषाङ्काः विद्वत्सु समुल्लासविशेषम् आतन्वाना विद्यापीठस्यास्य कीर्तिकौमुदीं बहुधा प्रसारयन्ति प्रतिदिशम्। तस्य च कारणं नास्त्यविदितं पण्डितमण्डलीनाम्। संस्कृतपारावारपारीणानां विदुषाम् अभिवन्दनेन नाभिनन्दति सुरभारती केवलम् अपितु आनन्दसागरे निमज्जति समग्रः संस्कृतसमवायः।

शोधप्रभायाः प्रकृताङ्कस्य वैशिष्ट्यं ततोऽप्यधिकं किमपि विद्यते भारतीकुलमण्डनमण्डनमिश्राभिनन्दनविशेषात् । येषां प्रतिभया विद्यया च नितान्तमुपकृतमस्ति संस्कृतजगत्।

१९२४ तमे ख्रीष्टाब्दे जूनमासस्य ७ दिनाङ्के जयपुरनगरात् नातिदूरे हणूतियेति नामाभिधे ग्रामे समुत्पन्नानां डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयानां प्रारम्भिकी शिक्षा तत्रैव पार्श्वे अमरसरे सम्पन्ना, उच्चशिक्षा च महामहोपाध्यायश्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणः सकाशात् जयपुरे प्रकर्षपदवीं गता।

संस्कृतसमाजं बहुविधमुपकुर्वद्भिस्तैः भारतस्वातन्त्र्यात् परं सिन्धदेशाद्विवासितानां सहस्राधिकानां जनानां पुनर्वासार्थं हिन्दीभाषाभाषणमनिवार्यमित्युद्देश्यं मनसि निधाय साहित्यविद्यालयञ्च संस्थाप्य प्रवर्तिता भूयस्यो रात्रिपाठशालाः। वस्तुत इदमेव प्रथमं स्रोतः तेषां मिश्रवर्य्याणां समाजसेवाभावनायाः, यतः प्रसृता मनोभावनाभागीरथी अद्यापि न विश्राम्यति पुनाति च मानवसमाजं विविधैरनुष्ठानैः। राजस्थानसेवकसमाजस्य संयुक्तसंयोजकत्वेन न केवलं तत्रत्याः प्रान्तीयाः युवकाः प्रेरिता अपि तु तद्द्वारा समग्रतया भारतीया जनता प्रबोधिता नोदिता च।

एतेषां विद्याबुद्धिवैशारद्येनालोकितं समग्रं दिङ्मण्डलमस्ति। परिणामतः देशस्य बहुविधाभिः संस्थाभिः परिषद्भिरनेकैश्च राजनेतृभिर्विद्वद्भिः सम्मानिताः सभाजिताश्च इमे सन्ति। एतेषां विद्याविभवेन विकसितं संस्कृतमिति वीक्ष्य भारतसर्वकारेण १९८३ तमे ख्रीष्टाब्दे राष्ट्रपतिसम्मानपत्रेणैते सभाजिताः। एभिः समधिगतेषु पुरस्कारेषु शङ्कराचार्यपुरस्कारः, विश्वसंस्कृतभारतभारतीपुरस्कारः, दिल्लीसंस्कृत-अकादेमीपुरस्कारः, आचार्यकुन्दकुन्दभारतीपुरस्कारश्च सन्ति मुख्याः। एवमेव एतेषां विद्यापरायणतां परिभाव्य एभ्यः प्रदत्तेषु विविधेषु विरुदेषु विद्याभास्कर-प्रथमविद्वान्-ब्रह्मर्षिप्रभृतयः प्रथिताः सन्ति।

आचार्यमिश्रैः संदृब्धेषु प्रबन्धेषु मीमांसादर्शनं संस्कृत-संस्कृति-स्तवकश्च नितरां प्रशंसिते ग्रन्थरत्ने। एतत्सम्पादन-प्रकाशनकलाविलसिता बहुसंख्याका ग्रन्थाः सर्वत्र सरस्वतीमन्दिरे विराजमाना उपकुर्वन्ति संस्कृतविदुषो भूम्ना। एतेषां प्राकृतप्रियताऽपि परं प्रख्याता। आचार्यश्रीविद्यानन्दमुनेः प्रसादात् विद्यापीठे प्राकृतव्याख्यानमालायाः परिकल्पनं तत्प्रमाणयत्येव।

एवं संस्कृत-प्राकृतविद्यासंवर्धनतत्पराः डॉ० मण्डनमिश्राः विविधासु तासु

तासु समितिसु परिषत्सु च क्वचित् सदस्यत्वेन क्वचिच्च संयोजकत्वेन व्यापृताः सततं भारतीयां विद्यां समुपतिष्ठन्ते। गुर्वीं गुरुपरम्परां बिभ्रद्भिः सतीर्थ्यैर्मे सम्पूर्णं स्वस्वर्णिमयौवनं संस्कृतविद्यासेवनसवने सगौरवं समाहुतं, समनुष्ठितं च संस्कृत-संस्कृतिप्रचार-प्रसारमखमुखमेतत् संस्कृतसम्मेलनैः, सम्भाषणसंयोजनैः; सुरभारती-सुतसभाजनैः; बहुत्र विद्यापीठविधानैः; अध्ययनाध्यापनव्याख्यानानुशासनप्रशासनैः समनुष्ठीयते चाद्याप्यनवरतम् इति को न वेत्ति।

द्विशाखितया समुपबृंहितः खण्डद्वयात्मकः शोधप्रभाविशेषाङ्कोऽयं प्रथम-स्कन्धेन श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ-स्थापककुलपतिपदमलङ्कृतानां, श्रीसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयकुलपतिपदमलङ्कुर्वाणानां काशी-पण्डितमण्डलीमण्डनानां श्रीमतां मण्डनमिश्राणां जीवनेतिवृत्तं संस्कृतसेवासुवृत्त-ञ्चाधारीकृत्य विहितान् विविधनिबन्धान् संस्मरणबन्धांश्च, अपरेण हि हंसवृत्तिता-माश्रितानां स्वविचारप्रचारविश्रुतानां समीक्षणविचक्षणानां शोधमूला निबन्धदृष्टीः समुद्वहन् विद्योतते विद्यालङ्कृतेषु विद्वत्सु।

एवं बहुविधविषयेषु सन्दृब्धा एते निबन्धाः सम्भूय पुष्पमालिकावत् शबलत्वं जनयन्तः विदुषां मनोज्ञास्पदतामासादयिष्यन्ति। वस्तुतः श्रद्धास्पदानामग्रज-चरणानां संस्कृताम्बरमणीनाम् अभिनन्दनम् अभिनन्दनविशेषाङ्केन विदधानोऽहम् अमन्दानन्दमनुभवामि, कामये च संस्कृतजगतो गौरवभूतानाम् अग्रजचरणानां सततसंस्कृतसेवापरं सुख-समृद्धियुतं स्वास्थ्यम् अनन्तायुष्यं च येन संस्कृतजगत् निरन्तरमभिवर्धेतेति।

फाल्गुनी पूर्णिमा, — प्रो० वाचस्पति उपाध्यायः
वि०सं० २०५३

# विमर्श-वेदिका

संस्कृत के क्षेत्र में शास्त्रीय अनुसन्धान की दृष्टि से शोध पत्रिका शोधप्रभा का विशिष्ट स्थान है। पिछले दो दशकों से संस्कृत वाङ्मय की विविध शाखाओं पर शोधपत्र प्रकाशित कर विद्वानों की शोध-पिपासा को शान्त करती आ रही है और इस रूप में संस्कृत के प्रचार प्रसार के कार्य को आगे बढ़ाती रही है। देववाणी संस्कृत के प्रचार प्रसार का कार्य तब तक अधूरा ही रहता है जब तक अपने सम्पूर्ण जीवन को इसकी सेवा में समर्पित कर देने वाले तपस्वी साधकों का अभिनन्दन करते हुए उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर यथावसर प्रकाश न डाला जाय। इस दृष्टि से शोधप्रभा समय-समय पर विशिष्ट अंकों का प्रकाशन करती रही है जिनमें म०म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी अंक, म०म० पं० परमेश्वरानन्द शास्त्री अंक, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद विशेषांक, डा० राधाकृष्णन् अंक, श्रीमती इन्दिरा गांधी विशेषांक प्रमुख हैं। अहर्निश गीर्वाणी की सेवा में समर्पित ऐसे ही एक विलक्षण व्यक्तित्व हैं—डा० मण्डन मिश्र जी जिनकी अभूतपूर्व संस्कृत सेवाओं को चिरस्मरणीय बनाने की दृष्टि से यह अभिनन्दन अंक प्रकाशित किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति की सही पहचान के लिये विविध भारतीय दर्शनों और उसमें भी मीमांसा दर्शन का विशिष्ट महत्व है जिसके बिना वैदिक वाङ्मय को समुचित रूप से समझ पाना असम्भवप्राय है। आज इस दर्शन के गिने-चुने आचार्य ही रह गए हैं जिनमें डा० मण्डन मिश्र जी का विशिष्ट स्थान है बीसवी सदी के मीमांसा दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् प्रातः स्मरणीय पं० पट्टाभिराम शास्त्री जी के शिष्यों में मूर्धस्थ डा० मण्डन मिश्र जी ने बाल्यकाल में ही संस्कृत सेवा का दृढ़ संकल्प कर लिया था। राजस्थान की वीरप्रसू भूमि में उत्पन्न मिश्र जी साधना, त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति है। आप में लक्ष्य प्राप्ति पर्यन्त अपनी साधना में अडिग रहने का अदम्य उत्साह है। ऐसे ही कर्मयोगी पुरुषों के लिये कहा गया है—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं विचिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।

प्रज्ञा और विद्वत्ता के धनी ऐसे प्रतिभाशाली-विद्वान् को पाकर वास्तव में संस्कृत जगत् धन्य है। डा० मिश्र ने भारत की राजधानी में संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना द्वारा एक ऐसा ज्ञानदीप प्रज्वलित किया है जो भारत के कोने-कोने को सतत प्रकाशित करता रहेगा। साथ ही इन्होंने विदेशों में भी संस्कृत और भारतीय संस्कृति की कीर्ति पताका को फहराया है।

डा० मिश्र वैदिक और श्रमण संस्कृति के यशस्वी पुरोधा रहे हैं। उन्होंने राजधानी में एक रात्रिपाठशाला के रूप में संस्कृत विद्यापीठ का श्रीगणेश कर २६-२७ वर्षों में ही इसे विश्वविद्यालय के स्तर पर पहुँचा दिया। यह डा० मिश्र की एक ऐसी देन है जिसका इस शताब्दो में संस्कृत क्षेत्र में दूसरा कोई उदाहरण नहीं है। संस्कृत के साथ-साथ जनमानस की भाषा प्राकृत के प्रति भी आपका अनुराग स्पृहणीय है। आपके ही सतत प्रयत्नों से विद्यापीठ में प्राकृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन की योजना का श्रीगणेश हुआ।

इस अभिनन्दनाङ्क के प्रथम खण्ड में अनेक संस्कृतानुरागी मनीषियों ने अपने संस्मरणात्मक लेखों के माध्यम से डा० मिश्र के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है। डा० मिश्र ने सुरभारती के चरणों में अपनी साहित्यिक कृतियों के सुमन ही अर्पित नहीं किये हैं, वरन् गीर्वाणी के प्रचार एवं प्रसार के लिये अहर्निश अपनी सेवाओं को समर्पित करते हुए एक तपस्वी का सा जीवन व्यतीत किया हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक, प्रतिभावान लेखक, कार्यकुशल प्रशासक और इन सबके मूल में संस्कृत और संस्कृति के समुपासक डा० मिश्र का बहुमुखी व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति के अनुरागियों के लिये सदा ही आकर्षण का केन्द्र रहा है। आज आवश्यकता है संस्कृत और भारतीय संस्कृति को ग्रन्थों एवं विद्वज्जनों की गोष्ठियों की परिधि से निकालकर जनसामान्य तक पहुँचाने की। इसके लिये डा० मिश्र का योगदान अविस्मरणीय है। इन्होंने भारत के कर्णधारों के हृदयों में संस्कृत और भारतीय संस्कृति के प्रति आकर्षण एवं अनुराग जगाकर अपने उत्तरदायित्व का अत्यन्त कुशलता से निर्वाह किया है। पूरे भारतवर्ष में संस्कृत के उत्थान, प्रचार एवं प्रसार सम्बन्धी कोई भी योजना हो, सबके मूल में डाक्टर साहब प्रेरणा पुरुष के रूप में विद्यमान रहकर उस योजना के सफल कार्यान्वयन तक सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

द्वितीय खण्ड शोधात्मक है जिसमें संस्कृत वाङ्मय की विविधशाखाओं में शोधरत विद्वानों के शोध लेख प्रकाशित किये गए हैं। संकल्पना तो यही थी कि महान् दार्शनिक डा० मण्डनमिश्र जी के अभिनन्दन की दृष्टि से इसमें केवल दर्शन सम्बन्धी लेख ही प्रकाशित किये जायें लेकिन विद्वानों का आग्रह देखते हुए अन्य शास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध लेख भी ग्रहण कर लिये गए हैं। इस खण्ड का प्रारम्भ इस विद्यापीठ के कुलपति अद्भुत प्रज्ञासम्पन्न विश्वविश्रुत दार्शनिक डा० वाचस्पति उपाध्याय जी के द्वारा लिखित "मीमांसक सम्मतं देवतातत्त्वम्" इस शोधलेख से किया गया है। इसके अतिरिक्त जिन अन्य विद्वानों के शोधपत्र इस दर्शन ज्योति में प्रकाशित हैं वे हैं—डा० एन० आर० श्रीनिवासन्, डा० सोमनाथ नेने, डा० कमलनयन शर्मा, डा० (श्रीमती) कमला द्विवेदी, डा० बलिरामशुक्ल, डा० दामोदर शास्त्री, डा० वसन्तकुमार भट्ट, पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार, डा० बलजिन्नाथ पण्डित, श्री चन्द्रकान्त दवे, डा० चन्द्रशेखर शुक्ल, डा० पीयषकान्त दीक्षित।

विविधशास्त्र-ज्योति वेद-वेदांग सहित विविध विषयों से आलोकित है। वेद विद्या निष्णात प्रो० एस०बी० रघुनाथाचार्य का लेख—'Vedas : Human Welfare and Universal Pace' सार्वजनिक कल्याण और विश्वशान्ति के सन्देश को प्रसारित करता हुआ वेदों के रहस्य को उजागर कर रहा है। साहित्य विद्या के मनीषी डा० रविशंकर नागर आज हमारे बीच नहीं है। उनका लेख 'The Genesis and the Foundation of the Dhvani System' जो उन्होंने अपने महाप्रयाण से कुछ ही दिन पूर्व शोधप्रभा में प्रकाशन के लिये दिया था, हमारे हृदयों में उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखेगा। वेदांगों के बिना वेदों की चर्चा अधूरी है। आचार्य फुल्लेल श्री रामचन्द्र का लेख 'वेदांगानि' इस शास्त्रचर्चा को पूर्णता प्रदान करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त वेद और वेदांग से सम्बद्ध अन्य जिन लेखों ने इस अंक को आलोकित किया है वे हैं ''सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित यज्ञविधान के मूलतत्व", "अग्निहोत्र निष्पादन कालनिर्णये महिलावैदुष्यावदानम्", "ऋग्वेदकालीन आवासीय व्यवस्था", "उपनिषदों में मनस् तत्व", "अग्निहोत्रकर्मण: हेतुत्वनिरूपणम्", "भारतीय ज्योतिषशास्त्र में मौसमविज्ञान", "वेदमूलकं शुल्बसूत्रम्", "ऋग्वेद में दिव्यशक्ति की परिकल्पना", "वैदिक ऋषियों की दृष्टि में शिक्षा के आदर्श", "The Worship of Sarasvati and Athena—A Cultural Context in Communication", "दिक्शोधकयन्त्र एवं सूर्य-घटिका"।

इस अंक के प्रकाशन में कुछ अपरिहार्य कारणों वश पर्याप्त विलम्ब हो जाने के कारण सुधी पाठकों को जो कष्ट हुआ उसके लिये हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

विद्यापीठ के कुलपति परमादरणीय डा० वाचस्पति उपाध्याय जी की सतत प्रेरणा एवं सहयोग से ही इस अभिनन्दनाङ्क का प्रकाशन कार्य पूर्ण हो सका है। इस अंक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन का श्रेय सम्पादक मण्डल के सभी सदस्यों को तथा पंकज मुद्रणालय के व्यवस्थापक श्री राजेन्द्र तिवारी जी को है। सभी ने अत्यन्त मनोयोगपूर्वक इसमें अपना योगदान दिया। संस्कृत-संस्कृति की प्रतिमूर्ति डा० मण्डन मिश्र जी के महनीय व्यक्तित्व को समर्पित इस अंक को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है :

कुतो नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमा:
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्।

अमिता शर्मा
प्रबन्ध-सम्पादिका

# दृढ़संकल्प की प्रतिमूर्ति : डॉ० मण्डन मिश्र

# जीवन-परिचय

**आचार्य रमेश चतुर्वेदी***

भारत के स्वातन्त्र्योत्तरयुग के प्राच्यविद्यासमुन्नायकों में अग्रगण्य डॉ० मण्डन मिश्र का जीवनवृत्त दृढ़सङ्कल्प तथा इष्ट कार्यसाधकता का अद्भुत निदर्शन है। श्री मिश्र का जन्म राजस्थान की राजधानी जयपुर नगरी से पश्चिम में ५० किलोमीटर दूर स्थित "हणूतिया" नामक ग्राम में एक साधारण ब्राह्मण परिवार में ७ जून १९२९ ई० को हुआ। कर्मकाण्डी विद्वान् पं० श्री कन्हैया लाल मिश्र एवं श्रीमती मन्नी देवी के प्रथम पुत्र के रूप में उत्पन्न इस बालक का नामकरण ज्योतिषियों द्वारा 'मदनलाल मिश्र' निर्दिष्ट किया गया तथा मीमांसाशास्त्र की शिक्षा प्रदान करने वाले गुरुवर पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री जी ने इसे "मण्डनमिश्र" विशिष्ट अभिधान प्रदान किया, इस गुरुप्रदत्त नूतन नाम से ही यह बालक लोकविख्यात हुआ। मण्डन मिश्र की बाल्यावस्था शिक्षा-व्यवस्था विरहित ग्रामीण परिवेश में व्यतीत हुई, तथापि विद्याविषयक विशिष्टा-नुरागवान् श्री मिश्र ने अदम्य उत्साह एवं दृढ़सङ्कल्पशक्ति के सहारे विद्यार्जन तथा विद्याप्रसार के क्षेत्र में जो विभिन्न विशिष्ट कीर्तिमान स्थापित किए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि—'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'।

### अध्ययन में असाधारण अध्यवसाय

मण्डन मिश्र के निवास स्थान के समीपवर्ती गांवों में शिक्षा व्यवस्था का अभाव था। अतएव बालक श्री मिश्र को प्राथमिकशिक्षा-प्राप्ति हेतु प्रतिदिन लगभग ७ किलोमीटर दूर की पदयात्रा करनी पड़ती थी। श्री मिश्र ने अमरसर गांव के राममन्दिर में महन्त सुखरामदास जी द्वारा प्रवर्तित संस्कृत पाठशाला में सन् १९३५ से १९४१ ई० तक अध्ययन किया। इस अवधि में पं० रामेश्वर प्रसाद शर्मा तथा पं० घासीराम शर्मा से संस्कृत व्याकरण की शिक्षा ग्रहण कर

---

* इस परिचयात्मक विशिष्ट लेख के लेखक प्रो० रमेश चतुर्वेदी श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ में आचार्य पद को अलङ्कृत करते हुए पुराणेतिहास विभाग के अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित हैं। विद्यापीठ की स्थापना के प्रारम्भिक क्षणों से ही डा० मण्डन मिश्र जी के अत्यन्त निकट सहयोगी रहे हैं। —प्रबन्ध सम्पादिका

प्रथमा एवं मध्यमा प्रथमवर्ष की परीक्षाएं उच्च अंकों की प्राप्ति के साथ उत्तीर्ण कीं। इसके अनन्तर तीन वर्ष तक सेठों के रामगढ़ में प्रवर्तित गोपीराम बनारसी-दास संस्कृत विद्यालय में पं० कन्हैयालाल शर्मा तथा पं० रामनारायण शास्त्री से व्याकरण-शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन कर उपाध्याय परीक्षा उत्तीर्ण की। गंभीर पाण्डित्य के इच्छुक श्री मिश्र ने सन् १९४४ ई० में बगड़ ग्राम स्थित रूंगटासंस्कृत-महाविद्यालय के प्राचार्य वैयाकरणकेसरी पं० मुरारिलाल मिश्र का शिष्यत्व प्राप्त किया तथा उनकी प्रेरणा के अनुसार विभिन्न शास्त्रों के विशिष्ट विद्वानों के सम्पर्क की कामना से जयपुर नगर में निवास का निश्चय किया। गुरुकृपा से आर्थिक समस्याओं का समाधान प्राप्त करते हुए श्री मिश्र ने जयपुर नगर स्थित सनातन धर्म संस्कृत विद्यापीठ लाल हाथिया का मन्दिर में पं० रामेश्वर प्रसाद दाधीच से व्याकरण शास्त्र के उच्च ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा सम्पूर्ण नव्यव्याकरण मध्यमा प्रथम तथा व्याकरणशास्त्री द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की।

**श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी से शिष्यवात्सल्य-प्राप्ति**

सन् १९४५ ई० में मण्डन मिश्र को विद्या की साधना एवं जयपुर निवास की महनीय उपलब्धि के रूप में पं० पट्टाभिराम शास्त्री जी के वात्सल्य की सम्प्राप्ति हुई। पं० पट्टाभिरामशास्त्री जी ने कुछ समय पूर्व ही वाराणसी से आकर जयपुर में महाराजा संस्कृत कालेज का प्राचार्यत्व ग्रहण किया था। ग्रामीण परिवेश में पढ़ने वाले बालक मण्डन मिश्र के शुद्ध संस्कृत सम्भाषण पाटव को देखकर श्री पट्टाभिराम शास्त्री बहुत प्रभावित हुए तथा इस मीमांसाशास्त्र की शिक्षा प्रदान करने हेतु सुयोग्य पात्र माना। उन्होंने बालक श्री मिश्र की आर्थिक साधनहीनता को पढ़ाई में बाधक मानते हुए इसे अपने प्राचार्य-निवास में आश्रय प्रदान कर शिष्य वात्सल्य प्रकाशित किया। कुछ ही दिनों में मदनलाल मिश्र नामक इस बालक द्वारा मीमांसाशास्त्र के अध्ययन में सम्प्राप्त प्रौढ़ि को देखकर गुरु ने इसे "मण्डनमिश्र" नूतन अभिधान से विभूषित किया। श्री मिश्र ने तीन वर्ष तक व्याकरणशास्त्र के साथ-साथ मीमांसाशास्त्र का अध्ययन किया तथा मीमांसाशास्त्र की स्नातकोपाधि १९४८ ई० में प्राप्त की तदनन्तर मीमांसाचार्य परीक्षा १९५१ में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। मण्डन मिश्र ने सन् १९४४ से १९४७ ई० तक व्याकरण एवं मीमांसाशास्त्र जैसे गम्भीर विषयों के अध्ययन के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा भी ग्रहण की। श्री मिश्र ने साहित्य सदावर्त नामक शिक्षण संस्था की रात्रिकालीन कक्षा में प्रवेश प्राप्त कर "गुरुजी" नाम से विख्यात तैलङ्गविद्वान् श्री कमलाकर "कमल" से हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए "प्रभाकर" तथा "साहित्यरत्न" परीक्षाएं विशिष्टयोग्यताङ्क की प्राप्ति सहित उत्तीर्ण की। इस संस्था में उनने साथ-साथ हिन्दी साहित्य अध्यापन भी किया। इसके अतिरिक्त आपने पंजाब

विश्वविद्यालय से सर्वोच्च अंक प्राप्त कर साहित्य विषय के साथ शास्त्री परीक्षा भी उत्तीर्ण की।

## परिवार का अभ्युदय

मण्डन मिश्र ने विविध शास्त्रों में प्रावीण्य प्राप्त करने के साथ-साथ अनुजों को सुशिक्षा हेतु सतत प्रयास किए जिनके फलस्वरूप श्री गोवर्धन मिश्र एवं श्री राधश्याम मिश्र नामक दो अनुज भिषगाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर चिकित्सा क्षेत्र में ख्याति अर्जित कर रहे हैं, तृतीय अनुज डा० गजानन मिश्र हिन्दी साहित्य की विशेषज्ञता प्राप्त कर वर्तमान में राजस्थान सरकार के भाषा विभाग के निदेशक हैं। चतुर्थ अनुज श्री रमशर्मामिश्र भी राज्य सेवा में नियुक्त हैं। डा० मण्डन मिश्र ने सदैव ही परिवार एवं राष्ट्र की उन्नति में स्त्री शिक्षा को विशेष सहायक माना। अतएव अनुजों के समान तीनों बहिनों शान्ति, कमला एवं विमला की भी शिक्षा-व्यवस्था हेतु समुचित प्रबन्ध किए।

सत्रह वर्ष की आयु में मण्डन मिश्र का विवाह बगड़ी नांगल (रींगस) निवासी पं० सुवालाल जोशी की कन्या के साथ सम्पन्न हुआ। इस नवविवाहिता 'मुरली देवी नामक' मण्डन मिश्र-पत्नी ने गुरुवर पट्टाभिराम शास्त्री जी द्वारा "भारती मिश्र" नूतन अभिधान प्राप्त होने के अनन्तर परिवारजन को प्रगति में मण्डन मिश्र को पर्याप्त सहयोग प्रदान किया। धर्मपत्नी भारती मिश्र के सहयोग से मण्डन मिश्र ने अपने तीनों पुत्रों भास्कर, रवि एवं अरुण तथा पुत्री सुशीला को स्नातकोपाधि-विभूषित एवं तकनीकी शिक्षा-सम्पन्न बनाने में सफलता अर्जित की। डा० मण्डन मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र भास्कर मिश्र ने पिता से प्रेरणा प्राप्त कर संस्कृत के शास्त्रों का विशिष्ट अनुशीलन करते हुए विभिन्न शोधपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा पी-एच० डी०, डी-लिट् उपाधियां प्राप्त की है।

## राजस्थान में शिक्षा का उन्नयन

प्रतिभाधनी डा० मण्डन मिश्र को १८ वर्ष की आयु में महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर में शिक्षक रूप में नियुक्त किया गया तथा वे अपने गुण-प्रकर्ष के कारण शीघ्र ही व्याख्याता एवं आचार्य पद पर नियुक्त हुए। नगर स्थित इस महाविद्यालय में अध्यापन करते हुए मण्डन मिश्र ने अपने प्रान्त के गांवों में संस्कृत विद्यालयों की स्थापना हेतु सतत प्रयास किए—उनके परिणाम स्वरूप बैराठ क्षेत्र के प्रत्येक गांव में संस्कृत-शिक्षालयों की स्थापना हुई। इन शिक्षण संस्थाओं में श्री मोती लाल जोशी के कर्णधारत्व में विकसित मनोहरपुर स्थित धूलेश्वर राजकीय आचार्य संस्कृत महाविद्यालय प्रमुख है, जहाँ वर्तमान में सहस्राधिक ग्रामीण छात्र विभिन्न संस्कृतशास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं। राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन के माध्यम से डा० मथुरालाल शर्मा, पं० लक्ष्मीलाल जोशी

पं० श्री देवी शंकर तिवारी, श्री के० माधव कृष्ण शर्मा प्रभृति संस्कृत शिक्षा प्रेमियों से प्रोत्साहन एवं मार्ग-निर्देशन प्राप्त कर मण्डन मिश्र ने राज्य सरकार द्वारा स्वतन्त्र रूप से संस्कृत शिक्षा निदेशालय की स्थापना हेतु सतत सफल प्रयास किए। सन् १९५६ ई० में राजस्थान सरकार ने प्रान्त में संस्कृत शिक्षा की समुचित व्यवस्था हेतु निदेशालय की स्थापना की—इस महनीय कार्य में श्री मिश्र के सतत प्रयासों एवं जन-जागरण-अभियानों का विशेष योगदान है।

**राजस्थान विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्यासंकाय की स्थापना**

राज्य में स्वतन्त्र रूप से संस्कृत शिक्षा निदेशालय के प्रवर्तन से संस्कृत शिक्षा का अपेक्षित विकास हो सका किन्तु शोध के क्षत्र में पारम्परिक शिक्षा संस्थाओं में अध्ययन करने वाले छात्रों को समुचित अवसर नहीं प्राप्त होते थे तथा राज्य सरकार द्वारा प्रदत्त प्रमाण पत्रों को विश्वविद्यालयोय उपाधियों से न्यून माना जाता था। अत एव मण्डन मिश्र ने राजस्थान विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्यासंकाय के प्रवर्तन हेतु विश्वविद्यालय तथा राज्य प्रशासन के अधिकारियों को सहमत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। विश्वविद्यालय-प्रशासन द्वारा इस कार्य में शिथिलता बरती गई तथा मण्डनमिश्र द्वारा प्राच्यविद्यासंकाय के अन्तर्गत विद्यावारिधि उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पी-एच० डी० की उपाधि हेतु स्वीकृत कर विश्वविद्यालय मे प्राच्यविद्या-सकाय के प्रवर्तन को स्थगित कर दिया गया। स्वयं पो-एच० डा० शाध उपाध प्राप्त कर मण्डन मिश्र इस महनीय कार्य से विरत न हुए अपितु राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन के मंच से व्यापक जन-आन्दोलन के द्वारा विश्वविद्यालय-प्रशासन का प्राच्यविद्यासंकाय की स्थापना हेतु बाध्य कर दिया। श्री मिश्र के महनोय प्रयासों से राजस्थान विश्वविद्यालय म सन् १९६२ ई० में प्राच्यविद्यासंकाय की स्थापना संभव हुई।

**राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में योगदान**

**(क) हिन्दी के प्रचार एवं समाज सेवा में अग्रणी**

श्री मण्डन मिश्र ने राजस्थान में संस्कृत विद्यालयों की स्थापना के साथ-साथ जन साधारण में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रसार का महनोय कार्य किया। सन् १९४७ ई० में राष्ट्र विभाजन के अनन्तर सिन्ध प्रान्त से विस्थापित होकर हजारों हिन्दू जयपुर नगर में आकर बसे थे। पुरुषार्थी संज्ञक इस सिन्धी समुदाय ने राजस्थान सरकार तथा स्थानीय जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करते समय हिन्दी भाषा के ज्ञान की अपेक्षा अनुभव की। श्री मिश्र ने सिन्धी समाज की इस अपेक्षा की पूर्ति हेतु भारतीय साहित्य विद्यालय नामक शिक्षण संस्था का प्रवर्तन किया तथा इस संस्था के माध्यम से नगर के चार स्थानों पर रात्रिकालीन निःशुल्क हिन्दी शिक्षण केन्द्रों का मनोयोगपूर्वक सञ्चालन किया। इन केन्द्रों में प्रतिवर्ष सहस्राधिक छात्रों

को निःशुल्क रूप से राष्ट्रभाषा के व्याकरण तथा साहित्य की शिक्षा प्रदान करने का महनीय कार्य श्री मिश्र ने लगभग दस वर्ष तक अदम्य उत्साह के साथ सम्पन्न किया। सिन्धी-समाज के साथ-साथ स्थानीय जनता भी निःशुल्क हिन्दी शिक्षा केन्द्रों के प्रवर्तन से पर्याप्त लाभान्वित हुई। श्री मण्डन मिश्र के इस महनीय कार्य को मुख्यमंत्री श्री जय नारायण व्यास, श्री मोहनलाल सुखाड़िया एवं शिक्षा मंत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने विशेष रूप से सराहा। राष्ट्रभाषा प्रचार में सतत संलग्न श्री मिश्र एक शिक्षक के साथ-साथ एक लोकप्रिय जनसेवक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। यह डा० मिश्र की समाज सेवा का श्रीगणेश था।

### (ख) भारत सेवक समाज का संयोजकत्व

श्री मण्डन मिश्र द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रभाषा शिक्षण केन्द्रों की सफलता से प्रभावित होकर राजस्थान के मूर्धन्य जननायक श्री माणिक्य लाल वर्मा ने सन् १९५५ ई० में श्री मिश्र को भारत सेवक समाज नामक राष्ट्रीय स्तर के स्वयं सेवी संगठन की राजस्थान शाखा का सह संयोजक नियुक्त किया। इस कार्य के सम्पादनार्थ श्री मिश्र की सेवाएं राज्य शिक्षा विभाग से प्रतिनियुक्ति विधि के अनुसार प्राप्त की गईं। श्री गुलजारी लाल नन्दा की प्रेरणा से श्री मिश्र के मन्त्रित्व में भीलवाड़ा में (१९५९) अखिल भारतीय भारत सेवक समाज तथा नाथद्वारा में भारत साधु समाज के अखिल भारतीय अधिवेशनों के आयोजन (१९५६) सफलतापूर्वक सम्पन्न हुए। इन अधिवेशनों का उद्घाटन प्रथम प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने किया था। इन आयोजनों की सफलता तथा सुव्यवस्था ने श्री मिश्र की कर्मठता एवं कार्यदक्षता को विशेष रूप से प्रकाशित किया। 'राजस्थान भारत सेवक समाज' के सचिव, संयुक्त-संयोजक के रूप में आपने प्रदेश के युवकों में नई जागृति पैदा की और उसी के माध्यम से भारत सेवक समाज के अध्यक्ष, पण्डित जवाहर लाल नेहरू जैसे देश और प्रदेश के वरिष्ठतम नेताओं से सम्पर्क और परिचय प्राप्त किया। डॉ० मिश्र के रूप में एक ऐसा व्यक्तित्व उभर कर सामने आया जो संस्कृत में विद्वत्ता के साथ-साथ समाज सेवा और महनीय नेताओं से संपर्क के कारण लेखन, भाषण, संगठन तथा प्रशासन कौशल के साथ-साथ सामाजिक क्षेत्र में भी एक अत्यन्त सुदृढ़ आधार स्तम्भ लेकर विकसित हुआ।

### (ग) संस्कृत-अनुरागियों के लिये आवास-व्यवस्था

डॉ० मण्डन मिश्र ने राजधानी दिल्ली में संस्कृत-विद्वानों तथा संस्कृत-प्रेमियों के आवास के लिये "संस्कृत-नगर-सहकारी-समूह-आवास-समिति" की स्थापना में अपना उल्लेखनीय एवं प्रेरणा-प्रद योगदान देकर दिल्ली के रोहिणी नामक उपनगर क्षेत्र में दिल्ली-विकास प्राधिकरण द्वारा आवण्टित भू-खण्ड पर

'संस्कृत-नगर' नाम से १२६ आवासों का निर्माण करवाया जो अपने आप में एक अनुपम उदाहरण है।

(घ) संस्कृत विद्वानों के राष्ट्रीय संगठन का नेतृत्व

श्री मण्डन मिश्र ने भारत साधु समाज के विभिन्न अधिवेशनों के साथ-साथ अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन नामक सुख्यात संस्कृत सेवी संगठन के विशिष्ट अधिवेशन का भी आयोजन नाथद्वारा में सम्पन्न किया। इन अधिवेशनों में सुदूर प्रान्तों से समागत संस्कृत विद्वानों ने श्री मण्डन मिश्र के नेतृत्व की भूरिशः प्रशंसा की। इस अवसर पर श्री मिश्र के संगठन-कौशल तथा सुनियोजित प्रबन्ध नैपुण्य की सराहना करते हुए महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन की सतत सक्रियता हेतु श्री मिश्र की सेवाओं की आवश्यकता प्रकाशित की। महामहोपाध्याय जी के परामर्श के अनुसार श्री मिश्र को एक वर्ष के लिए संस्कृत सम्मेलन का मन्त्री चुना गया तथा एक वर्ष के अनन्तर 'महामन्त्री के पद पर श्री मिश्र जी का चयन सर्वसम्मति से हुआ। श्री मिश्र ने सन् १९१३ ई० में महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी द्वारा स्थापित किए गए संस्कृत विद्वानों के इस राष्ट्रिय संगठन में नव जागृति का संचार किया। सभी प्रान्तों में संस्कृत विद्वानों की विभिन्न प्रान्तीय समितियों का गठन कर श्री मिश्र ने तत् तत् प्रान्त की संस्कृत शिक्षा विषयिणी समस्याओं, अपेक्षाओं तथा सम्भावनाओं का परिचय प्राप्त किया। श्री मिश्र के परामर्शानुसार जन साधारण को संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से संस्कृत प्रसार परीक्षाओं का सञ्चालन सम्मेलन द्वारा किया गया। श्री मिश्र के महामंत्रित्व में सन् १९६१ ई० में कलकत्ता नगरी में अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन का ऐतिहासिक अधिवेशन समायोजित किया गया। इस अधिवेशन का उद्घाटन महामहिम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने किया।

डा० मण्डन मिश्र की कार्यदक्षता, व्यवहारकुशलता एवं सतत परिश्रमशीलता को इस अधिवेशन की सफलता का प्रमुख आधार मानते हुए श्रद्धेय डा० राजेन्द्र बाबू के परामर्श के अनुसार अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष, केन्द्रीय गृह राज्यमंत्री श्री बलवन्त नागेश दातार एवं कार्यवाहक अध्यक्ष श्री नरहरि विष्णु गाडगिल प्रभृति महापुरुषों ने सम्मेलन की विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए श्री मिश्र की पूर्णकालिक सेवाओं की अपेक्षा प्रकाशित की। उस समय राजस्थान राज्य के शिक्षा विभाग में सेवारत होने के कारण डा० मिश्र साप्ताहिक अवकाश के दिन ही सम्मेलन के दिल्ली स्थित प्रधान कार्यालय के प्रबन्धन हेतु जयपुर से दिल्ली आते थे। सन् १९६२ ई० के अक्टूबर

मास तक डा० मिश्र समय-समय पर राज्य सरकार से अवैतनिक अवकाश प्राप्त कर सम्मेलन के कार्य सम्पादनार्थ यात्रा करते रहे। उनकी इच्छा के अनुसार डा० मिश्र की सेवायें राजस्थान सरकार ने प्रति नियुक्ति पर प्रदान कीं और डा० मिश्र दिल्ली आ गये।

**(ङ) पंजाब समस्या के समाधान हेतु प्रयास**

विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं जैसे पंजाब-समस्या के समाधानार्थ लोक-नायक श्रीमती इन्दिरा गांधी के संकेत पर डॉ० मिश्र ने एक राष्ट्रिय बुद्धिजीवी सम्मेलन का आयोजन किया—जिसका उद्घाटन श्रीमती गांधी ने किया और वे उस सम्मेलन में लगभग तीन घण्टे उपस्थित रहीं तथा विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं पर विद्वानों से विचार-विमर्श किया।

**दिल्ली में संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना**

डा० मण्डन की दृढ़ सङ्कल्प शक्ति के प्रभाव तथा संस्कृत विद्या प्रसार विषयक अदम्य उत्साह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीक दिल्ली स्थित श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ है। इस विद्यापीठ के संस्थापन, सुसञ्चालन तथा विकास का प्रत्येक क्रम डा० मण्डन मिश्र की दृढ़ सङ्कल्प शक्ति की महनीयता का द्योतक है। स्वतन्त्र भारत की राजधानी दिल्ली में संस्कृतविद्या के आदर्श शिक्षण-प्रशिक्षण-शोध-केन्द्र की स्थापना की आवश्यकता महामहिम राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू प्रभृति राष्ट्रनायकों द्वारा बार-बार प्रतिपादित की गई एवं अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन द्वारा इस प्रकार के विद्या केन्द्रों की स्थापना हेतु अनेक बार प्रस्ताव स्वीकार किए गए थे, किन्तु केन्द्रीय सरकार एवं दिल्ली सरकार द्वारा संस्कृत शिक्षा के लिए पर्याप्त धनराशि का बजट में प्रावधान न किए जाने तथा इस कार्य हेतु जन सहयोग से पुष्कल राशि तथा भवन, भूमि आदि साधन न उपलब्ध होने के कारण अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन की विद्यापीठ प्रवर्तना-विषयिणी योजना का क्रियान्वयन १९६२ ई० के पूर्वार्द्ध तक न हो सका था।

दृढ़ संकल्प के धनी डा० मण्डन मिश्र ने संस्कृत विद्यापीठ के प्रवर्तन की महनीय योजना को धनाभाव के कारण स्थगित न कर संस्कृत सम्मेलन के अन्य योजनामदों से इस योजना के प्रवर्तनार्थ ऋण प्रदान करने का प्रस्ताव सम्मेलन-कार्य समिति के समक्ष प्रस्तुत किया। डा० मौलिचन्द्र शर्मा एवं श्री गिरिधर लाल गोस्वामी आदि के समर्थन के अनुसार सम्मेलन महामन्त्री डा० मण्डन मिश्र ने विद्यापीठ के प्रवर्तनार्थ सम्मेलन के कोष से छ हजार रुपये का ऋण स्वीकृत करवा कर सन् १९६२ ई० में विजयदशमी पर्व पर तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षामन्त्री कालूलाल श्रीमाली से अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ का शुभारंभ कराया। इस विद्यापीठ योजना के प्रवर्तन हेतु सम्मेलन के पास स्वकीय भवन नहीं था तथा

किराये पर भवन लेने का आर्थिक सामर्थ्य न था। डा० मण्डन मिश्र की कार्यक्षमता पर विश्वास करते हुए साहू शान्ति प्रसाद जैन ने दरियागंज स्थित समन्त भद्र विद्यालय के भवन में संस्कृत विद्यापीठ की रात्रिकालीन कक्षाओं के सञ्चालनार्थ स्थान प्रदान किया। उस समय दिल्ली में प्रवर्तित प्रत्येक संस्कृत-शिक्षण संस्था को सरकारी अनुदान के रूप में केवल एक हजार रुपये वार्षिक सहायता प्राप्त होती थी। डा० मण्डन मिश्र के प्रयत्न से सामान्य शिक्षा के संस्थानों के समान संस्कृत शिक्षा संस्थानों को भी पिचानबे प्रतिशत अनुदान देने का नियम स्वीकृत करते हुए दिल्ली प्रशासन द्वारा एतदर्थ बजट राशि की वृद्धि की गई। सन् १९६२-६३ ई० के वित्तीय वर्ष में दिल्ली प्रशासन से दस हजार रुपये का अनुदान विद्यापीठ के लिए प्राप्त होने पर सम्मेलन कोष से प्राप्त ऋण का भुगतान कर दिया गया। डा० मण्डन मिश्र की इस कार्य सफलता को देखते हुए विद्यापीठ के सुसञ्चालनार्थ अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ नाम से एक स्वतंत्र शिक्षण संस्था का पञ्जीयन करवाया गया। इस नवीन शिक्षण संस्था के निदेशक पद पर डा० मण्डन मिश्र की नियुक्ति करते हुए विद्यापीठ के शासी निकाय ने डा० मिश्र की सेवाएं राजस्थान सरकार से ऋण रूप में प्राप्त की। इस नव पंजीकृत संस्था की प्रथम अध्यक्षता श्रद्धेय श्री लाल बहादुर शास्त्री ने स्वीकार की।

श्री शास्त्री जी के अनुरोध पर डॉ० मिश्र ने राजस्थान की १७ वर्षों की सेवा और राजस्थान में सामाजिक तथा सार्वजनिक जीवन में प्रतिष्ठा के आधार पर प्रत्यक्ष दृश्यमान सत्ता की निकटता के मोह को छोड़ कर संस्कृत के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया।

**शास्त्री जी के नेतृत्व की प्राप्ति**

सन् १९६३ ई० में संस्कृत साहित्य सम्मेलन एवं संस्कृत विद्यापीठ के अध्यक्ष श्री बलवन्त नागेश दातार के आकस्मिक निधन से सम्मेलन एवं विद्यापीठ परिवार को भीषण आघात पहुँचा। डा० मण्डन मिश्र की कार्यक्षमता पर विश्वास करते हुए तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री डा० कालू लाल श्रीमाली ने भारत सरकार के निर्विभागीय मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री जी से सम्मेलन एवं विद्यापीठ का अध्यक्ष पद स्वीकार करने का अनुरोध किया, जिसे श्री शास्त्री जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। श्री शास्त्री जी का नेतृत्व प्राप्त कर डा० मण्डन मिश्र ने सम्पूर्ण राष्ट्र में संस्कृतविद्यासमुन्नति हेतु विविध गोष्ठियों, विद्वत्समागमों के सफल आयोजनों के माध्यम से नव चेतना का सञ्चार किया। सन् १९६४ ई० के मई मास में पं० जवाहर लाल नेहरू के उत्तराधिकारी रूप में भारत के प्रधानमन्त्री पद पर प्रतिष्ठित होने के अनन्तर भी श्री लाल बहादुर शास्त्री जी सम्मेलन एवं संस्कृत विद्यापीठ को सक्रिय नेतृत्व तथा डा० मिश्र को मार्ग निर्देशन प्रदान करते रहे।

डा० मण्डन मिश्र के सतत प्रयास के फलस्वरूप अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ के भवन के निर्माणार्थ तिमार पुर के पास दिल्ली प्रशासन द्वारा सवा एकड़ भूमि यमुना तट के समीप प्रदान की गई। इस भूमि पर २५ सितम्बर १९६६ ई० के दिन प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री जी की अध्यक्षता में नेपाल नरेश महेन्द्र विक्रम शाह द्वारा संस्कृत विद्यापीठ-भवन का शिलान्यास सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर शास्त्री जी ने विद्यापीठ को अन्तर्राष्ट्रिय संस्कृत विद्या केन्द्र के रूप में विकसित करने की घोषणा की तथा विद्यापीठ हेतु विशाल भूखण्ड के निर्धारण की आवश्यकता प्रतिपादित की। श्री मिश्र के प्रयास से साढ़े दस एकड़ भूमि जवाहर लाल नेहरू विश्व विद्यालय के समीप प्रदान की गई। इस भूखण्ड पर डा० मिश्र के सतत समुद्योग से छात्रावासादि सहित विभिन्न भवन निर्मित हुए।

### श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में प्रगति

सन् १९६६ ई० के जनवरी मास में श्रद्धेय शास्त्री जी के आकस्मिक निधन हो जाने के कारण डा० मण्डन मिश्र की संस्कृत विद्यापीठ—विकासार्थ योजनाओं को बहुत बड़ा आघात लगा किन्तु अदम्य उत्साह के धनी डा० मिश्र ने तत्कालीन राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द जी की प्रेरणा से श्रीमती इन्दिरा गाँधी का नेतृत्व प्राप्त कर संस्कृत सम्मेलन एवं संस्कृत विद्यापीठ के विकास के लिए सतत प्रयास जारी रखे। श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी द्वारा श्रद्धेय शास्त्री जी की कामना के अनुसार विद्यापीठ को अन्तर्राष्ट्रीय विद्याकेन्द्र बनाने की उद्घोषणा २ अक्टूबर १९६६ ई० को अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के स्वर्ण जयन्ती समारोह में की। इस अवसर पर श्रीमती गाँधी ने इस विद्यापीठ को श्रद्धेय शास्त्री जी का स्मारक घोषित करते हुए "श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ" नाम से एक स्वायत्त संस्था गठित करने की भी घोषणा की। श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी के निर्देशानुसार केन्द्रीय शिक्षामन्त्री डा० कर्ण सिंह की अध्यक्षता में गठित समिति द्वारा श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ ने अप्रैल सन् १९६७ ई० से स्वायत्तशासी संस्था के रूप में कार्य प्रारम्भ किया। इस स्वायत्तशासी संस्था के निदेशक एवं सचिव का पद भार डा० मण्डन मिश्र को सौंपा गया।

### राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की स्थापना में योगदान

सन् १९७० ई० में भारत सरकार द्वारा सभी प्रान्तों में संस्कृत विद्यापीठों की स्थापना एवं सञ्चालन के उद्देश्य से राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान नामक संस्था पंजीकृत कराई। इस नूतन संस्था के गठन में डा० मण्डन मिश्र ने पर्याप्त सहयोग किया तथा अपने निदेशकत्व में सञ्चालित राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान में विलीनीकरण का समर्थन किया। श्री लाल बहादुर

शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ का राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान में विलीनीकरण होने के कारण डा० मण्डन मिश्र की सेवाएं अन्य केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों में स्थानान्तरण योग्य मान ली गईं, अत एव सन् १९७३ ई० में डा० मिश्र को तिरुपतिस्थ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्य-पद का कार्यभार सौंपा गया। किन्तु दिल्ली स्थित लाल वहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ की समुचित प्रगति में श्री मिश्र की सेवाओं को अनिवार्य मानते हुए भारत सरकार एवं राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान ने सन् १९७४ ई० में श्री मिश्र को पुनः दिल्ली में प्रतिष्ठापित किया। इसी प्रकार सन् १९७७ ई० में श्री मिश्र को रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्य पद पर स्थानान्तरित किया गया, किन्तु एक वर्ष के अनन्तर दिल्लीस्थ लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के विकास का उत्तर दायित्व डा० मिश्र को पुनः प्रदान किया गया।

राष्ट्रिय संस्कत संस्थान के अन्तर्गत सञ्चालित केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों के प्राचार्यों में वरिष्ठतम होने के कारण सन् १९८२ ई० में डा० मण्डन मिश्र को दिल्लीस्थ लाल बहादुर शास्त्री के प्राचार्यत्व के साथ-साथ संस्थान के निदेशक पद का कार्यभार सौंपा गया। लगभग आठ वर्ष तक डा० मण्डन मिश्र ने विद्यापीठ के प्राचार्यपद एवं संस्थान के निदेशक पद के उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वहन किया। श्री मिश्र के निदेशकत्व में दिल्ली एवं तिरुपति स्थित केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों को मानित विश्वविद्यालय का स्तर प्रदान करने की महत्त्वपूर्ण विधि सम्पन्न हुई। डा० मण्डन मिश्र ने राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के निदेशक के रूप में विभिन्न प्रान्तीय सरकारों से सम्पर्क स्थापित कर प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना के लिए सक्रिय प्रयास किए।

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के निदेशक के रूप में डॉ० मण्डन मिश्र द्वारा किए गए सतत प्रयासों के परिणाम स्वरूप सन् १९८३ ई० में राजस्थान को राजधानी जयपुर नगरी में, सन् १९८५ ई० में उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में एवं सन् १९९२ ई० में कर्णाटक राज्य की तीर्थस्थली, आद्यशङ्कराचार्य की तपःस्थली "शृङ्गेरी" में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों की स्थापना हुई है। इसी प्रकार मध्य प्रदेश आदि विभिन्न प्रान्तों की सरकारों ने केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों की स्थापना हेतु भूमि प्रदान की है, जहाँ शीघ्र ही विद्यापीठों की प्रवर्तना की जा सकेगी। डा० मिश्र ने राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के लिए अत्यन्त कठिन प्रयासों से जनकपुरी में भूमि प्राप्त की, जहाँ वर्तमान भवन निर्मित हुआ है। डा० मिश्र अब तक के संस्थान के निदेशकों में सबसे अधिक समय तक संस्थान के निदेशक रहे।

**संस्कृत विद्यापीठ का प्रथम कुलपतित्व**

सन् १९८९ ई० में भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा दिल्ली स्थित लाल बहादर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ को मानित विश्वविद्यालय का

स्तर प्रदान किया गया एवं इस विद्यापीठ की १९६२ ई० में स्थापना करने वाले मनीषी डा० मण्डन मिश्र को इस मानित विश्वविद्यालय का प्रथम कुलपति नियुक्त किया गया। डा० मिश्र के कुलपतित्व में विद्यापीठ के मानित विश्व-विद्यालय स्वरूप का उद्घाटन महामहिम राष्ट्रपति आर० वेंकटरामन् ने २३ फरवरी १९९१ को किया। डा० मण्डन मिश्र के कुलपतित्व में ३ दिसम्बर सन् १९९३ ई० को विद्यापीठ द्वारा राष्ट्रपति भवन में महामहिम राष्ट्रपति को "वाचस्पति" संज्ञक मानद उपाधि प्रदानार्थ विशेष दीक्षान्त समारोह सम्पन्न हुआ तथा १५ फरवरी सन् १९९४ को विद्यापीठ में पधार कर डा० शङ्करदयाल शर्मा जी ने प्रथम दीक्षान्त भाषण प्रदान करने का अनुग्रह किया। इस अवसर पर डा० मण्डन मिश्र के सतत परिणाम स्वरूप लाल बहादुर शास्त्री जी की आदमकद प्रतिमा स्थापित की गई जिसका अनावरण महामहिम राष्ट्रपति जी के कर-कमलों से सम्पन्न हुआ। एक व्यक्ति के द्वारा रात्रि-पाठशाला से प्रारम्भ कर २६-२७ वर्षों में संस्कृत की एक संस्था को विश्वविद्यालय के स्तर तक पहुंचाना डॉ० मिश्र की एक ऐसी देन है जिसका इस शताब्दी में संस्कृत क्षेत्र में दूसरा कोई उदाहरण नहीं है।

**वेदविद्या प्रतिष्ठान का सचिवत्व**

भारत सरकार द्वारा मण्डन मिश्र को सन् १९९० ई० में विद्यापीठ के कुलपति पद के कार्यभार के साथ-साथ उज्जैन स्थित महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेदविद्याप्रतिष्ठान नामक स्वायत्तशासी संस्था के सदस्य सचिव के पद का कार्यभार सौंपा गया। वेदविद्या प्रतिष्ठान की स्थापना में पूज्य कांची परमाचार्य श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती की प्रेरणा एवं डा० मिश्र के प्रयत्न से आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित है। डा० मिश्र वेदविद्याप्रतिष्ठान के स्थापनाकाल से ही इसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के सञ्चालन में इसके प्रथम सदस्य सचिव श्री किरीट जोशी के अनन्य सहयोगी रहे, अत एव इस संस्था के विकास में डा० मिश्र के अनुभव का विशेष लाभ प्राप्त हुआ। डा० मण्डन मिश्र ने विद्यापीठ के कुलपतित्व के साथ-साथ महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेदविद्या प्रतिष्ठान के सदस्य सचिव के कार्यभार का समुचित विधि से निर्वहन किया। डा० मिश्र के नेतृत्व में संस्कृत शिक्षा के साथ वेदविद्या के समुन्नयन के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण आयोजन सम्पन्न हुए। डा० मिश्र के प्रयास से वेदविद्या प्रतिष्ठान के भवन का निर्माण करने हेतु मध्यप्रदेश शासन द्वारा विशाल लगभग २३ एकड़ भूखण्ड का आवण्टन किया गया तथा भवन का शिलान्यास भी मानव संसाधन विकास मन्त्री श्री अर्जुन सिंह ने किया।

**विविध शैक्षिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं का नेतृत्व**

देश में संस्कृत जगत् के लिए उनका नाम एक विशेष महत्व रखता है।

प्रत्येक प्रदेश की संस्कृत-संस्था के विकास में, विभिन्न विश्वविद्यालयों, अकादमियों और विद्यापीठों के शुभारम्भ और राष्ट्र में संस्कृत और संस्कृति के वातावरण के निर्माण में उनका नेतृत्व प्रशंसनीय है ; वे इस नवीन जागृति के कर्णधार हैं। उन्होंने संस्कृत को सामान्य जन-जन से राष्ट्रपति भवन तक पहुँचाया और प्रधानमन्त्रियों के साथ संस्कृत की संस्थाओं का साक्षात् सम्बन्ध स्थापित किया। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से लेकर वर्तमान राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा का आशीर्वाद पूर्ण सहयोग उन्होंने प्राप्त किया और श्री लाल बहादुर शास्त्री, श्रीमती इन्दिरा गान्धी, श्री राजीव गान्धी, श्री पी०वी० नरसिंहराव जैसे नेताओं के मार्ग-दर्शन में उन्होंने संस्कृत के विकास की गति को आगे बढ़ाया।

डा० मण्डन मिश्र ने सन् १९६२ ई० में दिल्लीस्थ संस्कृत विद्यापीठ के निदेशक पद पर नियुक्ति के अनन्तर इस संस्था के माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र में संस्कृत शिक्षा के अभ्युत्थानार्थ सतत महनीय प्रयास किए। राष्ट्र के विभिन्न भागों में स्थापित संस्कृत संस्थाओं की विभिन्न योजनाओं के प्रणयन एवं क्रियान्वयन में डा० मिश्र का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

**संस्कृत बाल मन्दिर का श्रीगणेश**

डा० मण्डन मिश्र ने सन् १९६६ में प्राथमिक स्तर पर भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत विद्या के सामान्य परिचय प्राप्त कराने हेतु संस्कृत विद्यापीठ के अन्तर्गत बाल-मन्दिर नामक प्राथमिक विद्यालय का शुभारम्भ किया। इसका उद्घाटन स्व० श्री लाल बहादुर शास्त्री जी की धर्मपत्नी श्रद्धेया श्रीमती ललिता शास्त्री ने किया। इस बाल मन्दिर को केन्द्रीय विद्यालय संगठन ने अधिगृहीत कर केन्द्रीय विद्यालय एण्ड्रयूजगंज नई दिल्ली के रूप में विकसित किया।

**अखिल भारतीय संस्कृत शिक्षा सम्मेलन की स्थापना**

सन् १९८० ई० में नई शिक्षा प्रणाली के प्रवर्तन के अनन्तर माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत विषय को समुचित स्थान न दिए जाने पर डा० मण्डन मिश्र के नेतृत्व में राष्ट्रव्यापी आन्दोलन किया गया। रेल मन्त्री पण्डित कमलापति त्रिपाठी जी की अध्यक्षता में आयोजित अखिल भारतीय संस्कृत शिक्षा संगोष्ठी के प्रस्ताव के आधार पर अखिल भारतीय संस्कृत शिक्षा सम्मेलन नामक संस्था का गठन किया गया। इस नवीन शिक्षा संगठन का प्रथम सभापतित्व पं० कमलापति त्रिपाठी जी ने स्वीकार करते हुए डा० मण्डन मिश्र को इस संस्था का महामंत्री नियुक्त किया। डा० मिश्र के नेतृत्व में अखिल भारतीय संस्कृत शिक्षा सम्मेलन की प्रान्तीय शाखाओं का संगठन होने के अनन्तर राष्ट्रपति भवन में डा० फखरुद्दीन अली अहमद द्वारा इस नवोदित शिक्षा संगठन का उद्घाटन किया गया। डा० मिश्र के सतत समुद्योग से अखिल भारतीय संस्कृत शिक्षा सम्मेलन के तीन अधिवेशन राजस्थान की राजधानी जयपुर नगरी में आयोजित हुए। इन

अधिवेशनों में देश के सभी प्रान्तों से मूर्धन्य शिक्षा शास्त्रियों ने सम्मिलित होकर संस्कृत शिक्षा की विभिन्न समस्याओं पर व्यापक विचार विनिमय कर समाधान प्रस्तुत किए। पंडितजी के अनन्तर इसके सभापति पद को श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सुशोभित किया।

**राजस्थान संस्कृत अकादमी की अध्यक्षता**

दिल्ली में रहते हुए भी राजस्थान सरकार के अनुरोध पर डॉ० मिश्र ने गत १० वर्षों तक राजस्थान संस्कृत अकादमी के प्रथम अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। श्री मिश्र ने अकादमी को सुदृढ़ आधार और अपना भवन तथा आर्थिक साधन उपलब्ध कराये। प्रदेश में ९-१० वेद विद्यालयों की स्थापना की।

डा० मिश्र अखिल भारतीय संस्कृत महामण्डल, वैदिक संस्कृत प्रचारक संघ आदि संस्थाओं के अध्यक्ष रहे और उन्होंने अपने गुरु की स्मृति में वाराणसी में भी श्री पट्टाभिराम शास्त्री वेद-मीमांसानुसन्धान केन्द्र की स्थापना की है जो वेद और मीमांसा के क्षेत्र में कार्य कर रही है। देश के पञ्चांगकर्ताओं ने विश्वविख्यात मनीषी डॉ० बी०वी० रमन की अध्यक्षता में डॉ० मिश्र को अपने प्रथम संगठन "अखिल भारतीय पञ्चांगकर्ता सम्मेलन" का सर्वसम्मति से अध्यक्ष निर्वाचित किया।

डा० मण्डन मिश्र ने संस्कृत विद्या के प्रसार के साथ-साथ सांस्कृतिक चेतना के क्षेत्र में भी सदैव सक्रिय मार्गनिर्देशन किया। आपकी कर्मठता तथा विद्यावैभव की प्रशंसा सभी शङ्कराचार्यों तथाधर्माचार्यों द्वारा बारम्बार की गई है। डा० मिश्र सभी शङ्कराचार्य, पीठाधीश्वरों तथा श्रद्धेय विद्यानन्दजी महाराज जैसे जैन आचार्यों के समानरूप से कृपापात्र रहे हैं। सनातन धर्म के अतिरिक्त आर्यसमाज आदि विभिन्न संगठनों के द्वारा सञ्चालित राष्ट्रीय कार्यक्रमों में भी डा० मिश्र का सदैव विशिष्ट सहयोग रहा है।

**अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर संस्कृत और संस्कृति के विकास में योगदान**

डॉ० मिश्र ने सन् १९८४ ई० अमेरिका में आयोजित विश्व संस्कृत सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया और जुलाई १९९३ ई० में न्ययार्क में अथर्ववेद सम्मेलन में भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। जनवरी १९९४ ई० में आस्ट्रेलिया में विश्व-संस्कृत सम्मेलन में भाग लिया। आपने इटली में श्री लालबहादुर शास्त्रीराष्ट्रिय संस्कृतविद्यापीठ (मानितविश्वविद्यालय) नई दिल्ली के विशेष दीक्षान्त समारोह को संबोधित किया। इस समारोह में टोरिनो विश्वविद्यालय और टोरिनो नगर निगम ने आपको सम्मान पत्र, स्मृति-चिह्न तथा पदक भेंट किये। इनके अतिरिक्त इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, सिंगापुर, थाईलैण्ड और हांगकांग देशों की यात्रा कर आपने संस्कृत और भारतीय संस्कृति का सन्देश दिया।

**महान लेखक तथा ग्रन्थ-सम्पादक**

एक उत्तम अध्यापक से प्रारम्भ कर लेखक के रूप में भी डा० जिश्र की सेवाएँ विख्यात रही हैं। डा० मण्डन मिश्र विविध संस्थाओं के संगठन एवं प्रबन्धन के साथ-साथ नूतन साहित्य सृजन के लिए समय निकाल ही लिया करते हैं। आपने साहित्य एवं संस्कृति के गूढ़ चिंतन को प्रकाशित करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। डा० मिश्र के प्रथम ग्रन्थ 'मीमांसा दर्शन' का प्राक्कथन यशस्वी मनीषो डॉ० सम्पूर्णानन्द ने लिखा और इस ग्रन्थ को ३५ वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश शासन ने पुरस्कृत किया। अभी उनकी दूसरी कृति "संस्कृत, संस्कृति स्तवक" का लोकार्पण श्री अर्जुन सिंह, मानव संसाधन विकास मंत्री ने किया है। तीसरी कृति संस्कृत-संस्कृति-मञ्जरी है।

मिश्र जी के कुशल निर्देशन में उपनिषदों के आडियो कैसेट्स हिन्दी अनुवाद के साथ तैयार करने की महत्त्वपूर्ण योजना का समारम्भ विद्यापीठ द्वारा किया गया। इस क्रम में पाँच उपनिषदों के आडियो कैसेट्स का लोकार्पण महामहिम राष्ट्रपति डॉ० शङ्करदयाल शर्मा जी ने मानव-संसाधन-विकास मन्त्री जी की उपस्थिति में राष्ट्रपति-भवन में किया। इस समारोह में उपस्थित विद्वानों ने डॉ० मिश्र के इस कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सौ से भी अधिक ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन उनके निर्देशन में हुआ है।

**विभिन्न सम्मान व पुरस्कार**

सामान्य वर्ग से लेकर देश के महान् नेताओं और विद्वानों द्वारा सम्मान डॉ० मिश्र को प्राप्त हुआ। दिल्ली साहित्य कला परिषद् ने सन् १९७१ ई० में उनकी संस्कृत सेवाओं के लिए डा० मिश्र को सम्मानित किया। भारत सरकार ने सन् १९८३ ई० में उनको राष्ट्रपति सम्मान प्रमाण-पत्र से पुरस्कृत किया जो आजीवन १० हजार रुपये के वार्षिक मानदेय के साथ चलता रहेगा। उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी ने १० हजार रुपये का अखिल भारतीय शंकराचार्य पुरस्कार श्री राजीव गांधी के कर कमलों से और उनके मीमांसा दर्शन तथा संस्कृत सेवाओं से सम्बद्ध सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व के आधार पर सन् १९८९ ई० में संसार का सर्वोत्कृष्ट एक लाख रुपये का विश्व संस्कृत भारत भारती पुरस्कार वर्तमान राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा के द्वारा प्रदान कराया। शृङ्गेरी के शंकराचार्य श्री अभिनव विद्यातीर्थ स्वामी जी महाराज ने उनको विद्या-भास्कर उपाधि से सम्मानित किया। इसी प्रकार कांची मठ तथा द्वारिका

पीठ के शंकराचार्य ने भी डॉ० मिश्र को सम्मानित किया है। दिल्ली संस्कत अकादमी ने १९९४ में डा० मिश्र को १५ हजार रुपये के संस्कृत सेवा-सम्मान से विभूषित किया।

श्री मुरली मनोहर जोशी, (पूर्व अध्यक्ष, भारताय जनता पार्टी) द्वारा अपनी माता श्रीमती चन्द्रवती जोशी की स्मृति में संस्थापित दस हजार रुपये का प्रथम संस्कृत सेवा पुरस्कार डॉ० मिश्र को भेंट किया गया।

आचार्यप्रवर श्रीविद्यानन्द जी महाराज की प्रेरणा से संस्कृत और प्राकृत वाङ्मय की सेवा के लिये तत्कालीन वित्तमन्त्री डा० मनमोहन सिंह ने डा० मिश्रजी को एक लक्ष राशि के आचार्य कुन्द-कुन्द भारती पुरस्कार से विभूषित किया। उपराष्ट्रपति श्री के० आर० नारायणन् ने नागपुर टाइम्स द्वारा स्थापित अनन्त गोपाल शेवडे पुरस्कार से अलंकृत कर आपकी सेवाओं को विशेष आदर प्रदान किया।

महाराष्ट्र शासन ने १९९६ में संस्कृत दिवस पर डा० मिश्र को सर्वोच्च संस्कत सेवा पुरस्कार से सम्मानित किया। यह सम्मान महाराष्ट्र के उपमुख्यमंत्री श्री गोपीनाथ मुंडे के कर कमलों से प्रदान किया गया।

## सौप्रस्थानिक अभिनन्दन एवं अभिनन्दन ग्रंथ समर्पण

विद्यापीठ के कुलपति पद से विदाई के अवसर पर डा० मण्डन मिश्र के सौप्रस्थानिक अभिनन्दन हेतु एक भव्य समारोह का आयोजन राष्ट्रिय संग्रहालय में ५ जून १९९४ को किया गया। जिसमें तत्कालीन मानव संसाधन विकास मन्त्री श्री अर्जुन सिंह ने डा० मिश्र को अभिनन्दन पत्र भेंट कर सम्मानित किया।

आपकी सेवाओं को सम्मान प्रदान करते हुए राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं प्राच्य पाश्चात्य विद्याविशारद संस्कृत के यशस्वी विद्वान् डा० रामचन्द्र द्विवेदी के सम्पादकत्व में एक अभिनन्दन ग्रन्थ 'स्टडीज इन मीमांसा' का प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास द्वारा किया गया जिसमें भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त बीस से अधिक विदेशी विद्वानों के लेख प्रकाशित हैं। यह ग्रन्थ ५०० पृष्ठों का है। यह अभिनन्दन ग्रन्थ डा० मण्डन मिश्र को महामहिम उपराष्ट्रपति डा० के० आर० नारायणन् के कर कमलों से समर्पित किया गया।

## सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का कुलपतित्व

कर्मयोगी डा० मण्डन मिश्र की कार्यदक्षता एवं प्रबन्धन-कौशल की ख्याति सम्पूर्ण संस्कृत जगत् में व्याप्त है। अतएव श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के कुलपति पद से विश्राम लेने के कुछ समय पश्चात् ही उत्तर प्रदेश के राज्यपाल डा० मोती लाल वोरा ने डा० मिश्र को सम्पूर्णानन्द संस्कत विश्व-

विद्यालय के कुलपति पद पर नियुक्त कर पुनः संस्कृत जगत् की सक्रिय सेवा करने का अवसर प्रदान किया। डा० मिश्र के प्रबन्धन कौशल के परिणाम स्वरूप राष्ट्र के प्राचीनतम संस्कृत विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित चालीस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का लोकार्पण महामहिम राष्ट्रपति डा० शङ्कर दयाल शर्मा जी द्वारा किए जाने के कारण विश्वविद्यालय की योजनाओं और कार्यों को विशेष समादर प्राप्त हुआ। डा० मण्डन मिश्र के कुलपतित्व में अगस्त १९९६ में महामहिम राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा जी को सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के द्वारा आयोजित विशेष दीक्षान्त समारोह में 'वाचस्पति' उपाधि से विभूषित किया गया। महामहिम राष्ट्रपति जी द्वारा सम्मानितोपाधि के ग्रहणार्थ विश्वविद्यालय में पधारने के कारण संस्कृत विद्या को विशेष गौरव प्राप्त हुआ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर प्रतिष्ठित डॉ० मण्डन मिश्र केन्द्रीय संस्कृत मण्डल प्रभृति महत्त्वपूर्ण नीतिनिर्धारक संगठनों के सम्माननीय सदस्य के रूप में संस्कृत शिक्षा की अभ्युन्नति के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान कर रहे हैं।

संस्कृत,संस्कृति एवं देश सेवा में सतत संलग्न स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत जागृति के सूत्रधार डा० मण्डन मिश्र को प्रदान किये जाने वाले अभिनन्दनों एवं पुरस्कारों की परम्परा यहीं समाप्त हो गई हो, ऐसा नहीं है—यावत्पर्यन्त डा० मिश्र अपनी तपस्या में संलग्न हैं तावत्पर्यन्त इनकी सेवाओं से अभिभूत यह संस्कृत जगत् निरन्तर इन्हें सम्मानित करता ही रहेगा। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि आपका अमूल्य मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद संस्कृत जगत् को सदैव प्राप्त होता रहे।

—०—

# विषयानुक्रमणिका

## अभिनन्दन-ज्योतिः

# मीमांसाशास्त्र-ज्योतिः

## दर्शन-ज्योतिः



## विविधशास्त्रज्योतिः

# डॉ० श्रीमण्डन मिश्र
## संस्कृत वाङ्मय की सेवा में समर्पित एक व्यक्तित्व

—डा० करुणापति त्रिपाठी

डॉ० मण्डन मिश्र से हमारा परिचय पच्चीस वर्षों से अधिक पुराना है। जब कमला नगर, नई-दिल्ली में श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ था— एक संस्कृत महाविद्यालय के रूप में ही था तब से मेरा उनके साथ परिचय हुआ था। उन्होंने मुझको शिक्षा-शास्त्री-सम्बन्धी कुछ कार्यों के लिए बुलाया था। उसके बाद निरन्तर मेरा आना-जाना श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में रहा। उनका मेरे ऊपर अपार स्नेह भी था और मेरा बड़ा आदर करते थे।

तदनन्तर शिक्षा-शास्त्री के वार्षिक परीक्षक के रूप में उनके उस विद्यापीठ रूप महाविद्यालय में प्रायः प्रतिवर्ष ही मैं दिल्ली जाता रहा और उस समय नई-दिल्ली साउथ-एक्सटेन्शन में रहता था। वहाँ से २०-२५ कि०मी० दूर अनेक विद्यालयों, अनेक स्कूलों और कालेजों में परीक्षा लेने जाता था। इनमें से अधिकांश विद्यालय टेंटों में चलते थे। काशी के पंडित रामनरेश मिश्र, शिक्षा-शास्त्र-विभाग के अध्यक्ष थे। उनसे मेरा पर्याप्त परिचय था।

उसी समय से मैंने पाया कि डॉ० मण्डन मिश्र राजस्थान से आकर भारत-गणतन्त्र के केन्द्र दिल्ली में संस्कृत विद्या और संस्कृत वाङ्मय की सेवा करने में लगे हुए थे। वह सेवा आज तक अखण्ड रूप से चली आ रही है।

तभी मैंने पाया डॉ० मण्डन मिश्र अत्यन्त मधुर भाषी, संस्कृत छात्रों के अनन्य सेवक एवं उनका उत्थान चाहने में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। वे 'सेवक' मात्र नहीं हैं। स्वयं भी मीमांसाशास्त्र के प्रगाढ़ एवं प्रौढ़ पण्डित हैं।

वे हिन्दी और संस्कृत में अत्यन्त सारगर्भित और साथ ही मनोरंजक भाषण देते हैं। वे केवल वक्ता नहीं हैं वरन् उनके भाषणों में ठोस पांडित्य की गरिमा भरी रहती है। उस समय काशी विद्यापीठ के राजाराम शास्त्री दिल्ली में सांसद के रूप में रहते थे। उनके साथ भी डॉ० मिश्र का परिचय था। शास्त्री जी ने भी उक्त विद्यापीठ के विकास में यथाशक्ति सहयोग दिया।

डॉ० कर्णसिंह की भी डॉ० मण्डन मिश्र के ऊपर बड़ी कृपा थी। उन्होंने भी श्रीलालबहादुर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के विकास में सहयोग दिया। माननीय श्रीलालबहादुर शास्त्री के महा-प्रयाण होने पर इन्दिरा गाँधी भारत की

प्रधानमन्त्री बनीं। उसी समय मेरे अग्रज माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री, उत्तर प्रदेश शासन, दिल्ली में जहाजरानी के मंत्री होकर पहुँच गए थे। डॉ० कर्णसिंह एवं माननीय त्रिपाठी जी आदि के सहयोग से तथा डॉ० सम्पूर्णानन्द की मदद से माननीया श्रीमती इन्दिरा गाँधो ने श्रीलालबहादुर शास्त्री विद्यापीठ को राष्ट्रिय संस्कृत विद्यालय के रूप में विकसित किया।

यह सब बातें अधिक प्रामाणिक रूप से शोधप्रभा के विशेषाङ्क में लिखी गई होंगी। हो सकता है मेरी जानकारी कहीं-कहीं त्रुटिपूर्ण या अधूरी हो। परन्तु संस्कृत के एक सेवक होने के नाते जो बातें इधर-उधर ने सुन पाता रहा वह यहाँ ऊपर की पंक्तियों में मैंने व्यक्त की हैं।

मैंने सुना था कि डॉ० मण्डन मिश्र उक्त विद्यापीठ को एक अखिल-भारतीय संस्कृत विश्वविद्यालय बनाना चाहते थे। प्रशासन ने निश्चिय किया कि उसके स्थान पर एक राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की स्थापना हो और भारत के प्रत्येक प्रदेश में राष्ट्रिय संस्थान से सम्बद्ध संस्कृत विद्यालय खोले जाएं। इस भाँति डॉ० मिश्र दिल्ली के राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के भी संस्थापक हैं।

डॉ० मण्डन मिश्र के प्रयास से पुरी, गुरुवायूर, लखनऊ, जयपुर और प्रयाग आदि अनेक स्थानों में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की शाखाएँ महाविद्यालय के रूप में चल रही हैं। दूसरी ओर श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, कटवारिया सराय, नई-दिल्ली में चल रहा है।

डॉ० मण्डन मिश्र की निष्ठा, कर्मठता, संस्कृत-प्रेम और अदम्य प्रयासों के फलस्वरूप आज यह संस्था मानित-विश्वविद्यालय के रूप में चल रही है। वहाँ आयोजनों में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, शिक्षामंत्रो आदि अनेक मंत्री समय-समय पर सहयोग देते रहे हैं। यह मानित-विश्वविद्यालय संस्कृत का एक प्रमुख गढ़ हो गया है। यहाँ की पढ़ाई अबाधित रूप से बिना किसी बाधा और रोक-टोक के निरंतर चलती है।

आज यह मानित-विश्वविद्यालय अनेक विभागों में और संस्कृत विद्या की सभी शाखाओं में आदर्श रूप में कार्य कर रहा है। यहाँ भाषा विज्ञान, कम्प्यूटर सिस्टम आदि का भी सहयोग लिया जाता है। यहाँ प्राचीन-नवीन-गंभीरविचार-सारयुक्त अनेक विभाग चल रहे हैं। नये-नये विषयों पर गवेषणात्मक व्याख्यान और लेख भी पढ़े-लिखे जा रहे हैं।

उक्त मानित-विश्वविद्यालय के छात्र, अत्यन्त अनुशासित ढंग से नियमों का पालन करते रहते हैं। यहाँ छात्र-आंदोलन, अध्यापक आन्दोलन, कर्मचारी-आंदोलन आदि का कोई प्रभाव नहीं है। उक्त सुपुष्ट मानित विश्वविद्यालय के डॉ० मिश्र आदि-संस्थापक हैं। उक्त मानित-विश्वविद्यालय में सम्पूर्ण शक्ति और

ओज के साथ पूर्ण विस्तार-पूर्वक विभागों की स्थापना हो चुकी है और वह विश्व-विद्यालय का पूर्ण रूप ले चुका है। यहाँ विद्वान् भी अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ हैं तथा छात्रों को उन्मुक्त भाव से विद्या-दान देते रहते हैं।

अत: यह निश्चित रूप से संस्कृत विद्या का प्रचार-प्रसार केन्द्र होने के साथ-साथ आदर्श विश्व विश्वविद्यालय भी है। और इन सबके मूल में डॉ० मण्डन मिश्र की संस्कृति-निष्ठा, संस्कृत-सेवा, अथक और अनवरत प्रयास प्रतिष्ठित हैं। डॉ० मण्डन मिश्र जी जब तक कुलपति थे—प्रात: नौ-बजे से सायं आठ बजे तक विद्यापीठ के उत्थान में लगे रहते थे। मेरे प्रति तो उनका अग्रज-सा प्रेम, सम्मान और आदर अकथनीय है। अपने अधीन मानित विश्वविद्यालयों के कर्मचारियों, छात्रों और अध्यापकों के प्रति भी इनका बड़ा मृदु और स्नेहशील व्यवहार रहा करता था। यद्यपि मैं बहुत कुछ कहना चाहता हूँ किन्तु अभिनन्दन ग्रन्थ के जीवन खण्ड मेंसभी पक्षों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया होगा। अत: मैं इन कुछ शब्दों के साथ अपने हृदय के उद्गार को संयमित कर अपना वक्तव्य पूर्ण कर रहा हूँ।

जयतु संस्कृतभारती, जयतु संस्कृतम्, जयतु भारतम्!

# एक कर्मठ और कार्यकुशल प्रशासक

—डा० बलजिन्नाथ पण्डित

डा० श्री मण्डन मिश्र महोदय के साथ मेरा विशेष परिचय सन् १९७८ में हुआ। वे कई वर्ष श्रीरणवीर विद्यापीठ जम्मू के प्रधानाचार्य के पद पर काम करते रहे थे। वहां उनकी सफल कर्मठ प्रकृति ने उन्हें इस बात की ओर प्रेरित किया कि जम्मू-कश्मीर राज्य में स्थापित केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में काश्मीर शैवदर्शन पर कोई विशिष्ट काम किया जाना चाहिए, क्योंकि वह दर्शनविद्या उसी क्षेत्र में पनपी है और परिपूर्ण विकास को प्राप्त कर गई है। इस प्रयोजन को पूरा करने की क्षमता उन्हें उस विद्यापीठ के प्राध्यापकों में से किसी में भी नहीं मिली। न ही विश्वविद्यालय में या कालेजों में पढ़ाने वाले महानुभावों में उन्होंने उस योग्यता को पाया। तदनन्तर वे कश्मीर गए और श्रीनगर के विद्याकेन्द्रों और यूनिवर्सिटी में इस प्रयोजन को पूरा करने की क्षमता रखने वाले किसी विद्वान् की खोज करते हुए भी निराश हो गए। ऐसा विशेष जानकार विद्वान् उन्हें कोई भी नहीं मिला, जो इस विषय पर कोई विशेष शोध का काम कर सकता हो। श्रीनगर में इस विषय में रुचि रखने वालों से उन्हें केवल इस बात का ज्ञान हुआ कि इस काम को कर सकने वाला एक कश्मीरी पण्डित विद्वान् हिमाचल विश्वविद्यालय, शिमला के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में इस समय काम कर रहा है। इस तरह से डा० महोदय को मेरा परिचय प्राप्त हुआ।

डा० महोदय की कार्यकुशलता ने उन्हें उस उपरोक्त बात की स्मृति तब करा दी जब वे किसी विद्यासम्बन्धी कार्यक्रम के लिए एक बार शिमला आए। वहां वे बहुत व्यस्त रहे और मुझ से मिलने का या मुझे बुला भेजने का अवसर उन्हें मिल नहीं सका। परन्तु वे निराश नहीं हुए। उन्होंने शिमला वाले संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य श्री दिवाकर दत्त जी शास्त्री के पास मेरे लिए यह सन्देश रख दिया कि मैं काश्मीर शैवदर्शन पर विशिष्ट शोधकार्य के विषय में उनसे सम्पर्क करूं। आचार्य महोदय ने इस कार्य के विषय में डा० महोदय की गहरी दिलचस्पी को प्रकट करते हुए उनका सन्देश मेरे पास पहुंचा दिया। तब मैंने एक शोधपरियोजना बनाकर उनके पास उसे भेज दिया। शोधग्रन्थ का शीर्षक था—काश्मीर-शैवदर्शनस्य बृहत्कोष:, An Encyclopaedia of Kashmir Shaivism. डा० महोदय ने उस परियोजना को जम्मू विद्यापीठ में चलाने की योजना बना दी और उसे विधिपूर्वक राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान को भेज दिया।

कुछ ही महीनों के अनन्तर डा० महोदय का जम्मू से स्थानान्तरण हो गया

और वे श्री लाल बहादुर शास्त्री विद्यापीठ के प्रधानाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित हो गए। जम्मू से स्थानान्तरण के अनन्तर भी शैव दर्शन विषयक परियोजना के प्रति उनकी दिलचस्पी में कोई न्यूनता नहीं आई। वे इस विषय की स्वीकृति के लिए सचिवालय के अधिकारियों से और शासीपरिषद के सदस्यों से भी मिलते ही रहे और परियोजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यत्नशील बने ही रहे।

डा० महोदय की शैवदर्शन के प्रति ऐसी दिलचस्पी और प्रयत्नशीलता के फलस्वरूप सन् १९८० में जम्मू विद्यापीठ में "काश्मीर-शैव-दर्शन-परियोजना" की स्थापना हुई। उस परियोजना के फलस्वरूप दस वर्षों के यत्न से सन् १९९० में काश्मीर शैवदर्शन के उस बृहत्कोष का निर्माण पूरा हो गया। इसी बीच में डा० महोदय राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के निदेशक-पद पर प्रतिष्ठित हुए। उनके द्वारा सफलतया चलाए जाते हुए संस्थान के प्रशासन के सामने समय-समय पर आने वाली कठिनाइयों और समस्याओं का जब कभी भी सामना करने का अवसर मुझे आया, तब-तब डा० महोदय ने अपनी प्राशासनिक योग्यता के द्वारा उन-उन कठिनाइयों और समस्याओं को बिना कालक्षेप के दूर कर दिया। समय-समय पर ऐसे अवसरों पर वे विशिष्ट विद्वानों की एक बैठक बुलाया करते थे और समस्याओं का झट पट निवारण किया करते थे। विशिष्ट विद्वानों के द्वारा किए गए निर्णयों और निर्देशों को शासीपरिषद बिना किसी सङ्कोच के स्वीकृति प्रदान करती रही।

माननीय श्री डाक्टर महोदय की ऐसी कर्मठता और कार्यकुशलता के फलस्वरूप विशालकाय बृहत्कोष का निर्माण निराबाध ढङ्ग से चलता रहा। 'चवर्ग' तक के शब्दों वाला भाग, जो पूरे कोष के चौथाई भाग के लगभग है, उसका मुद्रण सन् १९९२ में पूरा हो गया। तदनन्तर कुछ प्राशासनिक बाधाएं सामने आ गईं और कुछ कठिनाइयां मुद्रक ने उपस्थित कर दीं। उनके कारण से शेष भाग का मुद्रण अभी तक भी होने नहीं पाया। पाण्डुलिपि के एक भाग को वर्षा ने विरूप बना दिया। अब शेष भाग के मुद्रण के प्रबन्ध के विषय में सोचा जा रहा है, परन्तु अभी तक इस विषय में कार्यरूपतया कोई प्रगति नहीं हुई।

यदि डा० श्री मण्डन मिश्र जी के निदेशकत्व के समय ऐसी कठिनाइयां आई होतीं, तो उन्होंने अपनी प्राशासनिक योग्यता से उन्हें तत्काल ही दूर कर दिया होता और कश्मीर शैवदर्शन का वह बृहत्कोष, जिसका निर्माण शब्दकल्पद्रुम की शैली के अनुसार हुआ है, कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका होता। डाक्टर महोदय की कर्मठता और कार्यकुशलता तथा प्राशासनिक योग्यता के विषय में ऐसी-ऐसी बातें मेरे अनुभव में आती रहीं, तदनुसार ही मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूं।

## स मण्डनोऽद्यास्त्यभिनन्दनीयः

—अमीरचन्द्रशास्त्री साहित्याचार्यः

ग्रहाश्विदुर्गेन्दुमिताङ्गलाब्दे
यो जूनमासेऽजनि सप्तमेऽह्नि ।
स मण्डनोऽद्यास्त्यभिनन्दनीयः
सुसंस्कृतानामिह वन्दनीयः ।।१।।

मीमांसयोन्मीलितशेमुषीकः
साहित्यसम्प्लावितहृद्-हृषीकः ।
पट्टाभिरामस्य गुरोर्गरिम्णा
मिश्रान्वयस्य पृथोर्महिम्ना ।।२।।

योजन्मविद्योभयवंशशुद्धः
गीर्वाणवाण्याः प्रथितः प्रबुद्धः ।
शास्त्राण्यधीतानि गवेषितानि
येनान्च चाध्याप्य प्रसारितानि ।।३।।

स्वयं लिखित्वाप्यथलेखयित्वा
सम्पाद्य चैतानि प्रकाशितानि ।
संस्थानजातानि बहूनि येन
संस्थाप्य सम्यक् प्रविचालितानि ।।४।।

स मण्डनः पण्डित मण्डलीनां
न खण्डनोऽयं शुभकुण्डलीनाम् ।
हिन्द्यां यथा कश्चनटण्डनोऽभूत्
तथादिवौकोगिरि मण्डनोऽयम् ।।५।।

दिल्ल्यां पुरीणामपि यन्मतल्ल्यां
प्रफुल्लिता संस्कृतवाक्सुवल्ली ।
व्यस्ता अभूमात्र वयं समस्ताः
प्रयोजकस्तत्रभवांस्तु हेतुः ।।६।।

सम्मेलनं चेदिह नागमिष्यत्
तन्मन्त्रिवर्यंश्वसनाभविष्यत् ।
विद्याधिपीठञ्चनतर्ह्यधास्यत्
दिल्लीक्ववा संस्कृतमप्यपास्यत् ॥७॥

सम्मेलनं तादृशभव्यरूपं
किंगाजियाबादपुरेऽभजिष्यत् ।
किं विश्वविद्यालयमन्दिरेषु
समध्यवेक्ष्यत्परिषद्गणञ्च ॥८॥

शताब्दिकाग्रन्थसुसम्पदाकिं
सम्मेलनं तत्समपत्स्यतैवम् ।
रत्नाकरोऽपीदृशराष्ट्रियाङ्कैः
किं राष्ट्रियं वाङ्मयमासि स्रक्ष्यत् ॥९॥

लब्ध्वीन्वसा संस्कृतपाठशाला
समन्तभद्राङ्गणमाश्रयन्ती ।
सन्ध्यासु षट्सप्तभिरेव शिष्यै-
र्द्वित्रैश्चमित्रैः परिचाल्यतेस्म ॥१०॥

सा मण्डनस्य प्रियनोदनेन
विद्वद्वराणाञ्च विनोदनेन ।
तत्तस्य नेतुश्चप्रमोदनेन
विद्याधिपीठत्वमगात्त्रिवर्षैः ॥११॥

श्रीशास्त्रिणो माङ्गलिकेन नाम्ना
युक्तस्य तन्मङ्गलमास्त सर्वम् ।
केन्द्रीयतां राष्ट्रियतां गतस्य
यद्विश्वविद्यालयता विभाति ॥१२॥

राजेन्द्रदातार जवाहराणां
श्रीशास्त्रिशाङ्गिलगिरि(सं)धराणाम्
नीत्वाशिषस्ताभिरमण्डयस्त्वं
श्रीसंस्कृतं प्राप्तजयः सदाऽऽसीः ॥१३॥

न विस्मरेः श्रीपरमेश्वरार्यं
न विस्मरेः श्रीहनुमत्प्रसादम् ।
ममापिनो विस्मरदासभावा-
त्सरस्वतीमर्चयतोऽष्टयामम् ॥१४॥

न विस्मरेस्तं मणिनाथमिष्टं
न विस्मरेस्तं शिवदासमीड्यम् ।
न हर्षनाथं किलविस्मरेस्त्वं
न विस्मरेस्तं विनयं कुमारम् ॥१५॥

जानामि ते साधुकृतज्ञतां तां
हितेन सर्वान् स्मृतिमानयामि ।
जीव्याः सुखं वर्षशतंसजीव्या
यशः पटं स्वस्य गिरश्चसीव्याः ॥१६॥

# आचार्यमण्डनमिश्रस्य लोकाराधनम्

—श्री मुरलीधर पाण्डेयः

आचार्यमण्डनमिश्रविषये बहुज्ञातमस्ति बहुवक्तव्यं चास्ति। किन्त्वहमेकमेव वक्तुं कामये-यदत्युच्चं महनीयं कठिनं च कर्मनिनाद्यावधि आचरितमाचर्यंते च तत्तु लोकाराधनम्, तत्रापि विशेषतः संस्कृतलोकस्य। तत्समाराधनं संस्कृतस्यसम्मेलनैः पत्रकारितया सम्पादकतया लेखनेनभाषणेन शिक्षया ग्रन्थप्रणयनेन ग्रन्थप्रकाशनेन गोष्ठीसमायोजनेन विद्यापीठसंस्थापनेनापरैरपि अनेकविधिभिः संस्कृतवाङ्मयोन्नत्यै संस्कृतजगतः सततमातन्यते। एतत्समाराधनं कियत्कठिनमिति श्रीविद्यारण्यस्वामिवचनैरनुमातुं शक्यते। स कथयति—

तादृशस्यापिरामस्य पतिव्रताशिरोमणिभूतायाः जगन्मातुः सीतायाश्च श्रोतुमशक्यो जनापवादः संवृतः। किमु वक्तव्यमन्येषाम्। तथा हि—देशविशेषेण परस्पर निन्दाबाहुल्यमुपलभ्यते। दाक्षिणात्यैर्विप्रैरौत्तरेयवेदविदो विप्रा मांसभक्षिणो निन्द्यन्ते। औत्तरेयैश्च मातुलसुतोद्वाहितो यात्रायां मृद्भाण्डवाहिनो दाक्षिणात्या निन्द्यन्ते। बह्वृचा आश्वलायनशाखीया काण्वशाखामप्रशस्तां मन्यन्ते। वाजसनेयिनस्तु वैपरीत्येन। एवं स्वस्वकुलगोत्रबन्धुवर्गेष्टदेवतादिप्रशंसा परकीयनिन्दा च आविद्वदङ्गनागोपालं सर्वत्र प्रसिद्धा। एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्—

**शुचिः पिशाचो विचलो विचक्षणः,**
**क्षमोऽप्यशक्तो बलवांश्च दुष्टः।**
**निश्चित्तचोरः सुभगोऽपि कामी,**
**को लोकमाराधयितुं समर्थः॥**

(जीवन्मुक्तिविवेके २ अ० वासनामुक्तिप्रकरणे)

एवं निर्मानमदमोहो मण्डनमिश्रो जीवेद् शरदः शतं भूयश्च शरदः शताद्। श्रीशम्भुप्रसादादिति शम्।

# सश्रद्धमभिनन्दनम्

—डॉ० मुकुन्दमाधवशर्मा

श्रीमन्मण्डनमिश्रनाममतिमान् भूमण्डलीमण्डनो
वाणीमन्दिरमण्डनश्च नितरां वैदुष्यवारां निधिः।
नानाशास्त्रसुधाब्धिमन्थनमहादण्डेन दण्डी स्वयं
तेजस्वी सुरभारतीनतिपरः स्वाध्यायनिष्ठाव्रती ।।

नित्यं ज्ञानिजनाभिनन्दनपरो विद्वज्जनापश्चिमो
निःस्वार्थः सततं विशालहृदयो लोकोपकारे रतः।
राजस्थानविशालशालविटपी श्रद्धास्पदं भास्वतं
देशे भारतवर्षभूतलवरे तद्वद् भृशं पूजितः ।।

दारैः सत्तनयस्नुषादिसहितैः पौत्रैश्चरित्रोज्ज्वलैः
शिष्यैश्चापि सहस्रशः परिवृतो भाग्यैस्समालिङ्गितः।
लोकानां परिपूर्णसंग्रहकृते कार्यं च कुर्वश्चिरं
जीवेद् वै शरदः शतं सकुशलं श्रीमद्यशोमण्डनः ।।

श्रीमतां मिश्रदेवानां सश्रद्धमभिनन्दनम्।
यदेतद् विहितं पुण्यं तनुवाग्विभवैरपि ।।

अस्माभिरनुजैर्दीनैर्गुणमुग्धैः ससाध्वसं।
भगवदिच्छया तत् स्यात् सर्वलोकसुखाय शम् ।।

तुरगेन्दुग्रहब्रह्ममिते शाके शुभावहे।
श्रावणे शोभने मासे तुरंगाक्षिमिते दिने ।।

प्रशस्तिर्निर्मितास्माभिर्डिब्रूगडाख्यपट्टने।
समर्प्यते च मिश्राय श्रीमण्डनसुजन्मने ।।

इति शिवम्।

# वाङ्मण्डनं कमपि तं नितरां नतोऽहम्

—मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः

नित्यं पुरन्दरदिशि प्रथिमानमेत्य
प्राज्यं तमो विशकलय्य विभां वितन्वन् ।
प्रत्यूहसञ्चयमपास्य रविप्रभो य-
स्तस्मै नमस्सुरगिरं जगति व्यतानीत् ॥१॥

क्वाऽमेरिका क्व निमिपालधरा क्व चान्ये
देशाः समग्रधरणीवलयैकभूषाः ?
यान्नाममण्डत निजप्रतिभाप्रकर्षैः
श्रीमण्डनस्सुरवचोऽङ्गणपारिजातः ॥२॥

वाणी सुधारसमयी श्रितपाण्डितीका
प्रक्रान्ततथ्यविशदीकरणोपयुक्ता ।
नित्यं चकार बहुशास्तृजनप्रमोदं
यस्यानिशं तमिह मण्डनमानतोऽस्मि ॥३॥

विद्यावतां परिषदि प्रतिभापटिष्ठो
यो वै वशिष्ठ इव शक्तियुतोऽनिवार्यः ।
ब्राह्मं महो विशदयन् सकलासु दिक्षु
क्षोणीं बिभर्ति तमहं विबुधं नमामि ॥४॥

शिक्षालये बहुमते नवकोलपत्यं
सम्भूषयन्नकृत यो महितोपकारम् ।
स्वीयैर्निसर्गमधुरैस्सदधीतिगन्धै-
र्भूमण्डनं मरुवणप्रसवं तमीडे ॥५॥

वृद्धान् सदा प्रणतिभिः प्रणयोपचारै-
स्तुल्यान् प्रगाढपरिरम्भसुखैः कनिष्ठान् ।
संरक्षणैः सहृदयांश्च विनोदयन्तं
न्यग्रोधपादपमहं ननु तं नमामि ॥६॥

गीर्वाणवागुपहृताऽखिलजीवयात्रं
पट्टाभिरामचरणाम्बुजचञ्चरीकम् ।
स्वाध्यायदीपितललाटमुदारचित्तं
वाङ्मण्डनं कमपि तं नितरां नतोऽहम् ॥७॥

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रो देववाणीसमर्चकः ।
विश्वविद्यालये ख्याते शिमलायां प्रतिष्ठिते ॥८॥

श्रीमण्डनमुपस्तौति स्नेहवात्सल्यमन्दिरम् ।
विपश्चितामग्रगण्यं तच्छतायुष्यकाम्यया ॥९॥

# साफल्यस्य पताकेदं मण्डनस्यास्ति शाश्वतम्

—डा० हर्षनाथमिश्रः

( कः )

यस्याधिष्ठातृदेवत्वाद् 'हणूत्या' नाम आप्तवान्।
ग्रामो, नमामि तं देवं हनूमन्तं महाबलम्॥१॥

कदरामूले (टीकरमूले) प्रादुर्भूतं देवमिमं यो भजते।
मण्डन एव निदर्शनमस्मिन् सर्वाभीष्टं लभते॥२॥

अस्मिन् ग्रामे मिश्रो वंशः कीर्तिसमृद्धया ख्यातः।
मिश्रत्वं स्वं सत्यं कुरुते श्रीविद्याभ्यामाप्तः॥३॥

मान्यकन्हैयालालोमिश्रः परितः प्रथितो विद्वान्।
ब्रह्मकर्मनिष्णातो धर्म्ये विधौ सदा निष्ठावान्॥४॥

स्वयं प्रसन्नः सुखं प्रयच्छति मधुरैः स्वव्यवहारैः।
ललितकाव्यमिव परमानन्दं रम्यार्थ-व्याहारैः॥५॥

तस्य पञ्च पुत्रा वर्तन्ते सर्वे योग्याः सभ्याः।
मण्डनगोवर्धनो तृतीयो राधेश्यामो भव्याः॥६॥

तुर्यो गजाननोऽस्ति पञ्चमः केदारः समुदारः।
एषु मण्डनो गुणैर्मण्डितो ज्येष्ठो विद्यागारः॥७॥

कीर्तेर्यस्य वितानमम्बरं बिभ्रदम्बरं स्वच्छम्।
सततं भात्यनपेक्ष्य चन्द्रिकां ज्योतिरवाप्य यथेच्छम्॥८॥

देशसंस्कृतेः संस्कृतवाङ्मयवेदादिकविद्यानाम्।
परम्परीणपद्धतेर्विदुषां सुधियामनवद्यानाम्॥९॥

रक्षायै सततं युद्ध्वा यस्तेषामादरमाने।
वेतनादिविषये ह्यसमाने नेतुं सर्वसमाने॥१०॥

सङ्घर्षं कृत्वा च नितान्तं गतमिव संस्कृतमानम्।
प्रतिसंस्थापितवान् हि गिरेऽस्यै, स्तुत्यं यस्य वदानम्॥११॥

संस्कृतभुवनं यस्य कृतज्ञं भूत्वा कीर्तिं तनुते ।
संस्कृतभारत्या इतिहासो यस्य सुगीतिं चिनुते ॥१२॥

अस्य लिख्यते लिखिष्यते च कविभिर्लेखकवर्गैः ।
काव्ये स्वे स्वे लेखे महिमा पूर्यो बहुभिः सर्गैः ॥१३॥

( खः )

अहं चिराद् द्रष्टाऽस्मि गुणानां तस्मिन् समवेतानाम् ।
बाल्ये भूमावङ्कुरितानां क्रमशः पल्लवितानाम् ॥१४॥

पुष्पितसंफलितानां येषां सौरभरसैरुपेतम् ।
संस्कृतजगत् सनाथं जातं निजसाहित्यसमेतम् ॥१५॥

प्रथमामात्रोत्तीर्णो दृष्टो मण्डनमिश्रो बालः ।
तदा मदनमिश्राख्यः सौम्यो, भाग्येनायतभालः ॥१६॥

शुद्धं वदन् संस्कृतं सम्यक् प्राञ्जलमनुगतभावम् ।
श्रुतौ वर्षयन्निव पीयूषम् श्रोतरि जनितप्रभावम् ॥१७॥

कोऽयं बालः ? वदति निसर्गात् संस्कृतमेवं शुद्धम् ।
यथा मातृभाषास्य संस्कृतं भवेत्तथाऽनवरुद्धम् ॥१८॥

श्रीसुखरामो दासो नाम्ना परमवैष्णवो मान्यौ ।
तस्य श्रीरामेश्वरशर्मा गुरू च सुधीवदान्यौ ॥१९॥

अनुपदमेवालिखितं पूर्वं परिचयमिद्धा दत्त्वा ।
इमावुक्तवन्तावथ मां प्रति कमपि च गर्वं कृत्वा ॥२०॥

मेधावी नौ छात्रो मदनः अमरसरसि पूर्वं पठिता ।
अस्मिन् विद्यालयेऽस्मदीये, ज्ञातोऽयं ख्यातो भविता ॥२१॥

साकं स्वाशीर्वचोभिरन्यैः शिरः स्पृशन्तौ दृष्टौ ।
रामेश्वरसुखरामो पूज्यौ गुरुवर्यावतिहृष्टौ ॥२२॥

( गः )

फतेपुरे परीक्षायाः सुकेन्द्रे शिक्षकेषु च ।
छात्रैः सहागतेष्वेको वृथा गर्वं प्रदर्शयन् ॥२३॥

श्रुतोऽसावुक्तवानित्थं—"राजस्थानी न शास्त्रभाक् ।
नाम्नैव पण्डितोऽस्तीति" मिश्रेण हि यदा तदा ॥२४॥

शास्त्रार्थाय स आहूतः पण्डितप्रवरस्य च।
मुरारिलालमिश्रस्य बग्गडग्रामवासिनः ॥२५॥

आध्यक्ष्ये शास्त्रसंरम्भे परिष्कारप्रवीणयोः।
मण्डनस्य तथा तस्य चिरं प्रचलितेऽभवत् ॥२६॥

विजयो मण्डनस्यान्ते शाब्दिकानां शिरोमणिः।
मुरारिमिश्रः प्रतिभां मण्डनीयां मुहुर्मुहुः ॥२७॥

प्रशंसन् दत्तवानस्मै आशिषं मस्तकं स्पृशन्।
वर्धस्व वत्स ! वर्धस्व शेवधे राष्ट्रसंस्कृतेः ॥२८॥

योगक्षेमाय सेनानीरेधस्व पथि सर्वदा।
पराजितं बुधं प्राह विद्वानस्ति भवानपि ॥२९॥

मन्यस्व सर्वतश्चास्ति बुद्धिर्विद्या तपस्तथा।
स्वाध्यायः, शोभते नैवं निजश्लाघा मनीषिणः ॥३०॥

( घः )

दातं परीक्षां साहित्यरत्नाख्यां गतवान् यदा।
अद्यतः प्रायशः पूर्वं पञ्चाशद्वर्षकं तदा ॥३१॥

जयपुरे स्थितवान् मिश्रमण्डनस्य प्रकोष्ठके।
छात्रावासे तदा साक्षाद् दृष्टोऽसौ पुस्तकं विना ॥३२॥

विनालोकं च सिद्धान्त-कौमुद्या विदधत् सुखम्।
आवृत्ति, वीक्ष्य श्रुत्वा च तदा सम्भावितं मया ॥३३॥

भट्टोजिदीक्षितः साक्षाद् वर्तते किमु आयतः।
अथवा शाब्द आम्नायः प्रादुर्भूतोऽत्र ध्वन्यते ? ॥३४॥

भवेत् संस्मरणं चैतच्छात्राणामुपकारकम्।
आवृत्तिपरिपाटी सा लुप्ता प्रादुर्भवेद्यदि ॥३५॥

( ङः )

शास्त्रान्तरज्ञानजुषां बुधानाम्
हिन्दीपरिज्ञानसमुत्सुकानाम्
सुदूरभूमेश्च समागतानाम्
श्रीमण्डनस्तासु परश्शतानाम्
साहित्यरत्नादि प्रभाकरादि-

कक्षासु गत्वा कठिने विशाले
साहित्यशास्त्रस्य महेतिहासे
व्याख्यानमाख्यद्धि यदा सभा तदा
नैःशब्द्यसाम्राज्यमवाप सर्वदा ॥३६॥

( चः )

व्याख्यानमेतस्य हि नाम वर्तते
एकेन संस्तावि पुनः पुनः सः
अहो गभीरं वयसा लघीयसः
पाण्डित्यमस्यास्ति यथा गरीयसः ॥३७॥

( छः )

"समालोचनया युक्त्या शास्त्रचिन्तनलब्धया।
व्याख्यया च मया लब्धा दृष्टिरद्य नवा नवा॥"
इत्थं सभ्यैः स्तुतो मिश्रो मण्डनो बहुधा तदा।
व्याख्यानानां च गुण्यानां गुणैराहृतमानसैः॥३८॥

दृष्टं स्वस्य च नेत्राभ्यां सर्वमेतत्तथा श्रुतम्।
साक्षादेव च कर्णाभ्यां मया जयपुरे सता॥३९॥

( जः )

संस्मरणानि बहूनि मे
मनसि समागच्छन्ति।
स्वान्यङ्कयितुं लेख इह
तान्यस्मिन्निच्छन्ति ॥
तान्यस्मिन्निच्छन्ति
परन्तु स्थाने दत्ते
लेखोऽयं स्यात् सैव
यं च ग्रन्थं ह्यभिधत्ते
ग्रन्थो नायं लेख उच्यते वपुषा ह्रस्वः
गण ! स्मृतीनामाग्रन्थोद्भवमये त्वमास्स्व ।४०॥

( झः )

शास्त्रार्थे दर्शितप्रौढ्या, मीमांसादर्शने तथा।
।अचार्यत्वोपलब्ध्या च, गुरुणा विदुषा तथा॥

गोविन्ददाससदृशैः साधुसन्यासिपण्डितैः।
गुणज्ञैर्ज्ञातपाण्डित्यैः स्तुतप्रश्नोत्तरैरहो ।।
गूढार्थाख्यानपरको मण्डनोऽयं शुभाशिषा।
योजितस्तत एवायं नाम्ना मण्डन इत्यभूत् ।।
प्राचो मण्डनमिश्रस्य संस्कृतस्य प्रचारणम्।
मीमांसकत्वमुभयं मण्डनेऽप्यनुवर्तितम् ।।४१।।

( ञः )

देशस्य सर्वभागेषु समानेनादरणेन यः।
दृश्यते वर्तते सोऽयं मण्डनो व्यापकादरः।।
भाषाप्रान्तादिभेदेभ्यो यथा चोपरि वर्तते।
संस्कृतं तस्य साहित्यं तथाऽयं मण्डनो बुधः ।।४२।।

( टः )

यावदासीन्महामन्त्री मण्डनोऽयं समुन्नतिम्।
सम्मेलनं संस्कृतस्य तावदाप प्रतिक्षणम् ।।४३।।

( ठः )

आसीत्सर्वं राजधान्यां देहल्यां भारतस्य च
रक्तदुर्गो गुरुद्वारं गौरीशङ्करमन्दिरम् ।।
कालिकामन्दिरं राष्ट्रपतेर्भवनमद्भुतम्
अन्यच्च दर्शनीयं तत्कलाकौशल—सूचकम्
किन्तु नासीच्च भवनं संस्कृतस्यात्र कुत्रचित्
यत्र संस्कृतसामग्री पुस्तकानि तथा पुनः
हस्तलेखा भवेयुश्च न्यस्तानि सुव्यवस्थया
परम्परीणपद्धत्याऽध्यापनं यत्र संभवेत्
सर्वेषां किल वेदानां दर्शनानामथापि च
पुराणकर्मकाण्डानां शिक्षाशास्त्रस्य सर्वतः
व्याकरणादिशास्त्राणां सम्प्रदायभिदाभृताम्
न्यायानां प्राच्यनव्यानां काव्यसाहित्यशास्त्रयोः
शोधाध्ययनसंस्थाया यत्र संस्कृतवाङ्मये
भाषाशास्त्रे चान्यविषये केनापि विदुषा कृता
जिज्ञासा स्यात् समाधेया, अभावं वीक्ष्य मानसे।

कष्टमासीत् समाजस्य मण्डनोऽस्य कृते भृशम्
चिरं प्रयासं कृतवान् तत्फलं पुरतोऽस्ति नः
विद्यापीठं विश्वविद्यालयत्वं संस्कृतस्य च
गतवद्राजते राजधान्यामक्षयकोशवत् ।
साफल्यस्य पताकेदं मण्डनस्यास्ति शाश्वतम्
अथवा संस्कृतज्ञानां संस्कृतस्नेहिनां तथा
भावनानां महाकाव्यं परमानन्ददायकम् ।।४४।।

# डॉ० मण्डनमिश्रः संस्कृतयुगपुरुषः

—डॉ० श्रीधरवासिष्ठः

"दैनिकवीरअर्जुन"—समाचारपत्रस्य सहसम्पादकः श्री जयवंशी झा महोदयः एम०ए० कक्षायां मम सहपाठी आसीत्। स एकस्मिन् दिवसे मम गृहमागतः वार्ताप्रसंगे अवोचत्—अहं त्वां तव गुरोः निकटे नयामि। तेन प्रेरितः सन् अहं कमलानगरस्थाने १७२ डी इत्यंकिते गृहे "अखिलभारतीयसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनस्य" कार्यालयमगच्छम्। तत्र मम गुरुचरणाः महामहोपाध्यायाः परमेश्वरानन्दशास्त्रिणः उपविष्टा आसन्। चरणवन्दनानंतरं तेषां निकटे स्थितोऽहं तैरादिष्टः यदत्र संस्कृतप्रचारप्रसारार्थं कार्यं क्रियते त्वयापि समये समये अत्र आगन्तव्यम् किमपि साहाय्यं च कर्त्तव्यम्। गुर्वादेशमनुसृत्य अखिलभारतीयसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनस्य कार्यालयं गन्तुमारभे। कार्यालये मन्त्रिणा श्रीमता आत्मदेवेन सूचितोऽहं यत् श्वः शनिवासरे महामन्त्रिणः डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयाः जयपुरतः आगमिष्यन्ति। भवता ते अवश्यमेव द्रष्टव्याः। आगामिनि दिने एकः युवा स्वस्थवपुः, प्रांशुः, स्मेरमुखः जनः कार्यालये मया दृष्टः अयमेव डॉ० मण्डनमिश्रः स्यादित्यनुमित्या मया नमस्कारः कृतः। मण्डनमिश्रमहोदयैरपि भवान् श्रीधरवासिष्ठः इति पृष्टम्। मम स्वीकृत्यनन्तरं तैः उक्तं यत् कार्यालयमन्त्रिणा मत्सम्बन्धे वार्ता कथिता आसीत्। अनल्पेनैव कालेन परिचयः मैत्रीभावं गतः। मैत्रीभावं गच्छन् आत्मीयतामारूढः। संस्कृतस्य सम्बन्धे सामान्यजीवनव्यवहारसम्बन्धे अनेकाः वार्ताः कुर्वन्तौ आवां सायंकाले भ्रमणार्थमपि अगच्छाव। मण्डनमिश्रमहोदयाः तदानीं महाराजसंस्कृतकालेजजयपुरमध्ये पाठयन्तः आसन्। अतः ते प्रायः शनिवासरं दिल्लीमागत्य तत्रत्यानि सम्मेलनकार्याणि सम्पाद्य आगामिकाले सम्पाद्यानि कार्याणि कार्यालयमन्त्रिणं निर्दिश्य रविवासरे रात्रौ अहमदाबादमेल द्वारा जयपुरं प्रतिगच्छन्ति स्म।

एवमेव गच्छता कालेन एकस्मिन् दिने आवां सायंकाले भ्रमणव्याजेन दिल्लीविश्वविद्यालयस्य ट्यूटोरियलबिल्डिंगसम्मुखम् उपविष्टौ आस्व। तदा वार्ताप्रसंगे डॉ० मिश्रमहोदयेन उक्तं—यत् अखिलभारतीयसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनस्य कलकत्ताधिवेशने पूर्वराष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादमहोदयानामाध्यक्षे एकः प्रस्तावः पारितः यत् दिल्ल्यां एकस्य अखिलभारतीयसंस्कृतविद्यापीठस्य स्थापना विधेया। अहन्तु जयपुरे वसामि सप्ताहान्ते एव अत्रागच्छामि भवान् दिल्लीवास्तव्यः यदि भवता मम साहाय्यं क्रियते तदा अहं विद्यापीठस्य प्रारम्भं कर्तुं प्रयत्नं प्रारभे इति। मया

उक्तं—यत् किमपि कर्तुं शक्नोमि तत् सर्वं कर्तुं सन्नद्धोऽस्मि इत्यनन्तरं अखिल-भारतीयसंस्कृतविद्यापीठस्य स्थापनार्थं तैः यस्य कौशलस्य प्रदर्शनं कृतं वस्तुतः तद् अवर्णनीयमेव। सर्वप्रथमं दरियागंजक्षेत्रे समन्तभद्र-उच्चतरमहाविद्यालयस्य भवने रात्रिशालारूपेण अस्य विद्यापीठस्य १९६२ तमे ख्रिष्टाब्दे प्रारम्भः कृतः प्रथमं केवलम् आचार्यकक्षायाः कृते एव अध्यापनं प्रारब्धम् परंमण्डनमिश्रमहोदयाः गतिशीलाः आसन्। अतः उन्नतिक्रमेण तस्मिन्नेव वर्षे शास्त्रिकक्षायाः अपि अध्यापनं प्रारब्धम्, महामहोपाध्यायपरमेश्वरानन्दशास्त्रिणः, डॉ० मण्डनमिश्राः, पं० मणिनाथझाः, पं० शिवदासमिश्राः, एते आसन् अध्यापकाः प्रथमवर्षे। पंजाब-विश्वविद्यालयस्य अनेके शास्त्रिकक्षोत्तीर्णाः अध्यापकाः दिल्लीस्थितेषु विद्यालयेषु संस्कृतं पाठयन्तः आचार्यपरीक्षोत्तीर्णतार्थम् अस्मिन् विद्यापीठे आगताः तेषु उग्रसेनशास्त्री, सुरेन्द्रकुमारशास्त्री, महावीरशास्त्री, सदृशाः प्रमुखाः संस्कृता-ध्यापकाः प्रथमेषु आचार्यकक्षा-छात्रेषु अग्रगण्याः अभूवन्। प्रायः एते सर्वे एव दिल्लीसंस्कृतजगति कर्मठाः संस्कृतकार्यकर्तारः आसन् एतेषां माध्यमेन मण्डनमिश्र-महोदयैः संस्कृतस्य क्षेत्रे एकं नवीनं जीवनं नवश्चोत्साहः आपूरितः। विद्यापीठस्यो-पचारिकम् उद्घाटनं १९६२ तमे वर्षे तत्कालीनैः शिक्षामन्त्रिभिः श्रीकालूलाल—श्रीमालिभिः विजयदशम्यां विहितम्। तत्रत्यं स्थानमल्पं मत्वा डॉ० मण्डनमिश्रैः शक्तिनगरे नूतनं विस्तृतं गृहं विद्यापीठस्य कृते भाटकेन गृहीतम्। अस्मिन् वर्षे तेषां कौशलेन विद्यापीठे शिक्षाशास्त्रिपाठचक्रमस्यापि आरम्भः सञ्जातः। स्वराज-नीतिककौशलेन डॉ० मिश्रमहोदयैः तत्कालीनराजस्थानमुख्यमन्त्रिणः आदेशेन शिक्षाशास्त्रीतिपाठचक्रमस्य कृते राजस्थानसंस्कृताध्यापकाः पूर्ववेतनस्योपरि दश-प्रतिशतं प्रतिनियुक्तिधनेन चत्वारिंशदध्यापकाः शिक्षाशास्त्रप्रशिक्षणं प्राप्त्यर्थं प्राप्ताः। अयं क्रमः वर्षत्रयं प्राचलत्।

प्रारम्भिकेषु दिनेषु गृहराज्यमन्त्रिणः श्री बी०एन० दातारमहोदयाः विद्या-पीठस्याध्यक्षाः आसन्। तदनन्तरं विद्यापीठस्य कार्यवाहकाध्यक्षपदे स्थितानां श्रीमतां एन०वी० गाडगिलमहाशयानां तथा डॉ० सम्पूर्णानन्दमहोदयानाम् अनुरोधमङ्गीकृत्य श्रीलालबहादुरशास्त्रिभिः विद्यापीठस्याध्यक्ष्यं स्वीकृतम्। एतस्य सर्वस्य कार्यजातस्य मूले मण्डनमिश्रैः कृता व्यवस्था अवर्तत। एकं बालमन्दिरमपि प्रारब्धम्। तत्र प्रथमकक्षातः एव संस्कृतशिक्षणं प्रावर्तत। अयं विद्यालयः आगामि-सम्वत्सरे माध्यमिकविद्यालयरूपेण प्रवर्धितः यः कालान्तरेण केन्द्रीयविद्यालय-संगठनाय समर्पितः। असौ एव विद्यालयः अधुना एण्ड्रयूजगंजक्षेत्रे केन्द्रीयविद्यालय-रूपेण कार्यं करोति। अस्य विद्यालयस्य प्रथमा प्राचार्या डॉ० के०आर० मित्रा नियुक्ता आसीत्। अहं नई दिल्लीनगरपालिकायाः मन्दिरमार्गस्थे उच्चतर-माध्यमिकविद्यालये संस्कृतविभागाध्यक्षरूपेण कार्यं कुर्वन्नासम्। तेन सह एव विद्या-पीठस्य सेवा अपि मया अविरलभावेन क्रियते स्म। १९६५ तमे वर्षे अहं पूर्णतया

विद्यापीठस्य शिक्षाशास्त्रिविभागे नियुक्तः अभवम्। विद्यापीठस्य नैकविधानि कार्याणि प्राशासनिकानि, शैक्षिकाणि, प्रचारप्रसारसम्बन्धीनि मया आदिकालादेव सम्पाद्यन्ते स्म।

१९६७ वर्षपर्यन्तं विद्यापीठं दिल्लीप्रशासनतः अनुदानराशिं लभते स्म। अध्यापकाश्च अहर्निशं विद्यापीठस्य समुन्नत्यै कार्यं कुर्वाणाः अवर्तन्त। दुर्दैववशात् रूसदेशे ताशकन्दनगरे लालबहादुरशास्त्रिणां देहावसानानन्तरं विद्यापीठे आर्थिक-संकटं समुत्पन्नम्। दिल्लीप्रशासनेन एतदुक्तं यद् विद्यालयानां कृते एव अनुदान-सहायताप्रदानं दिल्लीप्रशासनस्य अधिकारक्षेत्रे वर्तते, महाविद्यालयानां कृते अस्माभिः साहाय्यं न दीयते। इमां स्थितिं दृष्ट्वा मण्डनमिश्रमहोदयाः केन्द्रसर्व-कारस्य दिल्लीप्रशासनस्य च अधिकारिभिः सह नैकबारं चर्चाः सम्पर्कांश्च अकुर्वन्। अहमपि प्रायः तैः सह स्थाने स्थाने अगच्छम्। मण्डनमिश्रमहोदयानां कर्मनिष्ठा, तर्कशैली, विषयप्रस्तुतिप्रकारः, सर्वमेव प्रभावपूर्णमभवत्। स्मरामि अहं तं विशिष्टावसरं यदा दिल्लीप्रशासनस्य मुख्यायुक्ताः श्री के० किशोरमहोदयाः अस्मिन् विषये चर्चामकुर्वन्। तदानीन्तनाः वित्तसचिवा अपि तत्र उपस्थिता आसन्। मण्डनमिश्रैः स्वीयानि सर्वाणि पत्राणि प्रदर्शितानि तत्रोक्तं च अस्माभिः सर्वं नियमपूर्वकमेव क्रियते। याः नियुक्तयः विहिताः ताः सर्वाः उचितप्रक्रियानुपालने कृताः चयनमण्डलेन साक्षात्कारेण अध्यापकानाम् अन्येषां कर्मचारिणां च चयनं कृतम्। एतस्य सर्वस्य स्वीकृतिः अस्माकमध्यक्षैः लालबहादुरशास्त्रिभिः कृता। अत्र विराजन्ते तेषां हस्ताक्षराणि। अधुना दुर्दैवविपाकात् ते स्वर्गताः सन्ति वयं तु हताः ते एव अस्माकं सर्वस्वम् आसन्। अधुना किं करवाम ? इत्युक्त्वा डॉ० मण्डनमिश्रैः लालबहादुरशास्त्रिणां प्रमाणस्वरूपेण हस्ताक्षराणि प्रदर्शितानि इति दृष्ट्वा वित्त-सचिवाः अवोचन् श्रीमन्! लालबहादुरशास्त्रिभिः एतानि हस्ताक्षराणि विद्या-पीठस्याध्यक्षरूपेण कृतानि न तु प्रधानमन्त्रिरूपेण। इत्युपरि श्रीमद्भिः के० किशोर-महोदयैः उक्तम् नहि नहि एतत् न युक्तम्, "लालबहादुर इज लालबहादुर"। यस्मिन् कस्मिन्नपि रूपे लालबहादुरशास्त्रिणां हस्ताक्षराणि अस्माकं सम्मानं भजन्ते। तैः वित्तसचिवः आदिष्टः यत् अखिलभारतीयसंस्कृतविद्यापीठस्य कृते अनुदानराशिः प्रदेयः। एतेन व्रणिताः मण्डनमिश्राः आर्थिकसंकटरोगस्य उपचाराय स्वीयान् प्रयत्नान् प्रारभन्त। तत्कालीनैः शिक्षासचिवैः श्रीमद्भिः लक्ष्मी ओंकार-जोशीमहोदयैः विद्यापीठस्य विशिष्टाः उपकाराः कृताः। विद्यापीठं तेषां प्रयत्नैः मार्गदर्शनेन च केन्द्रीयसर्वकाराधीनं स्वायत्तसंस्थानं संजातम्।

१९६७वर्षे अखिलभारतीयसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनस्य स्वर्णजयन्तीसमारोहः डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयानां महामन्त्रित्वे सम्पन्नः। एतस्मिन् समारोहे एव प्रधान-मन्त्रिपदे अधिष्ठितानां श्रीमती इन्दिरा गांधी महोदयानामुद्घोषणया स्वर्गीयाणां श्रीलालबहादुरशास्त्रिणां विद्यापीठं प्रति अनुरागातिरेकस्य पुष्ट्यर्थम् अस्य विद्या-

पीठस्य नाम श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठं कृतम्। विद्यापीठस्य कृते भूमेः भवनस्य च व्यवस्था श्री लालवहादुरशात्रिणां साहाय्येन नेपालनरेशाणाम् श्री ५ महेन्द्रवीर विक्रमशाह महोदयानां सान्निध्ये डॉ० मिश्रैः कारिता आसीत्। संस्थासु उच्चावचत्वम् आगच्छत्येव परं डॉ० मिश्रैः स्वीयेन कर्मकौशलेन सर्वासु अवस्थासु विजयः लब्धः, परिस्थितीनां च संस्कृतविकासाय आनुकूल्यम् विहितम्। १९७० वर्षे भारतसर्वकारेण राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानमितिनाम्ना एका स्वायत्तसंस्था स्थापिता। लालबहादुरशास्त्रीविद्यापीठम्, तिरुपतिस्थं केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्, प्रयागस्थं गंगानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठञ्चेति त्रीणि विद्यापीठानि संस्थानाधीनानि संजातानि। मम रीडररूपेण पदोन्नतिः संजाता तेन मुखेन मम स्थानान्तरणं तिरुपतिस्थे केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठे १९७२ तमे वर्षे जातम्। आगामिवर्षे मण्डनमिश्राः अपि प्राचार्यत्वेन आगताः। तस्य विद्यापीठस्य विकासाय च तैः वहुकार्यं कृतम्। वस्तुतः विद्यापीठस्य नूतनभवनाधिग्रहणं डॉ० मिश्रमहोदयानाम् एव प्रशासनसामर्थ्येन संजातम्। तदनन्तरं जम्मूप्रयागविद्यापीठयोः प्राचार्यकार्यं सम्पाद्य पुनः दिल्लीविद्यापीठं समागच्छन्। अत्रागमनानन्तरम् डॉ० मिश्रमहोदयैः ततोऽपि विद्यापीठस्य अधिकाम् उन्नतिं चिकीर्षद्भिः अनेकाः योजनाः निर्मिताः याभिः विद्यापीठस्य विश्वविद्यालयत्वं साध्येत। विद्यापीठस्य कार्यकर्तारः इतस्ततः प्रेषिताः आसन्...... तेषां पुनः लालबहादुरशास्त्रीविद्यापीठे संग्रहः कृतः एतेषु अन्यतमः प्रयासः आसीत् येन अहमपि १९८० तमे वर्षे पुनः दिल्लीं प्राप्तः। डॉ० मिश्रमहोदयानां प्रयासैः अस्य विद्यापीठस्य १९८७ वर्षे विश्वविद्यालयत्वं भारतसर्वकारेण घोषितम्। वस्तुतः अस्यां दिशि सक्रियं कार्यं डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयानां कुलपतिपदे घोषणया सह १९८९ वर्षे एव प्रारब्धम्। अनेकाः आसन् समस्याः आन्तरिक्यः बाह्याश्च। तासां समाधानार्थम् केवलं डॉ० मिश्राः एव समर्थाः आसन् यदि कश्चन अन्यः संस्थापककुलपतिः अभविष्यत् तदा अस्य विद्यापीठस्य विश्वविद्यालयस्य साधनं सम्भवतः हेममृगस्य जन्म इव एवास्थास्यत्।

संस्कृतवियति डॉ० मिश्रमहोदयानामुदयः संस्कृतस्य प्रकाशार्थं अतीवोल्लेखनीयः वर्तते। संस्कृतेन तैः राजनेतॄणां भूरिशः संयोगः कारितः—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद—पं० जवाहरलालनेहरू—डॉ० राधाकृष्णन्—श्री लालबहादुरशास्त्री—एन० वी० गाडगिल—अनन्तशयनमंगार--श्रीमती इन्दिरागांधी—श्री के० आर० नारायणन्—श्री पी० वी० नरसिंहराव—श्री अर्जुनसिंह—श्री कृष्णचन्द्रपन्त—श्री बलरामजाखड़े'त्यादीनां स्थाने स्थाने संस्कृतस्य मञ्चेषु उपस्थापनं मण्डनमिश्राणां प्रगल्भतां प्रदर्शयति। एतेषां मुखेन संस्कृतस्य सम्बन्धे वाचयित्वा सामान्यजनानां मनःसु सत्प्रभावाः स्थापिताः। न्यायविद्भिः मुख्याधिकारिभिश्चापि डॉ० मण्डनमिश्राणां संयोजने संस्कृतस्योपकाराय योगदानं

दत्तम्। एतेषु सर्वोच्चन्यायालयस्य मुख्यन्यायाधीशा: न्यायमूर्तय: सर्वश्री सी० पी० रामास्वामी अय्यर--श्री आई० वी० चन्द्रचूड़—रंगनाथमिश्रमहोदया: प्रामुख्येन गणयितुं शक्यन्ते। विदुषामपि योग्यताया: लाभ: संस्कृतस्य विद्यापीठस्य च कृते एतै: प्राप्त:। एतेषु महामहोपाध्यायगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी—पं० हनुमत्प्रसादशास्त्री—क्षेत्रेशचन्द्रचट्टोपाध्याय:—वी०वी० मिराशी—श्री एस०वी० सोहनी—डॉ० उमेशमिश्र:—पं० बदरीनाथशुक्ल—श्री सुब्रह्मण्यम् अय्यर—डॉ० हजारीप्रसादद्विवेदी—सुनीतिकुमारचटर्जी—रामधारीसिंह'दिनकर'—नाकामूराएता—दृशानां विदुषां नामानि विशेषत: उल्लेखनीयानि सन्ति। डॉ० रामकरणशर्मा—डॉ० सी० आर० स्वामीनाथन् तथा डॉ० मण्डनमिश्र एतेषां मुनित्रयत्वं तु अस्य कालस्य वैशिष्ट्यमभवत्। अहं मन्ये अस्मिन् त्रिके डॉ० मण्डनमिश्रा: एव संयोजने दक्षा: जतुभूता: आसन्।

न केवलं विद्यापीठे अपितु विभिन्नेषु संस्कृतकार्यक्रमेषु वैदिकेषु लौकिकेषु, सामाजिकेषु, धार्मिकेषु, शैक्षिकेषु च मण्डनमिश्रै: सर्वत्र प्राथम्यमेव लब्धम्। अनेकेषु प्रदेशेषु संस्कृत अकादमी संस्थानां स्थापने तेषां सहयोग: अवर्तत। राष्ट्रीयवेदविद्याप्रतिष्ठानस्य स्थापनेऽपि मूलरूपेण कारणभूता: एते एव। एतै: संस्कृतनगरसहकारि-आवाससमिति: स्थापिता यया संस्कृतज्ञानां कृते दिल्लीनगरे आवासा: निर्मापिता:। एतेषां शैक्षिकक्षेत्रे कौशलं विद्यापीठस्य प्राचार्यरूपेण अनेकेषां अमूल्यानां ग्रन्थानां सम्पादनेन प्रकाशनेन च सिद्धयति। प्राशासनिकं कौशल राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानस्य निदेशकरूपेण, श्री लालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठस्य मानितविश्वविद्यालयस्य कुलपतिरूपेण तथा राष्ट्रीयवेदविद्याप्रतिष्ठानस्य सदस्यसचिवरूपेण, राजस्थानसंस्कृत-अकादमी अध्यक्षरूपेण च कृतै: कार्यै: सिद्धयति।

सर्वेषां धर्माचार्याणां च आशीर्वाद: मण्डनमिश्रै: संस्कृतस्य कृते प्राप्त:। उत्तरप्रदेशस्य संस्कृत-अकादम्या एकलक्षरूप्यकपुरस्कारेण तेषां सम्मान: विहित:। कुन्दकुन्दभारती द्वारा आचार्यविद्यानन्दमहामुनीनां सान्निध्ये भारतसर्वकारस्य वित्तमन्त्रिणां डॉ० मनमोहनसिंहमहोदयानां हस्ताभ्यां एकलक्षसम्मानराशि: लब्ध: डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयै:। संस्कृतजगति कार्यं कर्तुमवसरप्रदानार्थं साहू शान्तिप्रसादजैनप्रमुखानां श्रेष्ठीनां कार्तज्ञ्यं एतै: प्रदर्शितम्। विदेशेष्वपि मण्डनमिश्रै: वहुबारं गत्वा संस्कृतसम्मेलनेषु भागं गृहीत्वा संस्कृतकार्यक्रमाश्च सम्पादिता:।

अद्य भारतवर्षे विशेषत: यत्र कुत्रापि संस्कृतकार्यक्रम: प्रचलति तत्र मण्डनमिश्रमहोदयानाम् उपस्थिति: कांक्ष्यते। डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयै: उच्यते यत् संस्कृतमाता तदुपासकेभ्यो वहुददाति परमहम् मन्ये श्रीमद्भि: मण्डनमिश्रैरपि संस्कृताय वहुदत्तम्। अद्य संस्कृतस्य या प्रकाशमयी स्थिति: वर्तते तस्या: सर्वाधिक्यं श्रय: डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयेभ्य: दातव्यम्।

——:o:——

# श्रीमण्डनमिश्रशतकम्

—डा० शिवदत्तशर्माचतुर्वेदी

(१)

श्रीमन्मण्डनमिश्रं लोकोत्तरशेमुषीजुष्टम् ।
कस्तावत्सर्वेषां हृदये संस्थं न जानाति ।।

(२)

अयमेव मिश्रवर्यो मण्डननामास्ति तादृशो लोके ।
दैवी संस्कृतभाषा येन पुनर्दीपिता विश्वे ।।

(३)

देशस्वतन्त्रतायां संजातायां सुसंस्कृता भाषा ।
संसारेषु निकामं पुनरपि विद्योतिता येन ।।

(४)

विश्वे जीवनभूता सेयं सर्वत्र संस्कृता वाणी ।
तस्या ये सेवायां निरता लोके नितान्तधन्यास्ते ।।

(५)

अस्मन्नयनाग्रे यो नितान्तदीप्तां नु संस्कृतां कुरुते ।
तस्य श्रेष्ठतमत्वं केनात्र कथं विलोपितुं शक्यम् ।।

(६)

शीर्षे स्थित्वा सोऽयं वदति पुनः स्वस्य पूज्यतां रुचिराम् ।
पूज्यां कामपि शैलीं मण्डनमिश्रो विधारयते ।।

(७)

राजस्थानस्यायं केसरिरूपं समास्थाय ।
यां गर्जनां प्रकुरुते लोकोऽयं वशगतस्तया नित्यम् ।।

( ८ )

एतदुपस्थितिमात्रं जनतोत्साहांस्तरङ्गयति ।
देशे तथा विदेशे संस्कृतजगतामयं मान्यः ॥

( ९ )

राजस्थाने यो वै संजातस्तस्य वीरता सहजा ।
श्रीमान् मण्डनमिश्रः संस्कृतवीरः समाभाति ॥

( १० )

युद्धेषु वीरभावो राजस्थानेषु यादृशः ख्यातः ।
संस्कृतशत्रुनिकाये स्वीकृत एवात्र मण्डनैरेभिः ॥

( ११ )

क्षणे क्षणे सत्कार्यं कुर्वाणोऽयं तथाऽऽभाति ।
यथार्जुनोऽसौ युद्धे कृतकाया वीरतैव स्यात् ॥

( १२ )

हृतप्रभास्ते जाता ये वा शत्रुत्वमापन्नाः ।
संस्कृतविद्यावर्धनकर्मणि व्रतमेव धारितं तेन ॥

( १३ )

ये वै प्रतीकभूता इतिहासेषु प्रतीकसत्पुरुषाः ।
तेषामुज्ज्वलरूपं ह्यादायाऽसौ विनिर्मितः कश्चित् ॥

( १४ )

श्रीगिरिधरशर्माणो विख्याता ये चतुर्वेदाः ।
तेषां भाषणकलया दीप्तोऽयं मण्डनो मिश्रः ॥

( १५ )

श्रीरामेश्वरशिष्योरामेश्वरदत्तविज्ञानम् ।
सत् शिक्षणं तदीयं प्राणादूर्ध्वं सदा मनुते ॥

( १६ )

सेवितचिह्नस्वामी विद्वद्वर्यप्रकाण्डानाम् ।
सेवायां प्रविनम्रो नम्रत्वं स्वीकरोति गुणरूपम् ॥

( १७ )

विद्वत्प्रकाण्डमण्डलमध्यगतं श्रीबृहस्पतिं साक्षात्।
पट्टाभिरामवर्यं संसेवितवांश्चिराय धन्योऽसौ ॥

( १८ )

जयपुरनगरे दिव्ये सर्वविधं यत्नमास्थाय।
गुणगौरवसंघटनातेनकृता दिव्यरूपैव ॥

( १९ )

अध्यापकतां स्वीयामारभ्यात्रैव सेवार्थम्।
भारतसेवि-समाजः सम्यक् संसेवितोऽनेन ॥

( २० )

सुखाड़िया नामा यो मुख्यो मन्त्री विभावितसुरूपः।
तेन सहास्य च मैत्री कामपि कमनीयतां याता ॥

( २१ )

जयपुरनगरं चैतत्प्रतीकभूतं तु विश्वमात्रस्य।
तत्र स्थित्वा नूनं सर्वः सफलो भवति जीवः ॥

( २२ )

नगरी सेयं जयपुरसंज्ञां प्राप्ता जयं निखिलम्।
प्रगुणीकृत्य निवासं तस्यात्रैव प्रयोजयति ॥

( २३ )

तत्र नगर्यां ये वै संजातास्ते जयं प्राप्य।
यावज्जन्मा सुगौरवपूर्णे स्थाने सुशोभन्ते ॥

( २४ )

सन्त्येवाऽन्यनगर्यः किन्तु विशिष्टात्र जयपुराभिख्या।
नगरी समस्तविश्वे तुलनां नतमां विधारयति ॥

( २५ )

यद् हृदये गोविन्दोवंशीमेकामहर्निशं दिव्याम्।
राधासहितो गायति का वा तस्या हि तुलना स्यात् ॥

( २६ )

श्रीरामचन्द्रमन्दिरमादायात्रैव चैकदेशेषु।
संस्कृतविद्याशाला विश्वख्याता विराजिता यत्र।।

( २७ )

आंग्लानां विद्यानां विशालशाला: प्रतिष्ठिता यत्र।
ज्ञानानां तु समुद्र: कश्चन नित्यं तरंगितस्तत्र।।

( २८ )

यस्मिन् कालेऽन्यत्र च विज्ञानं स्वल्पतममासीत्।
तस्मिन् काले सेयं नगरी विज्ञानदीपितैवासीत्।।

( २९ )

राजस्थानप्रान्तं त्यक्त्वा किं वास्ति भारतं वर्षम्।
संसारो गतशोभो राजस्थानं विना ज्ञेय:।।

( ३० )

तस्यैव राजधानी जयपुरनगरी विभाति मूर्धन्या।
पुण्यमयीयं नगरी धन्या सर्वैर्विराजिता देवै:।।

( ३१ )

तत्र शिरोमणिभूतो मण्डनमिश्रोऽस्ति कामरूपोऽयम्।
सर्वान् संस्कृतकामान् पूरयितुं नित्यसंनद्ध:।।

( ३२ )

अभिनन्दनयोग्योऽयं सर्वेषां संस्कृतज्ञानाम्।
मान्यस्तथा वदान्यो भातितरां भूमिवलयेऽस्मिन्।।

( ३३ )

अद्यापि नित्यमसमो नेता संस्कृतसमाजस्य।
देहल्यां देहल्यां देहल्यां भाति सर्वत्र।।

( ३४ )

सर्वाभ्यो नगरीभ्यो गरीयसी देहलीनगरी।
भारतवर्षस्येयं विख्याता राजधानीति।।

( ३५ )

तस्यां नासीत्कश्चन संस्कृतविद्यालयोऽप्येकः।
गौरवसहितं किञ्चिन्नाम यदीयं ग्रहीतुमपि शक्यम् ॥

( ३६ )

महामहोपाध्यायः श्रीहरिनारायणः शास्त्री।
देहल्यामेवासीत्प्रख्यातो भारते वर्षे ॥

( ३७ )

प्रभुदत्तशास्त्रिवर्यो विचक्षणः कविवरो वापि।
देहल्यामेवासीत्प्रकाण्डपाण्डित्यपरिपूर्णः ॥

( ३८ )

विद्यालंकारोऽसौसीदिन्द्रः समीहितः सर्वैः।
केन्द्रीभूतं किन्तु स्थानं नासीत्तु संस्कृतायात्र ॥

( ३९ )

गमनागमनं त्वासीत्सर्वेषामेव धीराणाम्।
किन्त्वत्र राजधान्यां संस्कृतशिक्षा नगण्यासीत् ॥

( ४० )

श्रीगिरिधरशर्माणो नैकं वारं प्रकटयन्तः।
खेदं नैजं परमं मृशन्ति स्माथ विषयेऽस्मिन् ॥

( ४१ )

श्रीमान् नरहरिविष्णुर्गाडगिलो धारयामास।
संस्कृतविद्याशालानिर्माणं शीघ्रमेव संस्कर्तुम् ॥

( ४२ )

श्रीदेशमुखवरेण्यश्चार्थिकमन्त्री तु देशस्य।
विषयेऽस्मिन् सन्नद्धो मिलति स्मात्रैव सर्वदा दीप्तः ॥

( ४३ )

राष्ट्रपती राजेन्द्रप्रसादवर्योऽथ संस्कृते भक्तः।
विद्यालयस्य कायां समर्थयामास हृदयेन ॥

( ४४ )

बलवन्तो नागेशो दातारो दक्षिणस्वामी।
संस्कृतसेवाकार्ये सर्वैः संसाधितो यत्नैः॥

( ४५ )

श्रीमाँल्लालबहादुरशास्त्री प्राणोऽस्य देशस्य।
मण्डनमिश्रैरेभिः संस्कृतकार्ये समानीतः॥

( ४६ )

भारतदीप्तिः साक्षात्काचित्सा चेन्दिरागान्धी।
संस्कृतसमाजमध्ये संगतिमसमां करोति स्म॥

( ४७ )

राधाकृष्णन्वर्यो राष्ट्रपतिः पूजितः सर्वैः।
संस्कृतसंसेवायां शोभनभावैः समानीतः॥

( ४८ )

मण्डनमिश्रः सोऽयं मण्डयितुं सर्वसंसारम्।
संस्कृतभाषादीप्त्या सततंलग्नः समाभाति॥

( ४९ )

नित्यमसंख्यातानां हृदयानां यो विकासयिता।
मण्डनमिश्रः सोऽयं कथमिव संवर्ण्यतां नाम॥

( ५० )

यत्राऽस्ति गुणगणानामहमहमिकयैव संस्थितिः काचित्।
श्रीमान् मण्डनमिश्रः सोऽयं सर्वत्र वन्दनीयोऽस्ति॥

( ५१ )

संस्कृतविद्योन्नतये समर्पिताः सर्वनिःश्वासाः।
काव्यमयोऽयं पुरुषो मण्डनमिश्रो विनम्यते सर्वैः॥

( ५२ )

यस्य हि कृपाकटाक्षं सम्प्राप्तुं दूरदूरतरदेशात्।
आगच्छति जनतेयं वन्द्योऽसौ मण्डनो मिश्रः॥

( ५३ )

साहित्यस्य समुद्रं विलोडमानेन तेनैव।
ग्रन्थानां निर्माणं कृतमास्ते दिव्यतायुक्तम्॥

( ५४ )

आचामन्ति यदीयं पुण्योत्कर्षं जनाः सर्वे।
तादृशलोका निखिले संसारे वन्दनीयाः स्युः॥

( ५५ )

येषां यशसा धवलीकृतमेवेदं नभो निखिलम्।
तेषां पूज्यत्वं वा केनाधन्येन नो धार्यम्॥

( ५६ )

एतत्काव्यं शतकं यद्वर्णनलग्नमाभाति।
सोऽयं मण्डनमिश्रः सर्वेषां माननीयोऽस्ति॥

( ५७ )

केचित्क्वचित्कथंचिद् विख्याता यान्ति सफलत्वम्।
सूर्यसमोऽसौ राजति मण्डनमिश्रस्तु संस्कृताऽकाशे॥

( ५८ )

येन विना नो कार्यं संसिध्यति संस्कृतस्याद्य।
सोऽयं मण्डनमिश्रः कथं न संस्तूयतां नाम॥

( ५९ )

परंपरां यो रक्षति परिपालयते च नित्यशो नूत्नाम्।
तस्यास्यैव वरेण्यस्यात्र सभाजनमहो जातम्॥

( ६० )

नित्यमहोभावैरयमादीप्तः सर्वकार्याणाम्।
संचालनसंवर्धनसंयोजनकौशलं धत्ते॥

( ६१ )

मित्राण्याकारयते कार्ये कार्ये नियोजयति।
धनपूजां संमानं कुरुते कारयति चाह्वानैः॥

( ६२ )

पूज्यानां पूजायां व्यतिक्रमं नो कदापि यः कुरुते।
तेनैव वर्धितमना जयत्यसौ मण्डनो मिश्रः॥

( ६३ )

युगनिर्माता पुरुषः कश्चित्संजात एवाऽयम्।
देहल्यां येनाऽसौ संस्कृतसंसार आरचितः॥

( ६४ )

निखिलेऽस्मिन् सद्देशे प्रान्ते प्रान्ते विनिर्मितान्यत्र।
विद्यापीठान्यमुना पुण्यमिदं संस्कृतस्यैव॥

( ६५ )

केन्द्रप्रशासनानां ध्यानं सत्संस्कृते कर्तुम्।
दिवानिशं कार्याणां मध्ये सन्तिष्ठते शूरः॥

( ६६ )

संस्कृतजागरणानां दिव्यं कालं समानेतुम्।
दिव्यभविष्यत्कालं साधयितुं लग्न एवाऽयम्॥

( ६७ )

भारतराष्ट्रपतिश्रीवेंकटरामन् महाशयो नूनम्।
संस्कृतसेवाकार्ये सन्नद्धो नित्यमेवास्ते॥

( ६८ )

श्रीनरसिंहो रावः प्रधानमन्त्री तु देशस्य।
संस्कृतसेविसमाजे बद्धादर एव बाभाति॥

( ६९ )

श्रीमानर्जुनसिंहः शिक्षामन्त्रीमहोदयोऽनेन।
संस्कृतसेवाकार्ये समीकृतो यत्नमास्थाय॥

( ७० )

संस्कृतसेवायां ननु सर्वे बद्धादरा जाताः।
तेषां प्रबोधकार्ये संलग्नो मण्डनो मिश्रः॥

( ७१ )

यस्मिन् दिव्ये कर्मणि सर्वेषां वै मनो लग्नम् ।
संयोजनाख्यकार्यं सुदुस्तरं दृश्यते लोके ।।

( ७२ )

संस्कृतसेवा सर्वेषासैषामान्तरे रचिता ।
गंगामवतारयितुं भगीरथो मण्डनो जातः ।।

( ७३ )

संस्कृतगंगां योऽसौ भूमाववतारयति नित्यम् ।
तस्याः प्रवाहममलं जनजननिकटे समातनुते ।।

( ७४ )

विद्वत्संघानेतान् प्रगुणीकुरुतेऽद्य निर्मलैर्यत्नैः ।
परिपूजयते विद्वत्संघानेतान् सदाह्वानैः ।।

( ७५ )

सर्वविधं श्रमजातं स्वीकृतमेतेन सेवार्थम् ।
अपमानान्यपि सोढान्यैतेनात्रैववन्द्येन ।।

( ७६ )

सुमहत्कार्यविलग्नैः पुरुषैर्यद्यत् प्रकल्प्यते पश्चात् ।
तत्सर्वं विज्ञातं येनात्रैवाथ पूर्वमेव ननु ।।

( ७७ )

मीमांसाकेसरिणां श्रीमत्पट्टाभिरामाणाम् ।
शिष्यत्वं समवाप्यह्यासादितमेव जीवनं तत्त्वम् ।।

( ७८ )

वाराणस्यामपि वा दिव्यं संस्थानमद्य निर्माय ।
वैदिकलौकिकसेवाकर्मणि निरतो विराजते सोऽयम् ।।

( ७९ )

कामं सन्तु सुविपुला विद्वांसो वाथवाचार्याः ।
कर्मसु कर्मसु कुशलः किन्त्वेको मण्डनो मिश्रः ।।

( ८० )

ते ते ते विद्वांसस्तिष्ठन्तस्तत्र तत्रैव।
सर्वेषामपि पार्श्वे तिष्ठत्येकस्तु मण्डनो मिश्रः॥

( ८१ )

बाधादूरीकरणे वृत्तीनां सम्प्रदाने वा।
सम्पूर्णं सद्यत्नं कुर्वन्नाभाति भव्यतां यातः॥

( ८२ )

भास्करराजितगेहो वाचस्पतिमण्डितस्वान्तः।
श्लोकैः संस्तवनीयो नित्यमयं मण्डनो मिश्रः॥

( ८३ )

विद्या विनीतकायो नित्यं सत्यं विगतमायः।
दिव्यभारतीजायो मण्डनमिश्रस्य संकायः॥

( ८४ )

श्रीमद्धनुमत्सेवासंधारितभक्तिसारोऽयम्।
भक्तिमये साम्राज्ये विनीतवेशो विभाति मधुराभः॥

( ८५ )

नम्रं भावं नित्यं भजमाना देशनेतारः।
भारतवर्षसमुन्नतिकर्मणि सफला विलोक्यन्ते॥

( ८६ )

श्रीनरसिंहोराव: प्रधानमन्त्री विनम्रताभरितः।
आशासंचाराणामद्यतनी मूर्तिरेवाऽस्ते॥

( ८७ )

संस्कृतमेव नितान्तं भारतवर्षस्य सर्वस्वम्।
आत्मा भारतवर्षस्यास्ते सा संस्कृता वाणी॥

( ८८ )

कामं संस्कृतभाषासंभाषणमौनतामाप्ताः।
लोकाः सन्तु, समस्तां श्रद्धां तत्रार्पयन्ति हृदयेन॥

( ८९ )

अयमेवाद्य सुमिलितः कालस्त्वेतादृशो दिव्यः।
भारतवर्षस्यात्मा यास्मिन् नूनं विकासमायातः॥

( ९० )

कालस्य येऽपि लाभं स्वीकर्तुं नो विजानन्ति।
ते तु विफलताभरिता जन्मनि जन्मनि विजायन्ते॥

( ९१ )

कालेऽस्मिन् भाषेयं पूर्वं गौरवमनुध्याय।
सर्वैः प्रचारणीया संपोष्या सर्वभावेन॥

( ९२ )

संस्कृतसाहित्ये या श्रद्धा सर्वेषु देशेषु।
तस्या लाभं प्राप्तं यत्नान्यायोजनीयानि॥

( ९३ )

नो चेद् भारतवर्षस्यास्तित्वं नैव सन्तिष्ठेत्।
अन्योन्नतभावानामन्ये देशाः प्रवीणाः स्युः॥

( ९४ )

वैज्ञानिकोन्नतीनां योगः सत्संस्कृतेन संस्कार्यः।
तेन समुज्ज्वलरूपैर्भाषेयं द्योतितैव स्यात्॥

( ९५ )

अद्याप्यनेकलक्षं संख्या या संस्कृतज्ञानाम्।
कोटिमिता सा वर्धतु यत्नानुष्ठानवेलायाम्॥

( ९६ )

सर्वविधैर्नवयत्नैर्वर्धत एवाद्य संस्कृता वाणी।
जनतायां किन्तु तथा विज्ञानं संस्कृतस्य नैवास्ते॥

( ९७ )

जनतन्त्रात्मकशासनपद्धत्यां जनमनस्सु या तिष्ठेत्।
भाषा सैव नितान्तं संशोभितवैभवा भवति॥

( ९८ )

हेतोरस्मान्नित्यं मण्डनमिश्रादयो देशे ।
भ्राम्यन्तः परिचरणं प्रचाररूपं प्रकुर्वन्ति ।।

( ९९ )

कुलपतिपदास्थितानामेतेषां मण्डनाद्यानाम् ।
या दीप्तिः प्रस्फुटिता नूनं सा वन्दनीयैव ।।

( १०० )

संस्कृतविद्याशाला याश्चैता निर्मिता जाताः ।
तासां विभाविलासा देशोन्नतिरूपका एव ।।

( १०१ )

महामहोपाध्यायश्रीगिरिधरविद्वत्तनूजन्मा
शिवदत्तचतुर्वेदो मण्डनशतकं निवेदयते ।।

——o——

# वर्णमातृकामण्डन—डॉ० मण्डन मिश्र

—डॉ० शिवसागर त्रिपाठी

विद्याधिष्ठात्री वर्णमातृका देवी शारदा के परमोपासक विद्वन्मण्डलमण्डन डा० मण्डन मिश्र का अभिधान संस्कृत जगत् में सर्वश्रुत और विश्रुत है। आप में नैसर्गिकी प्रतिभा है, पर उसे श्रम निष्ठा और समर्पण भाव ने और भी प्रखर बना दिया है। आचार्य दण्डी ने ठीक ही लिखा है—'श्रुतेन यत्नेन च वागुपाश्रिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्'। आपने अपना समग्र जीवन संस्कृति, विशेषतः संस्कृत के पर्युत्थान में लगाया और उसे अपने पैतृक गाँव हणूतिया किंवा अपरा काशी जयपुर नगरी से उठाकर राष्ट्रिय ही नहीं, उसे अन्तरराष्ट्रिय प्रतिष्ठा दी।

एक सामान्य ग्रामीण पण्डित-परिवार में जन्मे युवक मदनलाल शर्मा से डा० मण्डन मिश्र तक की यात्रा उनके उदीयमान एवं उत्तरोत्तर परिवर्धमान व्यक्तित्व का अनुकरणीय निदर्शन है। आपने उच्च शिक्षा आचार्य और एम०ए० के बाद पी-एच्०डी० तक प्राप्त की। विविध पुरस्कारों और विद्याभास्करादि उपाधियों की शृंखला में सर्वोच्च राष्ट्रपति पुरस्कार का सम्मान अर्जित किया। देश और विदेश में ख्यातनामा डा० मण्डन मिश्र में अहङ्कारज्वर लेश मात्र भी नहीं आया। ठीक ही है—'विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वम्'।

संस्कृत पण्डित प्रायः सरल, प्रौढि सम्पन्न, अन्तर्मुखी और परम्परावादी हुआ करते हैं, पर मण्डन जी इस दृष्टि से कूटनीतिज्ञ और व्यवहारविद् भी हैं। समय के साथ चलना उन्हें आता है। प्रवञ्चनामय जगत् में वह सदा सचेत और जागरूक रहते हैं। तभी तो पूर्व प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री, अपने जयपुर आगमन पर मिश्र जी के घर पर, सहसा कह उठे थे कि मैंने ऐसा व्यवहार-कुशल और चतुर संस्कृत पण्डित नहीं देखा। 'विद्याविनयेन शोभते'—यह उक्ति भी उन पर पूर्णतः घटित होती है तभी तो वे मन्त्रियों, नेताओं, साधु-सन्तों और उच्चाधिकारियों से संस्कृत सेवार्थ कठिन कार्यों को भी सम्पन्न करा सके। वस्तुतः लेखनी पकड़कर काम करवा लेने की इनमें अपूर्व क्षमता है।

आपके उल्लेखनीय कार्यों में अ० भा० संस्कृत साहित्य सम्मेलन में महासचिवत्वेन सक्रियता, दिल्ली में राजेन्द्र संस्कृत पुस्तकालय तथा राजस्थान में मनोहरपुर, मानपुरी, महापुरा और मेड में संस्कृत विद्यालयों की स्थापना है। दिल्ली में दिल्ली संस्कृत विद्यापीठ की भी स्थापना की थी, जो आगे चलकर श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ और बाद में विश्वविद्यालय के स्तर

को प्राप्त कर सका। मिश्र जी क्रमशः इसके निदेशक, प्राचार्य और कुलपति बने और इसी पद से अवकाश प्राप्त किया।

मिश्र जी ने अपने प्रभावकौशल से प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों की स्थापना की और संस्कृत-प्रौढि की रक्षा करने का प्रयास किया। यही नहीं दिल्ली और तिरुपति में संस्कृत विश्वविद्यालयों की भी स्थापना की। जयपुर में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। उच्चशिक्षामन्त्री की ओर से घोषणा हो चुकी है। अब कार्यान्वयन की प्रतीक्षा है।

जयपुर में राजस्थान संस्कृत अकादमी की स्थापना में भी आपका योगदान रहा, जिसके आप प्रथम अध्यक्ष बने। इससे राजस्थान में संस्कृत का चतुर्दिक् विकास हुआ। सारस्वत सर्जना के प्रोत्साहन हेतु त्रैमासिकी स्वरमङ्गला का प्रकाशन प्रारम्भ किया और लेखकों के लिए प्रकाशन सहायता की व्यवस्था की। साथ ही सर्वोच्च माघपुरस्कार, पन्नालाल जोशी पुरस्कार, आ० नवलकिशोर काङ्कर वेदाङ्ग पुरस्कार और गद्यलेखन में अम्बिकादत्त व्यास पुरस्कार प्रचालित किये। इसी योजना में व्यास पुरस्कार मुझे भी प्राप्त हुआ। अपनी पत्नी की स्मृति में महिलाओं के लिए भारती मिश्रा पुरस्कार प्रारम्भ किया। आज नाट्यविद्या, व्याकरण, काव्यशास्त्र, अनुसन्धान, विज्ञान आदि पर विविध पुरस्कार भी दिये जा रहे हैं। अस्तु,

डा० मिश्र का प्रिय विषय मीमांसा दर्शन रहा है, जो आपको अपने गुरु श्री पट्टाभिराम शास्त्री से विरासत में मिला है। आपने इस गुरु-गरिमा को बनाए रखा तथा छात्रों में निहित व्युत्पत्ति को जागृत करने और स्तरीय ज्ञान के सम्पादन में दत्तचित्त रहे हैं। लगभग १५ छात्रों को पी-एच्०डी० उपाधि के लिए निर्दिष्ट किया। लगभग ५० शोधपत्र, ५५ आकाशवाणी या दूरदर्शन कार्यक्रम तथा ४० रचनाओं के लेखन या सम्पादन के रूप में साहित्य सेवा की है। इसके अतिरिक्त सभा-चातुर्य, वाक्पाटव, सौम्यता, सदाशयता और उदारता आदि आपके व्यक्तित्व के गुण हैं। आप मित्रों और विद्वानों के प्रति आत्मीय भाव रखते हैं और उनका समादर भी करते हैं।

मिश्र जी से मेरा परिचय बहुत पुराना है। १९५६ में राजकीय महाविद्यालयीय सेवा में ब्यावर आने के बाद एक विशाल सारस्वत समारोह के रूप में चित्तौड़गढ़ में आयोजित अ०भा० संस्कृत साहित्य सम्मेलन में मैं प्रथमतः सम्मिलित हुआ। इसमें मेरा देश के विशेषतः राजस्थान के विद्वानों से सम्पर्क हुआ। वहीं विद्वन्मूर्धन्य पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के दर्शन किये और ओजस्विनी वाग्मिता सुनी। वहीं मैंने देखा कि एक छरहरे शरीर का कृशकाय युवक मञ्च-सञ्चालन का गुरुतर भार वहन किये हुए है और धाराप्रवाह संस्कृत बोलकर एक चुम्बकीय

आकर्षण पैदा कर रहा है। यह युवक और कोई नहीं मिश्र जी ही थे। यहीं से मेरो परिचय-यात्रा प्रारम्भ हुई। विभिन्न सम्मेलनों, समारोहों, संगोष्ठियों और समितियों में यह प्रगाढ़तर होती गयी। मैंने पाया उनमें सहयोग, उपकार और परहित की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। साथ ही पिछली पंक्ति को आगे बढ़ाने और साथ में लेकर चलने का दायित्व भी वे निभाते हैं। संस्कृत के नाम पर कहीं कुछ हो रहा हो, उसे तन, मन, धन से प्रोत्साहित करने का लक्ष्य आपका रहता है, अतः आपकी उपस्थिति से गरिमा के साथ 'रौनक' भी बढ़ जाती है।

संस्कृत विभागाध्यक्ष, (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) के रूप में मैंने समारोहों या विभागीय कार्यों के लिये जब-जब स्मरण किया, तब उन्होंने सद्यः सहयोग प्रदान किया। इस समय आपने संस्कृत-विभाग के संस्थापक डा० पुरुषोत्तम लाल भार्गव की अध्यक्षता में और डा० रामचन्द्र के आतिथेयत्व में जिस संस्कृत-शोध-परिषद् का उद्घाटन किया था, वह आज भी यथावत् चल रही है।

डा० रामचन्द्र द्विवेदी आप के अभिन्न थे—एक और एक ग्यारह थे। इन दोनों की ही संस्कृत-सेवा अविस्मरणीय है। अतः २७ सितम्बर '९३ को जब डा० द्विवेदी का रेल दुर्घटना में आकस्मिक निधन हो गया तो जैसे आपको पक्षाघात हो गया। अतः जब आपने प्रस्ताव रखा कि डा० द्विवेदी की स्मृति में कोई आयोजन होना चाहिए, तो मैंने इसे तत्काल स्वीकार कर लिया, क्योंकि हमारे विभाग पर तो वज्रपात ही हुआ था। योजना बनी और 'शैवागम की वेदमूलकता और डा० द्विवेदी का वेद, दर्शन और साहित्य को अवदान' विषय पर एक द्विदिवसीय राष्ट्रिय संगोष्ठी करने का मानस बना। डा० मिश्र ने महर्षि सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान (उज्जैन) से तथा तत्कालीन कुलपति डा० टी० के० एन्० उणित्तान ने विश्वविद्यालय से आर्थिक अनुदान की व्यवस्था की।

इस संगोष्ठी की सफलता के लिए आप सदा सचेत रहे। लगभग प्रतिदिन मुझसे दूरभाष पर दैनन्दिन प्रगति से अवगत होते रहे तथा समस्याओं के समाधान में योग देते रहे। फलतः १५-१६ मार्च १९९४ को यह कार्यक्रम सम्पन्न हुआ, जिसमें देश के विश्वविद्यालयों, कालेजों, शोध संस्थानों से, तथा स्थानीय कुल मिलाकर लगभग ६० विद्वान् सम्मिलित हुए, जिनमें स्वयं डा० मण्डन मिश्र (कुलपति ला०शा०रा०सं० विद्यापीठ मानित विश्वविद्यालय, दिल्ली), डा० वेङ्कटाचलम् (कुलपति डा० सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), डा० रमारञ्जन मुखर्जी (कुलाधिपति, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ मानित विश्वविद्यालय, तिरुपति), डा० सी० आर० स्वामिनाथन् (वरिष्ठ शिक्षाविद्) डा० आर्० एन्० सिंह (वर्तमान कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) डा० दयानन्द भार्गव (संस्कृत विभागाध्यक्ष, जोधपुर विश्वविद्यालय) डा० राधावल्लभ त्रिपाठी (संस्कृतविभागाध्यक्ष, सागर विश्वविद्यालय) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार डा० मण्डन मिश्र की बहुमुखी कार्यावली प्रशस्य है। शोध-प्रभा के इस विशेषाङ्क के लिए यह संस्मरणात्मक लेख लिखते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है, साथ ही मन भी पवित्र हो रहा है—'विद्वत्संस्मरणान्नूनं पूतं भवति मानसम्'।

इस अवसर पर मैं डा० मिश्र के दीर्घायुष्य और सुस्वास्थ्य की कामना करता हूं, साथ ही उस वन्दनीय की वन्दना करता हूं, क्योंकि—

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥

# कश्यपमीरे १९६२ ईस्व्यां डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयानाम् ऐतिहासिकीयात्रायाः वर्णनम्

--डॉ० बदरीनाथकल्ला

"अहो सुन्दरमुद्यानं कुङ्कुमपुष्पवासितम् ।
वसन्ततौं कथं नष्टं झञ्झावातेन सांप्रतम् ।।"

मीमांसादर्शनमर्मज्ञानां संस्कृतसेवाव्रतनिरतानां विविधशास्त्रनिष्णाता-नामनेकपुरस्कारप्राप्तलब्धयशसां देशेसंस्कृतविद्यापीठस्थापनाभिः [संस्कृतस्यलुप्त-महिमावर्धकानां भारतमानचित्रे संस्कृतातीतगौरवप्रतिष्ठितानां श्रीलालबहादुर-शास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठस्य पूर्वकुलपतीनां डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयानां नाम संस्कृत-जगति को न वेद ?

एभिः सह मदीयः प्रथमः साक्षात्कारो वितस्ताविमलजलधारापवित्रिते श्रीनगरे मईमासस्य विंशतितारिकायां १९६२ ख्रिस्ताब्दे जातः । तदानीमहं 'कश्मीर संस्कृत साहित्य सम्मेलनस्य' महामंत्री आसम् । श्रीनगरस्थ-गणपतिविहारे (वर्तमान-गणपतयार) मद्गृहे आगत्य डॉ० मण्डनमिश्रमहाभावानां व्यक्तित्वेन मत्परिवारस्य सर्वे सदस्याः प्रसन्नमनस्काः जाताः विशेषतः कर्मकाण्डविशारदा मत्पितृपादाः पण्डितविदलालकल्ला, एषामल्पे वयसि संस्कृतोद्धारप्रयासं दृष्ट्वा आश्चर्यचकिता बभूवुः । तदानीं पितृपादैः कश्मीरीभाषायामहं कथितः 'यत् सुरभारतीसमुपासका डॉ० मण्डनमहोदया अवश्यं स्वनिष्कामकर्मणः फलं प्राप्स्यन्ति' । तस्मिन् काले तत्कथनस्याभिप्रायो मया न ज्ञातः । अधुनाहं चिन्तयामि तत्कथनन्तु सत्यमेवसिद्धम् । यतः "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः" इत्युक्तेः ।

पश्चात् मिश्रमहोदयानां कार्यप्रणालीमनुसृत्य मया कार्यक्रमस्य रूपरेखा निर्मिता । द्वितीयदिवसे २१ तारिकायां कश्मीरसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनस्य कार्य-कर्तृणामेकाऽन्तरङ्गसभा, एषामाध्यक्ष्ये सम्पन्ना यस्यां डॉ० मिश्रमहोदयैः संस्कृत-शताब्दीग्रन्थयोजनायाः कार्यपद्धतिः विस्तारेणास्माकं समक्षं समुपस्थापिता । तृतीयदिवसे श्रीनगरस्थे सत्थू बरबर शाहे 'महिलामहाविद्यालये' विशेषाधिवेशनं सम्पन्नम् । मिश्रमहोदयानां सम्माने मया पूर्वं कवितापाठो विहितः । पश्चात् स्वागतभाषणं महामंत्रिरूपेण दत्तम् । अत्र तत्साररूपं प्रस्तूयते—'अखिलभारतीय संस्कृतसम्मेलनस्य महान्तमुत्तरदायित्वपूर्णं कार्यभारं स्वीकृत्य, विविधप्रान्तपर्यटन-

कार्यक्रमे सर्वप्रथममत्रभवद्भिः भारतललामभूते कश्यपमीरे (कश्मीरे) पदार्पणं कृतमस्ति। तदर्थं काश्मीरिका वयं संस्कृतभाषाप्रेमावर्जितहृदयाः श्रीमतां महान्तमाभारं मन्यामहे। विशेषतः महानुभावेन भवता यदद्य निजसमयमूल्यमपरिगणय्य स्वपुण्यागमनेन अस्य कश्मीरसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनस्य गौरवं संवर्धितमस्ति, तेन वयमत्रभवतो महान्समुपकारमङ्गीकुर्वन्तोऽत्रभवत शतशो धन्यवादान् वितरामः, श्रीमतांदर्शनसौभाग्यं प्राप्य च वयमात्मानं परमसौभाग्यशालिनं मन्यमानाः, प्रेम्णा हर्षेण च तत्र भवतोऽभिनन्दनं कुर्वतः श्रीमते सविनयं सश्रद्धं च हार्दिकं स्वागतं व्याहरामः"। पश्चात् सं० सा० सम्मेलनस्य अध्यक्षैः जगद्धरभट्टसदृशैः प्रो० जगद्धरज़ाडूशास्त्रिभिः स्वागतभाषणमकारि—"विदितमेव एतत् अत्रभवतां महोदयानां यत् कश्मीरदेशस्य गरिमापूर्णमतीतं सर्वथा श्लाघनीयं कौतुकवर्धकञ्च वर्तते। सरस्वतीवरदपुत्र! श्रूयते च यत् यथा भवन्नामसादृश्यमावहतः मीमांसकस्य मण्डनमिश्रस्य गृहे शुकसारिका देववाणीं व्याहरन्तिस्म। तद्वदेवात्रापि काश्मीरेषु गृहे गृहे स्त्रियोऽपि मातृभाषावत् संस्कृते प्राकृते च विलासयुक्तं वाक्चातुर्यं निरर्गलं प्रकटीचक्रुः"।

"आस्तां तावदेतावदेवाधुनाऽन्ये च सन्ति अस्यां संसदि संस्कृतज्ञाः बहवः पण्डिता ये अस्मिन् विषये निजानल्पप्रज्ञया प्रकाशपुञ्जं परिक्षिप्य, इतिहासगर्भस्थितं तथ्यञ्चानावृत्य प्रचुरां सामग्रीमुपस्थापयितुं शक्नुवन्ति।"

"निखिले भारतेवर्षे प्रतिप्रान्तं संस्कृतसम्मेलनस्य शाखाः संस्थापयता श्रीमताविरतेनाश्रान्तेन च देवभाषायाः प्रचारो विधीयते। सत्पात्राणां साहाय्यसम्मानदान-समुत्साह-संवर्धनेन समद्भूतं श्रीमतः शीतकर-कर-सन्दोह शुभ्रं यशः प्रतिदिशं विद्योतते। सद्विवेक-सद्गुणग्राहित्व-सदाचारसौजन्यादिगुणगण-मण्डितस्य मण्डनमिश्रस्येव भवतोऽनन्तगुणकीर्तनं कियत् पर्यन्तमस्माभिः प्रस्तोतुं पार्यते।"

"श्रीमतः शुभागमनेन वयं नितान्तंकृतकृत्याः स्मः। अस्यां संसदि च यदद्यभवतः पदार्पणं तस्य स्मृतिः चिरकालमस्माकं हृदयपटलेषु उट्टंकिता स्थास्यति। भविष्यत् काले च नवसंततयाः कृते उत्साहवर्धयित्री भविष्यति। विद्वन्मानसहंस! अल्पकालीनमेव इदं संस्कृत-साहित्य-सम्मेलनम्। मदीयं प्रधानत्वञ्चास्य नैव वर्षाधिकम् अतोऽत्रभवन्तः श्रीमत्स्वागतसमारोहार्थमायोजितायाः अस्याः सभायाः सभापतित्वं भजन्तः, श्रीमण्डनमिश्रवर्याः सविनयं प्रार्थ्यन्ते यत् अत्रभवान् स्थानीय सं० सा० सम्मेलनस्य संरक्षणं, पथप्रदर्शनं सम्मानोत्साहवर्धनञ्च कृपया विदधातु, येन सम्मेलनस्य कार्यकर्त्तारोऽत्रभवतः सुहृत्स्नेहं सोदरस्नेहं वा लब्ध्वा चिरकालप्रमुदिताः सन्तोऽस्मिन् पुण्यकार्ये दत्तचित्ताः भवेयुः।"

अनन्तरञ्च सभाया अध्यक्षैः डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयैः स्वकीयं सारगर्भितं

भाषणं प्रदत्तम् । स्वभाषणे तैः संस्कृतस्य वर्तमानस्थितौ भारतीयगणराज्य द्वारा संस्कृतोन्नत्यै दीयमानानुदानप्रदानादिषु संतोषः प्रकटितः। अन्ते च जम्मूकश्मीर-राज्याय तैः धन्यवादो दत्तः येनास्याः संस्कृतयोजनायाः कृते पञ्चदशसहस्रमुद्रानुदानं विहितम् ।

चतुर्थे दिवसे डॉ० मण्डनमिश्रमहाभागानां कथनेन मया स्थानीयविदुषामेका गोष्ठी समाहूता तत्र डॉ० मिश्रमहोदयैः शताब्दीग्रन्थस्य काश्मीरभागलेखनाय सुप्रबन्धाय चैका समितिः निर्मिता । समितेः समक्षं श्री मण्डनमिश्रमहाभागैः 'विश्वसंस्कृत-शताब्दीग्रन्थ' योजनायाः पूर्णः परिचयो दत्तः । ततो योजनायाः काश्मीरे प्रचालनाय स्वकीया कार्यप्रणाली प्रदर्शिता या सर्वैरनुमोदिता । तदनन्तरं जम्मू कश्मीरराज्यस्यैका समितिः स्थापिता यस्याः संयोजनभारः डॉ० गङ्गादत्त 'विनोदे' पातितः ।

एवञ्च डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयानां कार्यकुशलतया इदं राष्ट्रियकार्यं समारब्धम् । तदनु अनेकाभिः संस्थाभिरेषामभिनन्दनायोजनानि सम्पादितानि तासु संस्थासु संस्थाद्वयं 'ब्राह्मणमहामण्डलं' तथा 'श्रीरूपादेवी शारदापीठ'मुल्लेखनीयम् । तत्रागतैर्विद्वद्भिर्यथा श्रीगोविन्दभट्ट शास्त्री, आचार्य श्रीदीनानाथ शास्त्री, श्रीत्रिलोकीनाथ भट्टशास्त्री, डॉ० राधाकृष्णकावादिभिः 'विश्वसंस्कृत-शताब्दी-ग्रन्थ' लेखने पूर्णसहयोगाय प्रतिज्ञातमेतादृशमहत्त्वपूर्णकार्य-सम्पादनकृते चाखिल भारतीयसंस्कृत-साहित्यसम्मेलनम्" भूरि भूरि प्रशंसितम् ।

जम्मूकश्मीर-राज्य प्रमुखैः श्री डॉ० कर्णसिंह महाराजैः सहापि डॉ० मण्डन-मिश्रस्य वार्तालापः राजभवने संजातः । यत्र श्रीमिश्रमहोदयैः शताब्दीग्रन्थ-योजनायाः सकलः कार्यक्रमः तेषां सविधे समुपस्थापितः । श्रीमहाराजमहोदयैरपि स्वकीयसहयोगप्रदानायाश्वासनं प्रदत्तम् ।

एतत् योजनायाः कार्यक्रमविषये स्थानीयशिक्षा-विभागाधिकारिणां समक्षमपि श्री मिश्रमहोदयैः सर्वमुपपादितम् । तेऽपि हृष्टमनस्काः सन्त एनां संस्कृत-योजनां प्रशंसितवन्तः । ग्रन्थसंपादने तदुपयुक्तकरणादीनां समुच्चयने विशेषसूचना-दीनां समुपग्रहणे च विभागेन स्वकीयसहयोगप्रदानमङ्गीकृतम् ।

एषां सर्वेषां कार्यक्रमाणां सूचनाः स्थानीय दैनिक 'मार्त्तण्ड' पत्रिकायां 'नवभारतटाइम्स' प्रभृतिष राष्ट्रिय समाचारपत्रेषु च विशेषतः डॉ० मण्डनमिश्राणां भाषणानि प्रकाशितान्यभवन् ।

२८ तारिकायां डॉ० मण्डनमिश्रा जम्मूभागस्य कार्यं पार्थक्येन सम्पादनाय जम्मनगरं प्रस्थिताः । २९ तारिकायां रात्रौ गीताभवने भाषणादि कार्यक्रमो जातः । तत्र विदुषां पुरस्तात् सर्वप्रथमं डॉ० मिश्रमहाभागैः विश्वसंस्कृत-शताब्दीग्रन्थ-योजनायाः जम्मू-कश्मीर राज्यसमितेश्च कार्यकलापस्योद्देश्यस्य च पूर्णः परिचयो

दत्तः। तत्रैव च जम्मू-कश्मीर-समितेरूपसमितिरपि संघटिता यस्याः संयोजिका डॉ० वेदकुमारी महोदया सर्वसम्मत्या निर्वाचिता। शताब्दीग्रन्थस्य जम्मूभागस्य लेखकानां विनियोजनं समये समये उपसमिति-सभायाः समायोजनं लेखकानां प्रगति विवरणादीनां समेषां कार्याणामुत्तरदायित्वं संयोजिकायै समर्पितम्। एवं जम्मू-काश्मीरराज्ये डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयानामागमनेन प्रयासेन च तेषामैतिहासिकी यात्रा सफला जाता।

### काश्मीर प्रादेशिकसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनान्तः—
### सङ्घटिता काश्मीरप्रदेशसमितिः

* १. श्री गङ्गादत्तशास्त्री 'विनोदः' (संयोजकः) संस्कृतप्राध्यापकः श्रीनगरस्थ-राजकीय एस०पी० कालेजस्य।

* २. श्री जगद्धर जाडू शास्त्री, एम०ए० भूतपूर्वनिदेशकः पुरातत्त्वविभागस्य, अध्यक्षः, महिलामहाविद्यालयस्य।

३. डॉ० शिवनाथ शर्मा शास्त्री, डो०ओ०सी० भूतपूर्वप्रधानपण्डितः जम्बू-कश्मीरानुसन्धानविभागस्य।

४. श्री काशीनाथ दरः, एम० ए० हिन्दी संस्कृतविभागाध्यक्षः, श्रीनगरस्थ एस० पी० कालेजस्य।

* ५. श्री अयूबखानः, एम० ए० हिन्दी प्राध्यापकः, श्रीनगरस्थकाश्मीरविश्व-विद्यालयस्य।

६. श्री सूर्यनारायण द्विवेदी शास्त्री, भूतपूर्वाध्यापकः, श्रीरूपादेवीशारदा-पीठस्य।

७. श्री मुकुन्दराम शास्त्री, सनातनधर्मोपदेशकः, आकाशवाण्या गीता-पाठकश्च।

* ८. डॉ० विष्णुदत्त शर्मा, एम० ए० पी-एच० डी० भूतपूर्वसंस्कृतप्राध्यापकः, कठुआ राजकीय कालेजस्य।

९. श्री ब्रदरीनाथ शास्त्री (कल्ला) संस्कृताध्यापकः, श्रीनगरस्थराजकीय-विद्यालयस्य।

१०. श्री त्रिभुवननाथ शास्त्री, संस्कृताध्यापकः श्रीनगरस्थराजकीय-विद्यालयस्य।

*११. श्री पृथ्वीनाथ पुष्पः, एम० ए० प्राचार्यः, पुञ्छस्थ राजकीयकालजस्य।

---

* एतच्चिह्नाङ्किता महानुभावाः काश्मीरराज्यसम्पादकमण्डलस्यापि सदस्या अभूवन्।

१२. श्री जियालालकौल:, एम० ए० भूतपूर्वः संस्कृतप्राध्यापक:, श्रीनगरस्थ एस० पी० कालेजस्य ।

१३. श्री मोतीलालपुष्करः शास्त्री, संस्कृताध्यापक:, श्रीनगरस्थ राजकीय-विद्यालयस्य ।

*१४. श्री दीनानाथयक्षः शास्त्री, भूतपूर्वप्रधानपण्डित:, जम्मूकाश्मीरानुसन्धानविभागस्य ।

**विश्वसंस्कृतशताब्दीग्रन्थे जम्बूकाश्मीरसम्बद्धस्य प्रथमभागस्य मूललेखका:**

**जम्बूवास्तव्याः**

१. श्री काकारामशास्त्री, 'द्वैगर्तिकविद्वद्विवरणावतरणिका' "अस्य शतकस्य संस्कृत विद्वांसः" इति लेखयो: ।

२. श्री रामकृष्णशास्त्री, 'जम्बूस्थश्रीरणवीरसंस्कृतानुसन्धानविभागीय-श्रीरघुनाथसंस्कृतमहापुस्तकालयविवरण'मिति लेखस्य ।

३. श्री अनन्तरामशास्त्री, 'जम्बूकाश्मीरराजवंशस्य संस्कृतेऽभिरुचि:' इति लेखस्य ।

४. श्री जयरामशास्त्री, 'श्रीरघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय:' धर्मार्थविभागीया अन्ये विद्यालयाश्च' इति लेखयो: ।

५. श्री रामनाथशास्त्री, 'अध्ययनाध्यापनसर्वेक्षणम्' सर्वकारकृता: संस्कृतसेवा: स्वयंसेविनीनां संस्कृतसंस्थानां कार्याणि, इति लेखानाम् ।

**काश्मीरवास्तव्याः**

१. डॉ० विष्णुदत्त शास्त्री, एम० ए० पी-एच०डी०, अनुसन्धानेन गवेषणया वा प्राचीनग्रन्थानां पाण्डुलिपीनां चोपलब्धि:, इति लेखस्य ।

२. श्री दीनानाथ यक्ष शास्त्री, 'प्राचीनग्रन्थानामस्मिन् शतके कृता: संस्कृत-व्याख्या' इति लेखस्य ।

३. श्री गङ्गादत्त शास्त्री 'विनोद:' एम०ए० वेदाचार्य:, संस्कृतग्रन्थानां टीकानुवादो वा सम्पादिता: काव्यमालाग्रन्थाश्च इति लेखस्य ।

४. श्री त्रिभुवननाथ शास्त्री, 'काश्मीरस्य वृत्तपत्राणां विवरणम्' इति लेखस्य ।

५. श्री बदरीनाथ शास्त्री (कल्ला) बी०ए० 'अस्य शतकस्य संस्कृतविद्वास:' इति लेखस्य ।

६. श्री चमनलाल सप्रू: 'श्रीरामाश्रमश्रीशैवाश्रम-धर्मार्थट्रस्ट, श्रीरूपादेवी-

शारदापीठ-विद्याधराश्रमादीनां परिचयः, इति लेखस्य ।

७. श्री मोतीलाल पुष्करः 'स्वयंसेविनीभिः संस्थाभिः कृता संस्कृतसेवा' इति लेखस्य ।

८. श्री सत्यपाल शास्त्री, एम० ए० 'संस्कृतपोषकाः' इति लेखस्य ।

९. श्रीराधाकृष्ण ज्राडूः 'अस्मिन् शतके लिखिताः संस्कृतग्रन्थाः' शिक्षा-संस्थानाम् अनुसन्धानशालानां, संस्कृतपुस्तकालयानां, संस्कृतानुरागिणां, परिचय इति लेखस्य ।

१०. श्री राधाकृष्ण कावः 'कश्मीरस्य कुङ्कुमकस्तूरिकादिजन्मभूमित्वम्, प्राकृतिकः परिचयश्च' इति लेखस्य ।

इत्थं डॉ० मिश्रमहाभागानां कर्मठव्यक्तित्वेन विश्वसंस्कृतशताब्दीग्रन्थ-मालायाः जम्मू कश्मीर राज्यभागस्य प्रथमः खण्डः १९६६ ख्रिस्ताब्दे प्रकाशितः । अस्य ग्रन्थस्य सम्पादकीये डॉ० मण्डनमिश्राणामभिव्यक्तिः—

"सम्मेलनस्य योजनायाश्च कृतेऽयं सुवर्णमयः समयो वर्तते, यद् योजनाया अस्य प्रथमप्रयासस्य साफल्यावसरे श्रद्धेयः श्रीलालबहादुरशास्त्री सम्मेलनसभा-पतिपदं विभूषयति । तस्मै एव च महानुभावायास्या ग्रन्थमालाया इदमादिमं पुष्पं समर्प्यमाणं विद्यते । तस्य नेतृत्वे संस्कृतेन सम्मेलनेन च यदभिनवं जीवनमधिगतम्, तस्यैकं प्रत्यक्षं निदर्शनं शताब्दी ग्रन्थस्यायं भागो वरीवर्ति । सम्मेलनपरिवारस्य प्रधानाय तस्मै भागमिमं समर्प्य वस्तुतो वयं सर्वेऽपि कार्यकर्त्तारः कृतकृत्यतामनु-भवामः, विश्वसिमश्च यत् तेन महानुभावेन दीयमानं प्रोत्साहनमवलम्ब्य ग्रन्थस्य भागान्तराणां प्रकाशने भूयसी प्रगतिः सेत्स्यति इतिशम् ।" संप्रति प्राच्यसभ्यता-धारिधौरेयः डॉ० मिश्रो व्यवहारेण संस्कृतसंस्कृतिमयो भूत्वा समृद्ध साहित्ययशः-सौरभेण संस्कृतसाहित्योद्यानं सुरभिमण्डितं विदधन् स्वकीयैर्विद्वत्ता-विनम्रता-सौम्यता कार्यकुशलादिगुणग्रामैः संस्कृतविद्वत्समाजमौलिमुकुटायमानः संशोभते ।

यथा एषां व्यक्तित्वं प्रभावशालि तथा कृतित्वमपि । सत्यं डॉ० मण्डन-मिश्राणां संस्कृतसाहित्ये योगदानं महत्त्वपूर्णमेवनापितु स्वर्णाक्षरैरितिहासे समुल्लेखनीयञ्च ॥

# मधुराः स्मृतयः

—अमीरचन्द्र शास्त्री साहित्याचार्यः

देव्या शारदया स्वयं स्वचरणालङ्कारमञ्जीरयोः
बाह्याभ्यन्तरनादपूरितदिशोः श्रीमण्डनामीरयोः।
एकेनाखिलभारतीय विदुषामुद्बोधना साधिता—
त्वन्येनामरभारती पठितिषु प्रोत्साहिता साहिती ॥१॥

श्रीमद्दीनदयालुशर्मचरितं काव्यात्मनालेखितुं
वाञ्छत्तत्सुतयुग्मकानुनयतः श्रीमण्डनो मार्गयन्।
मां तद्गेहकदेहलोस्थिततनुः प्रत्यैक्षताभ्यागतं
तन्मुद्रापितवृत्तपत्रमददात्तत्कर्तुमावेदयन् ॥२॥

तस्मिन्नादिमदर्शने विनयवानप्येष तेजस्वितां
नो मुञ्चन्मम रोचते स्म मतिमान्मदस्मितो मञ्जुवाक्।
अङ्गीकृत्य वचस्तदीयमवदं तस्मै निजां योग्यतां
भावज्ञश्चपलं विधास्यति स मां वक्तारमित्यब्रवीत् ॥३॥

घस्रैः कैश्चन् चेरितोऽस्मि मिलितुं श्री एल्०ओ० जोशिनम्
तद्दत्ते च नियुक्तिपत्रपुटके वृत्तिप्रसादं वहन्।
विद्यापीठमुपागतः सहृदयैः स्वश्रोतृभिः संयुतः
आद्यां संस्कृतिमत्र पाठयितुमेवाबालवृद्धं जनम् ॥४॥

दातारस्मृति संस्कृतिप्रवचने नूत्नेपदेऽस्मिन् स्थितो
मासान् कांश्चिदयापयन् कवितया प्राकाश्यमासादयम्।
यो योऽभ्यागमदत्र तं च तमहं पद्यैरवद्येतरै-
रभ्यानन्दयमेष तोषमभितः संसाधयन् श्रीमताम् ॥५॥

विद्यापीठपदे प्रतिष्ठितिमगां साहित्यमध्यापयन्
यत्रच्छात्रतया कृतार्थमभवत् विद्वद्वरूथं महत्।
व्याख्याताऽभवमेषवर्षयुगलात्तो सांख्ययोगावपि
प्राच्यं व्यकरणंस्वपाठयमथो ताण्ड्यं महाब्राह्मणम् ॥६॥

येन श्रीमणिशङ्करादि विदुषां सत्संगतिः सार्थिता
वेदव्याकरणाद्यधीतिफलतां याभ्याञ्च यातोऽस्म्यहम्।
दिल्यां तिष्ठति मण्डने मतिमतां श्रीमण्डने चिन्तया,
विद्यापीठ-विकाससाधनविधावुत्पन्नया सन्ततम् ॥७॥

एकस्मादपरत्र पर्यटति वै कार्यालये मन्त्रिणाम्
प्राचार्यः परमेश्वरो मम गुरुः सम्भालयन्नास्त सः।
मार्त्तण्डे हनुमत्प्रसादविदुषि प्राप्ते परं विश्रमं
विद्यापीठमलोकयं पदमहं प्राप्य प्रभार्यात्मकम् ॥८॥

दिल्लीतो बहिरुद्गते तिरुपत्तौ जम्ब्वां प्रयागे तथा
विद्यापीठनिरीक्षणादिषु चिरं श्रीमण्डने नैकधा।
सामान्यं त्वनुशासनं मम करे प्रादात्तदत्रावहं
स्नेहो मय्यदसीय एव शमयन्नासीत्तदोपद्रवान् ॥९॥

यद्विश्वस्यशताब्दजातमखिलं गीर्वाणवाणीगतं
वृत्तं चेतुमकारयत्सुरचनां ग्रन्थस्य सम्मेलनम्।
यः काश्मीरसमन्वितोऽभवदयं दिव्यश्चभव्यः परो
राजस्थानसमन्वितश्च समभूत्तौ विस्मृतौ स्तां कथम् ॥१०॥

यच्चाभूदिह मासिकं सुरगिरो रत्नाकरेति श्रुतं
तस्याङ्काश्चतुरब्दसीमनि मया सम्पादितास्तेषु च।
यच्छ्रीनेहरुसंस्मृतैः परिभृतं यच्छास्त्रिसंस्मारकैः
यच्चान्यैरपि धन्यधन्य चरितैरासीत् स्वराष्ट्रोत्थितैः ॥११॥

तत्राहं नवगद्यपद्यरचना नानानवद्याः स्वयं
निर्मायात्यनुरूपमेव सकलं तद्वस्तु चालेखिषम्।
नूत्नं श्रीलजवाहरस्य चरितं प्रारब्धमासीच्च य-
त्सर्गस्तस्य तदाऽऽदिमः प्रकटितो रत्नाङ्कराङ्केऽभवत् ॥१२॥

भागद्वयं कृतमभूदाधिकारभूमेः
श्री स्नातकोत्तरविभाग प्रशासनस्य।
तां स्नातकोत्तरविभागगतां स्वसत्तां
भूयः स्मरामि किलषोडशवत्सरीयाम् ॥१३॥

धन्यः स नाम मणिनाथ बुधः किलासी
द्यः सौहृदेन समयं समयापयत्तम्।

सूर्यो दिवाप्रभवति प्रभवत्यथेन्दू
रात्रौ कथन्नु विवदेत तयोस्तु कोऽपि ॥१४॥

सामान्यशासनमहो सहते मदीय-
मित्यस्य सौहृदमहं मनसा स्मरामि ।
य द्वात्रमण्डनमतं न विमर्द्धितुं मे
शक्तिर्नचान्य विदुषः कथमप्यभूत्सा ॥१५॥

तत्राभवन्मणिशिवादि सुहृत्सखस्य
प्रीतिः प्रतीतिसहिता प्रियमण्डनस्य ।
पुष्पेन्द्र शर्मणि च शासति संशयेन
श्री स्वामिनाथ सुहृदप्यभवत्तुदे नः ॥१६॥

श्रीमण्डनो बहिरितोऽपि नियन्त्रयन्नः
पीठं स्म रक्षति निजैः सुमहानुभावैः ।
सेवानिवृत्तिमुपलभ्य पुनः प्रवृत्ति
त्रैवार्षिकीमुपगतः खलु मण्डनस्य ॥१७॥

प्रीतिर्निदानमिह मद्यशसो विताने
तस्याभवन्मम च शास्त्रसमाधिसिद्धिः ।
श्रीनेहरू द्युगमनस्य दिनान्मया यत्
प्रक्रान्तमत्र कविकर्म महिष्ठमासीत् ॥१८॥

तत्पूर्त्तिमाकलयतः किल मण्डनस्य
हर्षो महान् समभवन्मयि सौहृदेन ।
मुद्रापितं महदिदं मम भव्य काव्यं
ताः पञ्चविंशति सहस्रमिताश्चमुद्राः ॥१९॥

मह्यं प्रदाय जरतेऽतिशयोपकारं
श्रीमण्डनो यदकरोत्तदिहास्ति लेख्यम् ।
लेख्या च राष्ट्रपतिमानपुरस्कृतिः सा
या वर्धते शशिकलेव तदीय यत्नैः ॥२०॥

लेख्यं पुनस्तदपि यद्दशभिः सहस्रैः
साहित्यिकी समुदमार्च्चदकादमी माम् ।
अद्यापि मां नुदति लेखितुमेव नव्यं
भव्यञ्च किञ्चन सुहृन्मम मण्डनश्रीः ॥२१॥

# सोऽयं मण्डनमिश्रनामविबुधो विद्वत्कुले राजते

—डॉ० ओमप्रकाशपाण्डेय:

वीराणां जननी तथा प्रसविनी शौर्यस्य या कथ्यते,
यस्या जौहरमातनोति निखिले भूमण्डले विस्मयम्।
राजस्थानभुवा तया हि क्रियते शास्त्रार्चना साम्प्रतं,
पुत्रो मण्डनतामुपैति सकलामस्याः भुवो मण्डनः ॥१॥

यच्छिल्प-स्थपतित्वमद्य तनुते रम्यं बृहद् भास्वरम्,
भारत्या भवनं, विभाति भुवने यस्यापि सङ्कल्पना।
भूयस्यः कृतयः किरन्ति यशसो यस्यापि सौगन्धिकम्,
सोऽयं मण्डनमिश्रनामविबुधो विद्वत्कुले राजते ॥२॥

मीमांसा विरसापि यैस्तु तपसा सारस्यमुत्प्रापिता,
सर्वेष्वास्तिकहृत्सु जैमिनिनयो देदीप्यते साम्प्रतम्।
यस्यैकस्य गुरोः प्रयत्ननिकरैर्पट्टाभिरामस्य त-
च्छिष्यैर्मण्डनमिश्रनामविबुधैर्विद्या सुविद्या कृता ॥३॥

विद्यापीठततिं ततान विततामेतामनेकेषु यः,
सुख्यातेषु पुरेषु संस्कृतगिरः संस्थापितः शेवधिः।
भ्रामं भ्राममथापि वक्ति विभवं गीर्वाणवाण्याश्च यो
नित्यं दिक्षु स दीव्यते सुकृतिभिर्मिश्रो महीमण्डनः ॥४॥

मन्ये सम्प्रति भाति राजनगरी दिल्ली समालङ्कृता,
यत्रास्ते सुरभारतीमतिपरो विश्वस्य विद्यालयः।
यस्यैकस्य बुधस्य यत्ननिचयैरेषा प्रतिष्ठां गता,
गीर्वाणी, स हि वन्दनीयचरितो मिश्रो महीमण्डनः ॥५॥

वैदुष्येण परेण यस्य विदुषां सम्मोदते मानसं,
सौजन्येन तथैव तस्य सुजनो विश्वासमापद्यते।
उत्साहः सुकृतौ क्रतावभिरतिश्चित्ते प्रसादः सदा,
यस्मिन्नस्ति स एव पण्डितकुले निश्चप्रचं मण्डनः ॥६॥

यन्नाम्ना स्मृतिमापतत्यविकलो माहिष्मती-मण्डनो,
यन्नाम्ना स्मरणं करोति सुजनो भट्टस्य शिष्यं परम्।
यन्नाम्ना विलसत्यहो मधुमतो सा भारती भारते,
सर्वेषामपि संविभाति विभवं मिश्रेऽधुना मण्डने ॥७॥

# गौरवास्पदं सस्मरणम्

— डा० दीनानाथयक्षः

समयोऽयं तत्र भवतां श्रीलालबहादुरशास्त्रिणां भारते प्रधानामात्यत्वस्य यत्मत्पार्श्वेऽदृष्टपूर्वः प्रांशु'गान्धीशिरोवेष्टनधौताधरवासोवसानः सौम्याकृतिः कश्चन भद्रपुरुषः काश्मोरिकप्रत्नविद्याप्रकाशविभागे (J. K. Research Department) दृष्टिपथमवतीर्णोऽभूत्। महाभागोऽयं निरर्गलं निर्गलन्त्या धारावाहिन्या गीर्वाणगिरा मां सङ्केत्य प्राह यत् काश्मीरराज्ये कीदृशी दशा इदानीं देववाण्याः ? अथ मया नाभ्यस्तस्खलद् देवगिरा अस्फुटप्रायमेव प्रत्युक्तः यदीदृशी सा श्रीमतां नयनातिथित्वमेति इति। मदिङ्गितमात्रेणैवाऽसौ विदितवेदितव्यः अविकलाञ्च परिस्थितिं संवेद्योदतरत् सर्वं समये श्रेयः सम्पत्स्यते, युष्मदभीप्सित-मिष्टं च सेत्स्यति। इदानीमत्रागमनस्य ममेदं मुख्यमुद्देश्यमस्ति यद् भारतसर्व-कारे विंशतिशतकीयानां समेषां संस्कृतविदुषां पण्डितानाञ्च गीर्वाणगिरि स्वीयेन योगदानेन समुल्लसतां जीवतां स्वर्यातानां वा संस्कृते जीवनचरित्रनिबन्धनम्। न केवलं तेषां जीवनाख्यानवर्णनं प्रत्युत संस्कृतोद्दिधीर्षूणां समितीनां संस्थानाञ्च साकल्येन याथातथ्येन वर्णनं चापेक्षितं यत्तावन्नैकविधभागेषु भारतवर्षस्य सर्व-कारेण शताब्दीरूपेण ग्रन्थं सम्मुद्रच प्रकाश्य च जनतायाः समक्षमुपहरिष्यते। अथ श्रीनगरे लेखकानां-सङ्घं निर्धार्य नियोज्य च महानुभावोऽसौ पुनः देहलीं प्रत्या-वर्तत। अयं संस्मर्ताऽपि लेखस्यैकस्य लेखकत्वेन निर्धारितो निर्वाचितश्चाऽभूत्। ततः प्रतिसप्ताहं कर्मठो महानुभावोऽयं पत्रद्वारा लेखस्य प्रगतिं जिज्ञासते स्म। अयमेव प्राथमिको अभिनवः संस्तवः श्रीमण्डनमिश्रमहोदयानाम्।

एकदा संस्कृतमातृकाणां परिस्थितिं दशामननुकूलाञ्च मत्तो विभाव्य संस्कृतमातृकासंरक्षणाय स्वतन्त्रमेकं भारतसर्वकारायत्तमपरं शोधकार्यालयं समुद्घाटयितुकामो नितरां प्रायतत। किञ्चिन्मात्रमंशतश्च प्रयासं स्वं फलेग्रहितां निनाय। काश्मीरविश्वविद्यालयीयशैवागमसम्मेलने सोद्देश्यमेतद्विषये सुस्पष्ट-मज्जुघोष, फलतश्च श्रीनगरस्थराजवागाख्ये जम्मूदेशीयविद्यापीठायत्तमेकमुप-केन्द्रं स्वोद्देश्यपूर्तये समुद्घाटयितुं साफल्यमधिजगाम।

काश्मीरेषु तस्योपकेन्द्रस्योपक्रमसमये श्रीमिश्रमहाभागाः सुस्पष्टमुद्-घोषितवन्तः यदुपयुक्तः कालोऽयं संस्कृतमातृकान्वेषणाय चयनाय च।

'कालो हि सकृदभ्येति यं नरं कालकाङ्क्षिणम्।
अलभ्यः स पुनस्तेन काले कर्माचिकीर्षता ॥"

इत्याभाष्य मातृकाणां सङ्ग्रहायानुसन्धानाय चेत्थं नितान्तं स प्रोत्साहितवान् ।

षडशीत्युत्तरैकोनविंशतितमस्य ख्रिष्टहायनस्यागस्तमासे शैवसम्मेलनावसरे सिंहनादेन सुरभारत्यां समुद्घोषितवान् आमुखभाषणे यत्सम्प्रति संक्षीयमाण-शैवमातृकाणां (हस्तलेखानां) सम्पत्तिरस्माभिः संरक्षणीया परिमार्ज्य च मुद्रापणीया प्रकाशनीयेति ।

एतेनोक्तं यत्काश्मीरप्रदेशोऽयं भारतीयसभ्यतायाः संस्कृतेः विशिष्ट-शैवाद्वैतदर्शनस्य च जनक इति । किञ्चेयं कश्यपकाश्यपी नैकविधसुप्रसिद्धशैवा-चार्याणां प्रसवभूमिरिति । अतो हि 'लुप्तप्रायाणां प्रकाशितशैवशास्त्राभ्यन्तरे समुदाहृतानां ग्रन्थान्तराणां सायासमन्वेषणाय दर्शनस्यास्य पारिपूर्ण्येन सुप्रचा-राय च अभिनवमेकं संस्थानमचिरेण मया यावच्छक्यं समुद्घाटयितुं प्रयत्यते' ।

अनेन महापुरुषेण श्रीरणवीरकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठ-श्रीलालबहादुरशास्त्री विद्यापीठ-श्रीगङ्गानाथझाविद्यापीठ-तिरुपतिसंस्कृतविद्यापीठानां प्राचार्यपदम-लङ्कुर्वता सुयोग्याध्यापकतायाः प्रशासनकुशलतायाश्च समीचीनः परिचयो दत्तोऽस्ति । अस्य महापुरुषस्य सततप्रयासानां फलस्वरूपोऽभिनवोऽचिरोद्-घाटितोऽखिलविद्यापीठानां सञ्चालको विख्यातो राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान-कार्यालयो नवदेहल्यां राराजते । यस्यनिदेशकत्वस्य श्रेयो भागित्वमेभिः प्रापि ।

## संस्कृतज्ञानां समुन्नायकाः

—पं० श्रीसुधाकर दीक्षितः

मान्याः श्रीमन्तो मण्डनमिश्रमहोदयाः सादरमभिनन्द्यन्त इत्याकर्ण्य प्रसीदतितमाम् ममान्तरङ्गम्। दृढमहं विश्वसिमि, प्रायः सर्वेऽपि संस्कृतिसमुपासका विशेषतः संस्कृतप्रणयिनः श्रीमिश्रमहोदयान् प्रति कृतवेदितावेदनस्यामुमवसरमासाद्य भृशं प्रमोदन्त एव। प्रमोदश्चायं स्वाभाविकः। श्रीमिश्रमहोदयाः संस्कृतजगत्समुन्नायकानां धुरि प्रतिष्ठिता इति को न वेत्ति। आत्मनोऽवबोधमपेक्ष्य निःसंशयमहं वच्मि—साम्प्रतं श्रीमिश्रमहोदया एवैतादृशा ये संस्कृतजीविनां मादृशाम् समुन्नयनाय संस्कृतसंस्थाः प्रतिष्ठाप्य ताश्च समयानुकूलं शासकीयाः सम्पाद्य प्रायः शताब्द्या अर्धांशं यावत् प्रशासनमाध्यमेनामूलचूडं दार्ढ्यञ्च तासां विधायास्माकं दृष्टचा कृतकार्या अपि नाधुनापि विश्रान्तिं कामयन्ते संस्कृतज्ञानां समुन्नयनसंविधानात्।

इदानीं संस्कृतजगति ये केचनान्येऽवतंसायमाना विशिष्टमहानुभावास्ते सर्वेऽपि परप्रकल्पितसंस्कृतसंस्थास्वेव प्रशासनकर्म कतिचिद् वर्षाणि यावदेवानुष्ठाय प्रायशोऽसमर्था इव दुष्कीर्तिभाज इव वा ततो विरता अकृतकार्या इव संस्कृतप्रणयिभिः स्मर्यन्ते। स्वयमेव प्रकल्प्य संस्कृतप्रतिष्ठानानि तेषु च सर्वतो वरिष्ठं प्रशासकपदमधिष्ठाय बहूनि वर्षाणि यावत् तत्र बिभ्राजमानः अत एव पुरुषधौरेयः कश्चन महानुभावस्तानि प्रतिष्ठानानि समुन्नतिपराकाष्ठां प्रापय्य यदि तत्प्रतिष्ठानसदस्यैरेवाधिकाधिकैः हृदयेन सम्मान्यते, समादरातिशयेनाभिनन्द्यते, तत्प्रतिष्ठानजीवातुरूपेणाहर्निशं चर्च्यते चेत् तदिदं सर्वं प्रशस्ततमस्यानुकरणीयस्य महीयसो महोदयस्य प्रशासनकौशलं व्यवहारपाटवादिकं वरणीयं विविधं वैभवं विभावयत्येव।

एवंविधानां संस्कृतजगतो गौरवायमाणानां श्रीमतां मिश्रमहोदयानामधमर्णा वयं सर्वे कामयामहेऽनुकम्पया परेशितुः स्वास्थ्येन, प्रसादेन सहानन्तायुष्यसम्पन्नाः श्रीमिश्रमहोदयास्तथावश्यं सङ्कल्पयन्तु यथा वेदादिशास्त्राणामध्ययनाध्यापनयोस्तदधिकारिणामनुक्षणमभिरुचिः समेधेतेति।

## डा० मण्डनाभिधो बुधः संस्कृताय समर्पितः

—डा० गुञ्जेश्वरचौधरो

कीर्तिस्तोमसमस्तसोमविकसज्ज्योत्स्ना जगन्मण्डनम्,
दाक्षिण्यादिगुणैरुदारचरितैर्वन्द्यं जगन्मण्डनम् ।
श्रौतस्मार्तविधानपालनपरं सच्छास्त्रपारङ्गतम्,
तं वन्दे भुवि भारतीविलसितं साक्षाज्जगन्मण्डनम् ।।१।।

हर्षोल्लासलसन्महीसुरशतप्रोल्लास्यमानश्रुति-
ध्वान्तोध्वंसकदिङ्मुखो विजयते श्रीमण्डनो मण्डनः ।
दिल्यामेत्य विराजते सकलको राकेशतुल्यो बुधः,
दत्वा शीतलतां विदग्धहृदये साक्षान् महीमण्डनः ।।२।।

वन्दे कल्पतरुं मुदा रसमयं ज्ञानालवालस्थितं,
भक्त्या कृष्णविहारिणं सुलतया संसेवितं सर्वदा ।
ज्ञानैस्तत्त्वविदां विशुद्धमनसां भृङ्गैः समालिङ्गितम्,
भक्तिज्ञानगुणैकतानहृदयं साक्षान्महीमण्डनम् ।।३।।

उवास यस्याब्जमुखे सरस्वती,
विशुद्धविज्ञाननिधिः सुकोमला ।
अवाप तत्पादरतेः समादरात्,
समुन्नतं विज्ञनुतं कुलाधिपम्[1] ।।४।।

मान्यो वदान्यो विदुषां हितैषी,
लेभे यदा लालबहादुराधिपम् ।
गीर्वाणवाण्याः समभूत् समृद्धिः,
सन्तोषभाजां विदुषां समाजे ।।५।।

श्रीकृष्णलीलाङ्कितपूतभूमौ
भाभारते तुष्टविदग्धमण्डलः ।
श्रीमण्डनः शं कुरुते सुभारते
सुरभारतीनां समुपासकानाम् ।।६।।

।। इति शिवम् ।।

---

१. कुलपतिमिति

# प्रेरणा पुरुष

—डॉ० रामशकल पाण्डेय

लगभग २९ वर्ष पहले सन् १९६५ की बात है। अपने एक शिष्य डा० जगदीश चन्द्र गौड़ के माध्यम से मैंने अपनी स्वरचित पुस्तक 'संस्कृत-शिक्षण' की एक प्रति डा० मण्डन मिश्र जी के पास भेजी थी जिसके उत्तर में मिश्र जी ने तत्काल मेरा उत्साहवर्धन करते हुये पत्र लिखा और साथ में मिलने की इच्छा भी प्रकट की। उसके कुछ समय पश्चात् जब मैं दिल्ली गया तो डा० मिश्र से मिलने चला गया।

डा० मिश्र जी से इस मुलाकात की छाप आज भी मेरे मन पर अमिट पड़ी हुई है। गौरवर्ण, उन्नत ललाट, भव्य मुखाकृति, देववाणी के तेज से दीप्त मुख-मण्डल, धोती-कुर्ता के भारतीय वेश में मिश्र जी को देखकर मैं उनकी बाह्य आकृति से बहुत प्रभावित हुआ। उनसे कुछ वार्तालाप प्रारंभ हुआ तो यह प्रभाव गहराता गया। उन्होंनें संक्षेप में मुझे अपनी योजना बताई और वे अखिल भारतीय संस्कृत-महाविद्यालय की शाखायें प्रशाखायें खोलनें की बात कर रहे थे। मुझे उस समय लगा कि यह व्यक्ति स्वप्न देखता है और स्वप्नों की दुनिया में रहता है किन्तु कालांतर में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान की स्थापना के पश्चात् मुझे लगा कि उनका स्वप्न साकार होनें जा रहा है।

देश के विभिन्न भागों में स्थापित केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों की स्थापना के पीछे डा० मिश्र प्रेरणा स्रोत रहे हैं। संस्कृत-शिक्षण में मेरी रुचि थी अतः किसी न किसी बहाने मैं डा० मिश्र के संपर्क में बराबर आता रहा। मुझ जैसे संस्कृत प्रेमी को उनसे बड़ी प्रेरणा मिलती है। संस्कृत के प्रति उनका अनुराग विलक्षण है। संस्कृत के प्रचार-प्रसार में उन्हें कोई थकावट का अनुभव नहीं होता। इस आयु में भी वे संस्कृत की चिंता करते हुये दिखाई पड़ते हैं।

श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ जब मानित विश्व-विद्यालय बना तो मिश्र जी इसके प्रथम कुलपति नियुक्त हुये। उन्हें संस्थापक-कुलपति कहना अधिक उचित है। भारत सरकार नें उन्हें कुलपति बनाकर उनका सम्मान तो किया ही किन्तु उन जैसे संस्कृतज्ञ और संस्कृत प्रेमी को पाकर कुलपति का पद अलंकृत हो गया। इस मानित विश्वविद्यालय की कुछ समितियों में भाग लेने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ। उस समय मुझे यह प्रतीत हुआ कि आचार्य मिश्र केवल शीर्षस्थ विद्वान ही नहीं वरन् एक कुशल एवं समर्थ प्रशासक भी हैं। शैक्षिक

प्रशासन सामान्य प्रशासन से भिन्न होता है। शैक्षिक प्रशासन में मानवीय संबंधों का बड़ा महत्व होता है। अनेक निर्णय औपचारिकता की अपेक्षा अनौपचारिकता के मध्य सहज दृष्टि से लिये जाते हैं, निर्णयों का क्रियान्वयन भी दबाव, कठोरता और अविनय की अपेक्षा विनयशीलता, सहजता एवं पारस्परिक संबंध के आधार पर होता है। डा० मण्डन मिश्र जी की सरलता, सहजता किन्तु नियमों के प्रति आस्था का परिचय मुझे समितियों में बराबर मिलता रहा। बीच में अनेक बार उनसे औपचारिक एवं अनौपचारिक चर्चाएं चलती रहीं।

अब एक सद्यः घटित घटना की चर्चा भी कर दूं। १८ अक्टूबर १९९४ को बात है—दिल्ली में "सृष्टि उद्भव" पर आयोजित राष्ट्रस्तरीय संगोष्ठी में उनके दर्शन हुये। कुलपति पद के कार्यभार से मुक्त हो चुके थे किन्तु मन में वही उत्साह, ज्ञान के प्रति वही रुचि एवं संस्कृत के प्रति वही अनुराग मुझे उनमें दिखाई पड़ा। उसी दिन श्रृंगेरीपीठ के शंकराचार्य जो परम श्रद्धेय भारती तीर्थ जी अपने दिल्ली-प्रवास के पश्चात् दिल्ली से प्रस्थान करने वाले थे। उन्होंने उनके दर्शन का प्रस्ताव रखा। मैंने श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ के कुलपति डा० श्रीधर वशिष्ठ जी से शंकराचार्य जी के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। दोनों व्यक्ति सहर्ष सहमत हो गये और डा० मिश्र जी के साथ श्रद्धेय शंकराचार्य जी के भव्य दर्शन हो गये।

डा० मण्डन मिश्र का सम्मान सुर-भारती का सम्मान है। आचार्य मिश्र सरस्वती के वरद पुत्र हैं। स्वतंत्र भारत में संस्कृत के पठन-पाठन में डा० मिश्र के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। मैं यह तो दावा नहीं कर सकता कि मैं मिश्र जी के बहुत निकट रहा या यों कहिये कि मैं बहुत निकट आना भी नहीं चाहता था। 'अति परिचयादवज्ञा'। मैं जिसको अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ उसके बहुत अधिक निकट आना आवश्यक नहीं मानता। सादा जीवन उच्च विचार का एक उदाहरण मैं डा० मिश्र को मानता हूं। मेरी कामना है डा० मण्डन मिश्र जी लंबी आयु पायें और संस्कृत जगत् की आगे भी और अधिक सेवा करते रहें।

# प्रेरणा पुरुष

—डॉ० रामशकल पाण्डेय

लगभग २९ वर्ष पहले सन् १९६५ की बात है। अपने एक शिष्य डा० जगदीश चन्द्र गौड़ के माध्यम से मैंने अपनी स्वरचित पुस्तक 'संस्कृत-शिक्षण' की एक प्रति डा० मण्डन मिश्र जी के पास भेजी थी जिसके उत्तर में मिश्र जी ने तत्काल मेरा उत्साहवर्धन करते हुये पत्र लिखा और साथ में मिलने की इच्छा भी प्रकट की। उसके कुछ समय पश्चात् जब मैं दिल्ली गया तो डा० मिश्र से मिलने चला गया।

डा० मिश्र जी से इस मुलाकात की छाप आज भी मेरे मन पर अमिट पड़ी हुई है। गौरवर्ण, उन्नत ललाट, भव्य मुखाकृति, देववाणी के तेज से दीप्त मुख-मण्डल, धोती-कुर्ता के भारतीय वेश में मिश्र जी को देखकर मैं उनकी वाह्य आकृति से बहुत प्रभावित हुआ। उनसे कुछ वार्तालाप प्रारंभ हुआ तो यह प्रभाव गहराता गया। उन्होंने संक्षेप में मुझे अपनी योजना बताई और वे अखिल भारतीय संस्कृत-महाविद्यालय की शाखायें प्रशाखायें खोलने की बात कर रहे थे। मुझे उस समय लगा कि यह व्यक्ति स्वप्न देखता है और स्वप्नों की दुनिया में रहता है किन्तु कालांतर में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान की स्थापना के पश्चात् मुझे लगा कि उनका स्वप्न साकार होने जा रहा है।

देश के विभिन्न भागों में स्थापित केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों की स्थापना के पीछे डा० मिश्र प्रेरणा स्रोत रहे हैं। संस्कृत-शिक्षण में मेरी रुचि थी अतः किसी न किसी बहाने मैं डा० मिश्र के संपर्क में बराबर आता रहा। मुझ जैसे संस्कृत प्रेमी को उनसे बड़ी प्रेरणा मिलती है। संस्कृत के प्रति उनका अनुराग विलक्षण है। संस्कृत के प्रचार-प्रसार में उन्हें कोई थकावट का अनुभव नहीं होता। इस आयु में भी वे संस्कृत की चिंता करते हुये दिखाई पड़ते हैं।

श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ जब मानित विश्व-विद्यालय बना तो मिश्र जी इसके प्रथम कुलपति नियुक्त हुये। उन्हें संस्थापक-कुलपति कहना अधिक उचित है। भारत सरकार ने उन्हें कुलपति बनाकर उनका सम्मान तो किया ही किन्तु उन जैसे संस्कृतज्ञ और संस्कृत प्रेमी को पाकर कुलपति का पद अलंकृत हो गया। इस मानित विश्वविद्यालय की कुछ समितियों में भाग लेने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ। उस समय मुझे यह प्रतीत हुआ कि आचार्य मिश्र केवल शीर्षस्थ विद्वान हो नहीं वरन् एक कुशल एवं समर्थ प्रशासक भी हैं। शैक्षिक

प्रशासन सामान्य प्रशासन से भिन्न होता है। शैक्षिक प्रशासन में मानवीय संबंधों का बड़ा महत्व होता है। अनेक निर्णय औपचारिकता की अपेक्षा अनौपचारिकता के मध्य सहज दृष्टि से लिये जाते हैं, निर्णयों का क्रियान्वयन भी दबाव, कठोरता और अविनय की अपेक्षा विनयशीलता, सहजता एवं पारस्परिक संबंध के आधार पर होता है। डा० मण्डन मिश्र जी की सरलता, सहजता किन्तु नियमों के प्रति आस्था का परिचय मुझे समितियों में बराबर मिलता रहा। बीच में अनेक बार उनसे औपचारिक एवं अनौपचारिक चर्चाएं चलती रहीं।

अब एक सद्यः घटित घटना की चर्चा भी कर दूं। १८ अक्टूबर १९९४ को बात है—दिल्ली में "सृष्टि उद्भव" पर आयोजित राष्ट्रस्तरीय संगोष्ठी में उनके दर्शन हुये। कुलपति पद के कार्यभार से मुक्त हो चुके थे किन्तु मन में वही उत्साह, ज्ञान के प्रति वही रुचि एवं संस्कृत के प्रति वही अनुराग मुझे उनमें दिखाई पड़ा। उसी दिन शृंगेरीपीठ के शंकराचार्य जो परम श्रद्धेय भारती तीर्थ जी अपने दिल्ली-प्रवास के पश्चात् दिल्ली से प्रस्थान करने वाले थे। उन्होंने उनके दर्शन का प्रस्ताव रखा। मैंने श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ के कुलपति डा० श्रीधर वशिष्ठ जी से शंकराचार्य जी के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। दोनों व्यक्ति सहर्ष सहमत हो गये और डा० मिश्र जी के साथ श्रद्धेय शंकराचार्य जी के भव्य दर्शन हो गये।

डा० मण्डन मिश्र का सम्मान सुर-भारती का सम्मान है। आचार्य मिश्र सरस्वती के वरद पुत्र हैं। स्वतंत्र भारत में संस्कृत के पठन-पाठन में डा० मिश्र के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। मैं यह तो दावा नहीं कर सकता कि मैं मिश्र जी के बहुत निकट रहा या यों कहिये कि मैं बहुत निकट आना भी नहीं चाहता था। 'अति परिचयादवज्ञा'। मैं जिसको अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ उसके बहुत अधिक निकट आना आवश्यक नहीं मानता। सादा जीवन उच्च विचार का एक उदाहरण मैं डा० मिश्र को मानता हूं। मेरी कामना है डा० मण्डन मिश्र जी लंबी आयु पायें और संस्कृत जगत् की आगे भी और अधिक सेवा करते रहें।

## गुरुवर महान् डा० मण्डन मिश्र

—डा० शशि तिवारी

संस्कृत जगत् के ललामभूत
गुरुवर महान् नित वन्दनीय,
विद्वान्-शिरोमणि सुविख्यात
जिन पर श्रद्धा, विश्वास जने ।।१।।

सस्मित समुपस्थिति दिव्यमयी
सर्वप्रेरक अनुपम सविता-सी,
हर्षित पा बीच भव्य आकृति
आर्षेय पुण्य पदचिह्न पड़े ।।२।।

ओजस्वी वाणी सारस्वती
संस्कृत-शुभचिन्तक आकर्षित,
दिग्दिगन्तर में व्याप्ति-गूंज
हितगर्भित अर्थावगमन करे ।।३।।

ऋषितुल्य पूज्य अभिनन्दनीय
अनुज प्रशंसक, प्रिय शिष्यों के,
सम्पर्क मात्र से मन पुलकित
सद्यः उदात्त अन्तर्भाव जगे ।।४।।

अतुल मंगलमय आशीः स्पर्श
स्मृति चिरस्थ, स्थायी अनुभूति,
हम धन्य, परम सौभाग्यवान्
नतमस्तक, मन ही नमन करे ।।५।।

# डा० मण्डन मिश्र और उनके आठ इंटरव्यू

—डा० रवीन्द्र नागर

डा० मण्डन मिश्र जी का नाम वस्तुत: आज संस्कृत का पर्याय बन गया है। पूरे विश्व में संस्कृत को आज कोई भी ऐसी संस्था नहीं है जिससे डा० मण्डन मिश्र का नाम न जुड़ा हो। वाराणसी का संस्कृत का सबसे पुराना संपूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय हो अथवा सुदूर स्थित किसी गांव की कोई छोटी-सी संस्कृत पाठ-शाला सबकी प्रगति और उसकी कार्य पद्धति से डा० मण्डन मिश्र जुड़े हुए हैं। विश्व के विभिन्न प्रतिष्ठानों, विश्वविद्यालयों और संस्थाओं के साथ भी आपका विशेष संबंध है। अमेरिका के फिलाडेलफिया विश्वविद्यालय में आयोजित संस्कृत विश्व सम्मेलन हो अथवा आस्ट्रेलिया में आयोजित संस्कृत सम्मेलन हो,'हाँगकांग, जर्मनी, इंग्लैण्ड जैसे सम्पन्न देशों में आयोजित कोई भी संस्कृत का समारोह हो अथवा मारिशस जैसे विकासशील देश में संस्कृत का कोई कार्यक्रम रहा हो, हर जगह डा० मण्डन मिश्र किसी न किसी रूप में उपस्थित रहते हैं। राष्ट्रपति भवन से लेकर छोटी से छोटी संस्कृत संस्था तक के कार्यक्रम में वे बेहिचक जाते हैं।

मेरा यह परम सौभाग्य रहा है कि मैंने आठ बार उनका इंटरव्यू लिया है। तीन बार दूरदर्शन के लिये, तीन बार आकाशवाणी के लिए और दो बार समाचार पत्रों के लिये उनका इंटरव्यू लेने का मुझे परम सुखद अवसर मिला है। सबसे पहले १९८८ में जब डा० मण्डन मिश्र जी को उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी का एक लाख रुपये का सम्मान-प्रद पुरस्कार दिया गया तब दिल्ली दूरदर्शन की पत्रिका कार्यक्रम की निदेशिका डा० दुर्गावती सिंह ने मुझसे कहा कि पत्रिका कार्यक्रम के लिये किसी प्रकार डा० मण्डन मिश्र जी का साक्षात्कार लेना चाहिए। इसका पूरा दायित्व श्रीमती दुर्गावती सिंह ने मुझ पर सौंपा। उन दिनों डा० मण्डन मिश्र जी सदा की भांति अत्यन्त व्यस्त थे। परन्तु उन्होंने कृपापूर्वक मेरी प्रार्थना स्वीकार कर इंटरव्यू के लिये दूरदर्शन के स्टूडियो आना स्वीकार किया। इसके पहले तैयारी के रूप में मैंने उनसे लंबी बातचीत की। पत्रिका कार्यक्रम के लिये दिये गये १५ मिनट के इस इंटरव्यू में डा० मण्डन मिश्र जी ने बहुत ही सहज भाव से सभी प्रश्नों के उत्तर दिए। और कहीं भी ये प्रकट नहीं होने दिया कि वे जिस व्यक्ति से बात कर रहे हैं वह उनके अधीन एक सामान्य-सा अध्यापक है। प्रश्न पूछते समय मैंने भी पूरी मर्यादा के साथ परन्तु हर तरह के प्रश्न उनसे पूछे। दूसरा इंटरव्यू दूरदर्शन के लिये ही मैंने उनसे उनके कुलपति बनने के बाद लिया। तीसरा इंटरव्यू दूरदर्शन के

लिये मैंने १९९२ में संस्कृत दिवस के अवसर पर संस्कृत भाषा में लिया।

आकाशवाणी के लिये रविवासरीय संस्कृत कार्यक्रम के लिये मीमांसा विषय पर बातचीत को और उनसे मीमांसा जैसे गहन एवं गूढ़ विषय पर शास्त्रीय पक्षों को उजागर करने की प्रार्थना की ! डा० मण्डन मिश्र ने इस गंभीर विषय को बहुत ही सरल संस्कृत भाषा में स्पष्ट किया। संस्कृत की सामान्य स्थिति और विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में संस्कृत के बारे में हो रहे कार्यों की प्रगति संबंधी एक लंबा इंटरव्यू डा० मण्डन मिश्र का आकाशवाणी के लिये लिया। इसमें उन्होंने देश-विदेश के संस्कृत संबंधी विभिन्न आंकड़े प्रस्तुत करके श्रोताओं को आश्चर्य चकित कर दिया। मीडिया से जुड़े इन छै साक्षात्कारों में जहां मण्डन मिश्र जी एक ओर सहज सुलझे हुए वार्ताकार प्रतीत हुए वहीं वे अत्यन्त जानकारी वाले विनम्र संस्कृत विद्वान के रूप में हमारे सामने आए। मैं तो क्या मेरे पूज्य पिताजी ने भी डा० मण्डन मिश्र के अधीन विद्यापीठ में सेवा की है परन्तु डा० मण्डन मिश्र जी ने कभी भी इस बात का आभास नहीं होने दिया कि वे अपने एक मातहत से बात कर रहे हैं। मैंने अनेक लोगों के इंटरव्यू देश-विदेश के संस्थानों पर लिए हैं परन्तु डा० मण्डन मिश्र जी की बात ही कुछ अलग है। वे प्रश्नों के छोटे-छोटे उत्तर देते हैं, सटीक बोलते हैं, उदाहरणों से अपनी बात सुपुष्ट करते हैं। कभी भी किसी पर आक्षेप नहीं करते। "विद्याविनयेन शोभते" की साक्षात् मूर्ति हैं। उनकी वाणी में प्रसाद ओज एवं माधुर्य का अद्भुत सम्मिश्रण है। अहंकार तो जैसे उन्हें छू भी नहीं गया। उनकी बात कभी-कभी बच्चों जैसी सहज होती है तो कभी-कभी मित्रों जैसी सहज।

समाचार पत्रों के लिये दो अवसरों पर दो बार उनसे मैंने इंटरव्यू लिया और इन दोनों ही अवसरों पर उनसे बहुत लंबी बातचीत हुई। इस बातचीत की एक बानगी देखिए। जब उन्हें एक लाख का पुरस्कार मिला तो उसके साथ ही उनके पूज्य गुरुदेव आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री जी को भी यह पुरस्कार मिला था। आचार्य पट्टाभिराम जी ने यह राशि किसी संस्था को दान दे दी थी। अपने इंटरव्यू में मैंने डा० मण्डन मिश्र जी से पूछा "डा० साहब क्या आप भी यह राशि किसी संस्था को दान देने वाले हैं" तो उन्होंने बहुत विनम्र भाव से कहा कि "नागर जी मैं गुरुजी जैसी अवस्था में अभी नहीं पहुंचा हूँ"। इस उत्तर से जहां एक ओर उनकी विनम्रता झलकती है वहीं उन्होंने गागर में सागर भरकर सब कुछ कह दिया। डा० मण्डन मिश्र जी ने अनेक अवसरों पर यह बताया कि वे सदा अपने काम के प्रति निष्ठावान अपने विचार के प्रति दृढ़ निश्चय, अपने बड़ों के प्रति आदर-भाव रखने वाले और सदा अपना लक्ष्य निर्धारित करने वाले व्यक्ति रहे हैं तभी तो आज विश्वभर में डा० मण्डन मिश्र जी को जो सम्मान प्राप्त है वह अपने आप

में एक आदर्श बन गया है। अनेक विषयों पर तो बातचीत करते-करते वे सहज भाव से कह देते हैं "इस विषय में मेरी पूरी जानकारी नहीं है"। वे कभी भी बनावटीपन नहीं रखते। उन्हें असंख्य घटनाएं एवं उदाहरण याद हैं, सैंकड़ों टेलीफोन नंबर उन्हें स्मरण हैं, बहुत सारे लोगों के पते उन्हें ज़बानी याद हैं। अगर कहा जाए कि डा० मण्डन मिश्र संस्कृत के जीवित चलते-फिरते इंसायक्लोपीडिया है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मैं ऐसे महान् और उदात्त व्यक्ति के प्रति अपने विचार व्यक्त करके स्वयं को धन्य मानता हूं। उनमें उदारता की भावना कूट-कूटकर भरी है उनके पावन चरणों में मेरे विनम्र प्रणाम !

# संस्कृत परिवार के मुखिया महामना डा० मण्डन मिश्र

—डा० रमाकान्त शुक्ल

डा० मण्डन मिश्र से मैं १९६७ के आसपास मिला था। उन दिनों वे शक्ति नगर में श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ का संचालन करते थे। डा० वी० राघवन् का भाषण होना था। वे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी प्रथम परिचय हुआ था। मैंने अपने पूज्य पिताजी का नाम लिया तो बड़ी आत्मीयता से उन्होंने बात की।

उन दिनों डा० मण्डन मिश्र संस्कृत के प्रचार-प्रसार में बड़े उत्साह से जुटे हुए थे उनका यह उत्साह विगत डेढ़-दो दशाब्दियों से बना हुआ था। राष्ट्रपति-भवन में पं० कमलापति त्रिपाठी जी के सान्निध्य में अ० भा० संस्कृत शिक्षा सम्मेलन हो अथवा विज्ञान भवन में विश्व संस्कृत सम्मेलन अथवा अन्य आयोजन सभी में डा० मिश्र की व्यस्तता, तत्परता और साधना झलकती थी।

डा० मिश्र के प्रयासों से ही विद्यापीठ मोतीबाग (शान्ति निकेतन) में आया; संस्थान से सम्बद्ध हुआ और फिर मानित विश्वविद्यालय बन गया। उनके आलोचक कुछ भी लिखते और छापते-छपवाते रहें किन्तु यह निर्विवाद है कि दिल्ली में एक संस्था को खड़ी करके उसे विश्वविद्यालय स्तर तक पहुँचा देना—हर किसी के बूते की बात नहीं। न जाने कितनी बातें सुननी पड़ती हैं, कितने व्यक्तियों से मिलना पड़ता है—तब कहीं फाइलें आगे बढ़ती हैं। कितनी बार अपमान झेलने की स्थिति भी आ जाती है। असंभव नहीं कि यह सब डा० मिश्र को भी झेलना पड़ा हो—किन्तु **'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति'** इस न्याय के अनुसार वे तब तक नहीं रुके जब तक विद्यापीठ मानित विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो गया। मैं उन्हें 'महामना मण्डन मिश्र' कहता हूँ। अपनी तमाम चर्चित विशेषताओं के साथ वे आज भी इस विशेषण के अधिकारी हैं। यदि कोई अन्य व्यक्ति दिल्ली में एक और संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करे तो उसे भी मैं यही विशेषण दूँगा।

डा० मण्डन मिश्र संस्कृत-जगत् के ऊँचे से ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित रहे। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के निदेशक, संस्कृत विद्यापीठों के प्राचार्य, श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के आद्य कुलपति, अनेक संस्कृत सम्मेलनों के आयोजक, सचिव और अध्यक्ष—किन्तु उनके व्यवहार में दर्प और दम्भ देखने को नहीं मिला। फोन पर बातें हों तो—'प्रणाम करता हूँ भैया जी!' और सामने मिलें

तो हाथ में हाथ पकड़कर स्नेहपूर्वक हथेली दबाते बात करना। संस्कृत के प्रचार-प्रसार में लगे व्यक्ति तथा संस्थाओं को भरपूर प्रोत्साहन और सहयोग देना डा० मण्डन मिश्र के स्वभाव की सनातन विशेषता है। 'देववाणी-परिषद्, दिल्ली' जैसी असाधन और वित्तहीन संस्था जो ऐतिहासिक स्मरणीय आयोजन करने में सफल हो सकी—उसमें डा० मिश्र के हार्दिक और सक्रिय सहयोग की बड़ी भूमिका है। वाणी विहार हो दिल्ली विश्वविद्यालय का टैगोर हाल, राष्ट्रीय संग्रहालय हो या राजधानी कालेज, मैनपुरी हो या फिर श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ—जहां भी डा० साहब को जिस रूप में भी बुलाया—वे अवश्य आये। हमें आज तक 'कन्वेंस' की चिन्ता नहीं हुई। वे स्वयं भी पधारे और बड़े-बड़े व्यक्तियों और अधिकारियों को देववाणी-परिषद् के मंच पर लाये।

राजस्थान संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष और राष्ट्रिय वेद विद्या प्रतिष्ठान के सचिव के रूप में आपने ऐतिहासिक आयोजन किये जिनमें सम्पूर्ण देश के विद्वानों की भागीदारी कराकर विश्व कीर्तिमान स्थापित किया।

फिलाडेल्फिया में षष्ठ विश्व संस्कृत सम्मेलन में आप पधारे। वहाँ मैं भी गया था। संस्कृत के अनेक कवि बन्धु भी वहाँ उपस्थित थे। मन में विचार आया कि सेमिनारों और पत्र-वाचन गोष्ठियों के अतिरिक्त साम्प्रतिक संस्कृत की रचनाओं के पाठ से प्रतिनिधियों को क्यों न परिचित कराया जाय। मैंने डा० मिश्र से बात की। उन्हें विचार ठीक लगा। प्रो० बेण्डर से बात की गयी। उन्होंने आधा घण्टे का प्रावधान व्यस्त कार्यक्रम से निकाल कर किया। फिलाडेल्फिया के हेरिसन हॉल में 'प्रथम विश्व संस्कृत सम्मेलन' का आयोजन सम्भवतः १५-१०-८४ को हुआ जिसका संयोजक मुझे बनाया गया और जिसमें डा० सत्यव्रत शास्त्री, डा० रसिक विहारी जोशी, डा० रमा चौधरी, डा० भास्कराचार्य त्रिपाठी आदि कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं मैंने भी 'भाति मे भारतम्' रचना के अंश पढ़े थे। डा० मण्डन मिश्र ने इस कवि सम्मेलन का उद्घाटन किया। डा० रामकरण शर्मा ने इसकी अध्यक्षता की। यह कार्यक्रम पत्र-पत्रिकाओं में पर्याप्त चर्चित हुआ। उसके परवर्ती सम्मेलनों में कवि-सम्मेलन का प्रावधान होने लगा। इस ऐतिहासिक सारस्वत अनुष्ठान के आरम्भ में डा० मिश्र की भूमिका अविस्मरणीय है।

डा० मिश्र कहा करते हैं कि 'संस्कृत के प्रचारक को शास्त्र से दूर जाना पड़ता है।' यद्यपि यह सही है किन्तु मीमांसा शास्त्र में उनकी गहरी पैठ में कोई कमी नहीं आयी। डा० रवीन्द्र नागर को दूरदर्शन पर इण्टरव्यू देते हुए आपने मीमांसा-शास्त्र का रहस्य जिन सरल शब्दों में बताया वह तभी सम्भव है जब कि बताने वाला उस शास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर चुका हो।

स्थितप्रज्ञ डा० मण्डन मिश्र 'कुलपति-पद' से अवकाश के बाद तुरन्त 'कुलपति-आवास' खाली कर मैदान गढ़ी के अपने आवास में चले गये। वे चाहते तो

नियमानुसार ही कुछ मास और वहाँ रह सकते थे किन्तु 'कीर के कागर' के समान इन सुख-सुविधाओं को विदा कह गये।

डा० मण्डन मिश्र विश्व के गिने-चुने संस्कृत-साधकों में अन्यतम हैं। उन्हें कभी अपनी प्रभुता का मद नहीं हुआ। उन्होंने विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा, सभा में वाक्पटुता, युद्ध में विक्रम, यश में अभिरुचि और श्रुति में व्यसन को आज तक नहीं त्यागा। महात्माओं की ये प्रकृति-सिद्ध विशेषताएँ उन्हें वैशिष्टय प्रदान करती हैं। इनके साथ 'विनम्रता' सोने पर सुहागा है।

विद्वानों के प्रति श्रद्धा उनके मन में सहज है। अधिक विस्तार में न जाकर एक ताज़ा उदाहरण देकर मैं इस आलेख को समाप्त करूँगा। ९.९.१९९५ को गुरुवर आचार्य डा० रमेशचन्द्र जी शुक्ल ब्रह्मलीन हो गये। २०.९.९५ को जनक-पुरी के हरिमन्दिर में उनकी श्रद्धाञ्जलि-सभा होनो थी। स्व० आचार्य शुक्ल जी के पुत्र डा० देवशंकर शुक्ल ने मुझे कुछ कार्ड पोस्ट करने को दिये। मैंने आचार्य मित्रनाथ योगी, कविरत्न श्रीकृष्ण सेमवाल, डा० रामकरण शर्मा, डा० वाचस्पति उपाध्याय तथा डा० मण्डन मिश्र के नाम पोस्ट कर दिये। चूंकि मैदानगढ़ी का गृह नम्बर आदि मेरे पास नहीं था; अतः डा० भास्कर मिश्र (डा० मण्डन मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र) के विद्यापीठ के पते पर डा० मण्डन मिश्र का पत्र पोस्ट कर दिया। मैं उन्हें फोन भी नहीं कर पाया। कुछ व्यस्तताएँ रहीं। २०.९.९५ को स्व० आचार्य शुक्ल जी की श्रद्धांजलि-सभा के संचालन के लिए भाई देवशंकर जी ने मुझे कहा। लगभग डेढ़ घण्टे के बाद हरिमन्दिर के आगे एक कार आकर रुकी जिसमें से विद्यापीठ के वर्तमान कुलपति डा० वाचस्पति उपाध्याय के साथ डा० मिश्र वहाँ श्रद्धांजलि देने आये। उन्होंने आचार्य रमेशचन्द्र शुक्ल जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते समय कहा—'हमें आचार्य जी के जाने का शोक नहीं है, क्योंकि अधीतिबोध आचरण प्रचार में संलग्न उनकी आयु ब्रह्मलीन होने की ही थी, कष्ट यह है कि हम उन्हें कन्धा नहीं दे सके।' आचार्य शुक्ल जी न बड़े अधिकारी थे न प्रभावशाली राज-नेता। वे एक अत्यन्त सरल तपोमूर्ति विद्वान् थे। डा० मण्डन मिश्र को कायदे से हम पत्र भी नहीं भेज पाये, हम उन्हें फोन भी न कर पाये; उन्हें हरिमन्दिर का सही रास्ता भी न बता पाये और वे पहले हरिनगर पहुंचकर मन्दिर ढूंढते रहे और बाद में जनकपुरी के हरिमन्दिर में एक विद्वान् के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित करने पहुँचे। ऐसी हार्दिक विनम्रता और सरस्वती के उपासक महामना डा० मिश्र को मैं प्रणाम करता हूँ। वे वर्तमान—संस्कृत-परिवार के मुखिया हैं।

व्यक्ति में शक्ति और सीमा सभी होती है या दिखाई देती है। उसके गुण सबको प्रेरणा देते हैं। अध्यवसाय, वैदुष्य, विनम्रता और लक्ष्य प्राप्ति पर्यन्त कठोर परिश्रम—ये गुण हैं डा० मण्डन मिश्र के जो किसी भी व्यक्ति या समाज को प्रेरणा देने वाले हैं।

# Dr. Saheb—As I Have Known Him

**T.N. Dhar**

It is well nigh impossible to write about a senior who has been very close and intimate. I had the privilege of working under Dr. Mandan Mishra and the honour to be very close to him. I am not, therefore, competent to write about his scholarship or administrative acumen but I can dare say that Dr. Mishra is not an individual but an institution in himself. He is humane and his qualities of leadership and management are par excellence. Energywise his capacity to work, his memory, his information and his judgement, planning and foresight are phenomenal. One has only to know him to believe what a store of information he is about sanskritists, Sanskrit institutions and Sanskrit lovers. He is a living encyclopaedia.

He is one of those rare persons who plan for the development of their own institution and in the process achieve their own advancement. It is very well known how he developed Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha from a night pathshala to a University and himself rose to be its first Vice-Chancellor. How many others also benefitted and what a service was rendered in the cause of Sanskrit in the bargain, is anybody's guess.

His anxiety for the Vidyapeetha staff can be gauged from the fact that soon on my joining the Rashtriya Sanskrit Sansthan as Dy. Director (F) he discussed with me the planning for the construction programme of the Vidyapeetha, and got the planning rephased in such a way that the staff quarters were given the first priority.

I can cite dozens of examples to illustrate how humane Dr. Mishra is. I vividly remember that as Chairman of the Rajasthan Sanskrit Academy, a function was organised by him at Jaipur. I was sent to represent the Sansthan. Since my train was late I drove to the venue of the function straight from the Railway Station. The function was on, presided over by Late Pt. Kamlapati Tripathi. The Chief Minister of Rajasthan Shri Mathur was addressing the audience and a number of Ministers, and other dignitories were present both on the dais and in the hall. Dr. Madan Mishra, who was on the dais, suddenly spotted me. He came to me and took me out of the hall and directed a worker to take me to a near-by restuarant for breakfast.

His managerial qualities unfolded to me on numerous occasions. I was with him when he got a message from Prime Minister's Press Secretary that the Prime Minister, Shrimati Indira Gandhi, wanted him to arrage a meeting for her with the intellectuals. Time was short and the job stupendous. But the manner he got about with the job and the success this meet had was awe inspiring. About two hundred Academicians, Musicians, Scholars, artists, thinkers and writers assembled in the auditorium of the National Museum and participated in the deliberations. Shrimati Gandhi was so impressed that she cancelled all her engagements and sat through the meeting for more than three hours. Her own address to the intellectuals on this occasion was historic, the finest that I had ever heard from her.

His prodigal energy to work is astonishing. He would daily take his simple meal comprising Roti, Dal and vegetable at breakfast time at 9.00 a m. and untiringly work throughout the day for over 12 hours, consuming a few glasses of water and an occasional cup of tea. This way he has worked for Sanskrit, Indian culture and rendered social service in a number of fields.

His humility is proverbial. He addresses everyone low and high with respect and showers abundant affection to those who work with him. He has acknowledged the help and support, given by anyone, however modest that might have been in the development of the Vidyapeetha and has honoured them all at the appropriate time. I have never seen him maintaining notes or a diary but once he starts his day he attends to all his engagements with clock like precision never missing any thing important or ordinary.

He has unflinching faith in God. Whenever there was function big or small, he would on the previous eve go to Gauri Shankar Temple or any other temple and pray for its success. Whenever he proceeded on tour to any place, the first thing he would do on landing there was to pay his obeisence to the presiding deity of the place be it Vishwanath at Banaras, Govind Raj Ji at Jaipur or Mahakal at Ujjain. His devotion to saints and savants is unique. It is not for nothing that he is blessed by Shankaracharyas and other holy persons. His respect towards his preceptor Later Padma Bhushan Maha Mahopadhyaya Acharya Pattabhiram Shastri was worth emulating. He would touch his feet at any place even in the full view of the audience present. He would never take a seat at the same level as that of Shastri Ji.

His compassion for the grief stricken and needy is praiseworthy. I have known a number of occasions when he arranged financial assistance for people in need of prolonged or costly treatment. Above all, his capacity to forgive and forget even his worst enemy (luckily very few) is a trait which is seen in very few persons.

Dr. Mishra has been associated with a number of prestigious institutions of Sanskrit and Sanskriti. He has won many an award. He has held very eminent positions of Principal, Director, Chairman and Vice-Chancellor. He reached nadir of his name and fame when he was awarded President's

certificate of honour and the prestigious Rs. 1 lakh award by the U.P. Sanskrit Academy. Yet these laurels did not affect him a bit. He remained ever so humble, polite and simple. Those who have known him for decades will vouch for his steadfastness and hospitality. He has treated highest honours at par with a small garland offered by a student. He has in him all the qualities of a Karma Yogi and Sthita Prajna.

I have learnt a lot from him and therefore, I salute him considering that it was the reward for any good that I might have done to have had the fortune of knowing him and working with him. It is well said :

सतां सद्भिः सङ्गः
कथमपि हि पुण्येन भवति ।

# मेरे बाल-सखा

कर्पूरचन्द कुलिश

बन्धुवर मंडनजी का अभिनन्दन हो रहा है। इससे बड़ी प्रसन्नता की बात मेरे लिये क्या हो सकती है। वे अभिनन्दनीय हैं। अभिनन्दनीय जनों का अभिनन्दन होना ही चाहिये। उन्होंने हमें जो कुछ दिया, उसके प्रतिकार का यह अतितुच्छ उपाय है।

मंडन जी को मैं बाल सखा कहता हूं। यद्यपि उनके साथ मेरा परिचय तरुणाई में हुआ, परन्तु यह हमारी शिक्षा की बाल्यावस्था ही मानी जायेगी। वे अपने गांव से निकल कर जयपुर में आये थे और मैं भी। झालानियों के रास्ते में महाकवि पद्माकर के वंशज कमलाकर जी (गुरुजी) "साहित्य सदावर्त" नाम से एक संस्था हिन्दी साहित्य की निःशुल्क शिक्षा के लिये चलाते थे। वहीं मण्डनजी से मेरा परिचय हुआ। वे संस्कृत में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे परन्तु साथ-साथ हिन्दी में भी स्वाध्याय करते रहते थे। निवास के लिये उन्होंने गुरुजी का सान्निध्य ग्रहण किया।

मेरी स्मृति में आज भी उनका वह चित्र खचित है। निरन्तर स्वाध्याय और पुस्तकाभ्यास, तनिक भी आलस्य नहीं, खेलकूद, मनोरंजन इत्यादि में तनिक भी रुचि नहीं। ऐसा लगता था उस तरुण में एक धुन सवार थी कुछ न कुछ बनने की, एक संकल्प था कुछ न कुछ कर दिखाने का।

मंडन जी के व्यक्तित्व के साथ ही मेरे सामने पूरे देश की जनशक्ति का चित्र स्पष्ट हो जाता है। इस देश की सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण प्रतिभा, सम्पूर्ण सम्पदा गांवों में छिपी है और वह अमित है। गाँव के आदमी को अवसर मिलते ही वह किस तरह प्रस्फुटित होता है, उसका एक ज्वलन्त उदाहरण मंडन जी हैं। परन्तु ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। मंडनजी में अध्यवसाय था वह जयपुर आते ही प्रकट होने लगा। आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री का आशीर्वाद और गुरु कमलाकरजी का सान्निध्य मिलने पर वह पूर्णता को प्राप्त हुआ और मंडन जी ने इस सुयोग का भरपूर उपयोग किया।

मंडन जी के व्यक्तित्व में कर्मठता एवं गुरुजन सेवा के जो गुण उनके जीवन के प्रारम्भ में थे वो आज भी यथावत् बने हुये हैं। साथ ही लोक संग्रह का गुण भी उनके व्यक्तित्व का अंग है। वे निरन्तर मित्र बनाते रहे हैं, परन्तु मैत्री का निर्वाह भी मनोयोग के साथ करते हैं।

मंडन जी के जीवन का मूल मन्त्र संस्कृत शिक्षा और संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार रहा है। स्वतन्त्रता के कुछ वर्ष बाद ही अपनी शिक्षा-दीक्षा में निष्णात् होकर वे संस्कृत का व्रत लेकर चल पड़े। अपनी आजीविका की चिन्ता के साथ संस्कृत प्रचार में जुटे रहे। कहना न होगा कि इसके लिये उन्होंने अदन से अदन पंडित और बड़े से बड़े राजपुरुष का सहारा मांगा और संस्कृत के प्रसार में

उनका सफल उपयोग किया। आज मुझे यह कहते हुये गर्व होता है कि मंडन और संस्कृत पर्यायवाची बन गए हैं। वाराणसी में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करना उनकी संस्कृत सेवा का उचित सम्मान माना जायेगा। इस आसन पर एक से एक दिग्गज आसीन हुये हैं। उनका उत्तराधिकार मंडन जी के लिये ऋषियों के आशीर्वाद के समान सिद्ध होगा।

मैं उनके स्वस्थ सुदीर्घ जीवन के लिये अपनी हार्दिक शुभकामनायें अर्पित करता हूं।

---

## जीयाच्चिरं मण्डनः

—प्रकाशचन्द्रजैनः

श्रीमन्मण्डनमिश्रसंस्कृतसुधीर्विद्याप्रचारव्रती,
विद्वान् सद्गुणमन्दिरं सुसरलः कर्तव्यनिष्ठः श्रमी।
येनेयं सुरभारती सुमनसा सम्यक् समाराधिता,
सोऽयं संस्कृतवाग्विलासलसितो जीयाच्चिरं मण्डनः ॥१॥
यो विद्याव्यसनी प्रशासनपटुः शिक्षाव्यवस्थापकः,
शास्त्रज्ञो नवकाव्यलेखनरुचिः साहित्यसेवी महान्।
धीरो मौलिकचिन्तकः स्मितमुखो गाम्भीर्यवारान्निधिः,
उच्चैस्थोऽपि विनम्रतामधिगतो विद्वत्प्रियो मण्डनः ॥२॥
भाषैषाऽमरभारती सुविदुषा नित्यं समुन्नीयते,
स्थाप्यन्ते सुरभारतीप्रगतिदाः संस्थाः महत्योऽमुना।
विद्वेषि-द्विप-मानखण्डनविधौ पञ्चाननो मण्डनः,
जीयाद्वर्षशताधिकं सुयशसा गीर्वाणवागुन्नयन् ॥३॥
कीर्तिर्यस्य समग्रभारततले ज्योत्स्नेव शुभ्रच्छविः,
विद्वांसः स्ववशीकृता विनयिना प्रेमोपकारैः सदा।
सर्वेषां हितचिन्तकः सुमधुरो निन्दाप्रशंसासमः,
सोऽयं संस्कृतनायको विजयतां स्वस्थः प्रसन्नः सदा ॥४॥
श्रीमल्लालबहादुरस्य महतो नाम्नाऽमुना स्थापितं
विद्यापीठमिदं करोति सततं गीर्वाणभाषोन्नतिम्।
दिल्ली संस्कृतवाङ्मयी समभवत् तत्संस्थया साम्प्रतम्,
सोऽयं संस्कृतमानदः प्रगतिदो जीयाच्चिरं मण्डनः ॥५॥
जैनेन्द्रैः प्रतिपादितेऽस्य विदुषो धर्मेऽस्ति श्रद्धा परा,
जैनाचार-विचार पूतचरितैर्जैनेषु लोकप्रियः।
अद्यास्मिन् मुनिकुन्दकुन्दभवने जैनाग्रजैः सत्कृतः,
विद्यानन्दमुनेः पवित्रशरणे सम्मानमाप्नोत्ययम् ॥६॥*

---

* राजधानीस्थे कुन्दकुन्दभारतीनामके प्रतिष्ठाने समायोजिते मण्डनमिश्रसम्मान-समारोहावसरे विहितेयं शुभाशंसा।

# मरुभूमि का मेघ

डा० ज्योत्स्ना मोहन

कुछ समय से मन में एक संकल्प था कि गुरु जी (श्रद्धेय डा० मण्डन मिश्र जी) के विषय में कुछ लिखूं। प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन के समय जब मित्रों ने आग्रह किया कि "तुम तो गुरु जी की धर्मपुत्री हो, अतः अपने हृदय की भावना व्यक्त करो या किसी संस्मरण का उल्लेख करो" तो मैं इस लोभ का संवरण न कर सकी और मुझे लगा कि मेरी संकल्प पूर्ति का अवसर आ गया है। परन्तु जब लिखने लगी तो यह प्रश्न उठा कि गुरु जी का क्या चित्र आँकूँ ? क्योंकि विभिन्न आयामों वाले व्यक्तित्व पर कई कई कोणों से विचार करते हुए उनकी समग्रता को अभिव्यक्ति देने की क्षमता असम्भव सी जान पड़ी।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, नानाविध रुचियों से सम्पन्न व्यक्तित्व, सनातन संस्कृति के रक्षक, संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार में जिनका जीवन समर्पित हो, 24 घण्टे के दिन में 48 घण्टे होने का धोखा पैदा करते हुए अपनी हर रुचि और हर कर्त्तव्य के लिए जिन्होंने समय निकाला हो, सार्वजनिक जीवन के हर क्षेत्र में अपनी प्रतिभा सार्थक की हो, ऐसा जीवन चरित आसानी से पकड़ में नहीं आता। जिन्होंने यश की आकांक्षा ही न की हो उनकी गौरव गाथा जुटाना दुष्कर हो जाता है। ऐसा लगता है कि व्यक्तित्व को एक छोर से पकड़ने का प्रयास करें तो दूसरा हाथ से छूटा चला जाता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके विषय में निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने देशकाल में विशिष्ट ऐतिहासिक भूमिका के निर्वाह के लिए ही जन्म लिया है। गुरु जी भी ऐसे महापुरुषों में से एक हैं। जीवन के क्षेत्र में आपने ऐसे पहलुओं को प्रश्रय दिया जो कर्मठता को प्रेरित कर सके। "कर्मण्येवाधिकारस्ते"—गीता का यह मूल मन्त्र आपके जीवन में ध्वनित होता है। कभी-कभी यह आभास होता है कि कर्म को आपने नशे की तरह स्वीकारा है। बींसवीं शताब्दी का मध्ययुग ही था, जब अपनी अन्तःसर्जना को कर्म-जगत् में मूर्तरूप देने का स्वप्न लेकर गुरुजी राजस्थान से दिल्ली आए थे। दिल्ली में एक ऐसे शिक्षा केन्द्र की स्थापना करना आपका ध्येय था जो हमारी प्राचीन संस्कृति का प्रतिबिम्ब हो। "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्", संस्कृति के महापुरोहित ने "श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ" द्वारा इस आर्ष भावना को सार्थक करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया। आपके व्यक्तित्व और विचार ने सन् 1989 में 'श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ' को मानित विश्वविद्यालय का रूप देकर जिस नवीन चेतना का संचार किया, वह एक अभूतपूर्व घटना ही कही जाएगी।

संस्कृत और संस्कृतज्ञ के जिस स्वरूप को प्रबुद्ध नागरिकों के समक्ष प्रस्तुत किया वह सबके लिए नवीन, प्रेरणादायक और चमत्कृत करने वाला है। विद्यापीठ की स्थापना से उसे मानित विश्वविद्यालय का रूप देने तक अनेक विरोधाभासों के

पतझड़ों का सामना करना पड़ा। परन्तु अन्ततोगत्वा सफलता के रूप में जो बसन्त की मधुर बयार का आनन्द आया तो ऐसा लगा मानो स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न साकार हुआ। सेतु निर्माण की परम्परा में पदयात्रियों का आवागमन ही सेतु निर्माता का सबसे बड़ा सन्तोष और योगदान है। इसके विकास और विस्तार के मूल में निरन्तर श्रम-संवर्धना की यही प्रेरणा रही, जो ऐतरेय उपनिषद् के वाक्य में है :—

**कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।**
**उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन्॥**

(सोने वाला कलि है, जगने वाला द्वापर है, उठ खड़ा होनें वाला त्रेता है किन्तु श्रम करनें वाला तो सतयुग है, इसलिए अधिकाधिक श्रभ करते रहो।)

गुरु जी उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जो अपने सिद्धान्तों, आस्थाओं और मान्यताओं पर सदैव दृढ़ रहे। विद्वानों के प्रति आपके मन में एक विशेष स्थान रहा। यही कारण है समय समय पर विद्यापीठ में विद्वानों को आमन्त्रित कर जहां उनके वैदुष्य से श्रोताओं को लाभान्वित करवाया वहां विद्वज्जनों को सम्मानित भी किया।

"शुभस्य शीघ्रम्" में गुरुजी की आस्था है। आपका दृढ़ विश्वास है कि सफलता पाकर बैठ जाने वालों के पास सफलता नहीं रहती। आपका मानना है कि फल खाने और भोगनें को ही नहीं मिलता, इसको बांटना और बढ़ाना चाहिए। आपकी इच्छा पेड़ से पेड़ लगाने की है, ताकि पेड़ों से कुंज और कुँजों से वन तैयार किये जाएं जो हरियाली को विस्तार दें और बेरोजगारी के रेगिस्तान को बढ़ने से रोक सकें। आपने मुझ जैसे अनेंकों व्यक्तियों को रोजगार दिया परन्तु प्रतिकार में कभी कुछ नहीं चाहा। बाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है कि राम कृतज्ञता की मूर्ति हैं। उन पर यदि कोई एक भी उपकार करे, तो वे सन्तुष्ट हो जाते हैं लेकिन वह किसी पर यदि सैकड़ों उपकार करें वे याद तक नहीं रखते—

**कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।**
**न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥**

राम के इस आदर्श चरित का आपने अपने जीवन में अनुकरण किया। स्वयं आपके ही शब्दों में "मैंने अब तक सैकड़ों को रोजगार दिया परन्तु इस सूक्ति को सदैव स्मरण रखा 'नेकी कर कुंए में डाल'। आज सभी मेरे इस उपकार को मानने लगे तो मेरे पास तांता लग जाएगा। अतः अच्छा है व्यक्ति भूल जाता है और मुझे याद नहीं रखता।"

यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि व्यक्ति की क्षमताएं और सम्भावनाएं परखने में गुरू जी की अचूक दृष्टि है। एक व्यक्ति को सही रूप में नियुक्त करना और उसको पूरा दायित्व देना आपका पहला काम है। व्यक्ति में ईमानदारी का ऊँचा स्तर तथा उसके आचरण की सच्चाई, दूसरा उसका प्रतिभावान् तथा कुशाग्र

बुद्धि होना अपेक्षित है। ऐसे व्यक्ति का चयन करना अथवा उनमें छिपी हुई शक्तियों को उभरने का अवसर देना, आपकी निर्णयात्मक दूरदर्शिता है। एक विशेष बात यह है कि अपने स्वयं के परिवार के या दूर सम्बन्धियों का चयन ऐसे पदों के लिए शायद ही किया हो। इस विषय में आप हर प्रकार के राग-अनुराग से परे हैं। हाँ यह अवश्य हुआ कि जब आपने किसी व्यक्ति का चयन किया तो उसने आपसे पारिवारिक सम्बन्ध बनाने में अपने को धन्य माना। जातिवाद अथवा क्षेत्रीयता को कभी वरीयता नहीं दी।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस में लिखा है कि "नहिं कोउ अस जनमा जग मांही। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहिं॥" परन्तु जब मैं आपके व्यक्तित्व को देखती हूँ तो बार-बार तुलसीदास जी की उक्त पंक्ति के विषय में सोचती हूँ जो आपके विषय में चरितार्थ नहीं होती। निरन्तर उच्च पदों पर आसीन रहकर आपने पद की गरिमा को तो बनाए रखा परन्तु अभिमान को ईश्वर का भोजन जानकर अपने से दूर रखा। छात्र हो या शिक्षक, कर्मचारी हो या अधिकारी आपका द्वार सभी के लिए खुला रहा। पाण्डित्य, सरलता और स्नेह के मणि-कांचन संयोग ने आपके व्यक्तित्व को अलंकृत किया। आप जिससे भी मिले या जो आपके सम्पर्क में आया उसे अपने गुणों से सम्मोहित किया। "विरोधी का हृदय परिवर्तन करना है और वह प्रेम से ही होगा।" आपके इस सुनिश्चित सिद्धान्त को अनेकों ने भ्रान्त रूप में देखा। ये शब्द मैं आपके विषय में कह रही हूँ, यह मेरा आपके प्रति अतिरिक्त श्रद्धा भाव हो सकता है किन्तु "जिनके इतने निकट रही, जिनसे इतना कुछ सीखा, उनके लिए श्रद्धा न करूँ तो क्या करूँ ? आपके समक्ष एक बाल-विद्यार्थी बनकर बैठने का स्वाद ही अलग है। पितृतुल्य वात्सल्य पाकर जिज्ञासा को जो तृप्ति मिलती है, उसे शब्दों से कहा नहीं जा सकता।

कभी-कभी मुझें ऐसा लगा कि कठोर और अनुशासित संयम से भरे हुए जीवन में भोगों के प्रति जो तिरस्कार आपकी मानसिकता में रच गया, उसने आपकी मानवीय प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण करके उसे साहित्य की भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा के प्रखरतम शिखरों पर पहुंचाने में अतिरिक्त सहयोग किया।

अन्त में यही कहूँगी कि व्यक्ति के जीवन की घटनाएं कही जा सकती हैं परन्तु व्यक्तित्व को समेटने की शक्ति शब्दों में नहीं है। आपके व्यक्तित्व की तस्वीर खींचना कठिन है। रेखाएं कहाँ से, कौन सी खींची जायें, इस विषय में तूलिका को कोई मदद नहीं मिलती। संस्कृत का श्लोक स्मरण आता है जिसमें कहा गया है कि महापुरुषों के गुण प्रकाशित करने के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं होती। कस्तूरी की सुगन्ध किसी शपथ की मोहताज नहीं रहती—

"सन्तः स्वतः प्रकाशन्ते गुणा न परतो नृणाम्।
आमोदो नहि कस्तूर्याः शपथेन विभाव्यते॥"

# संस्कृत वाङ्मय के अप्रतिम मनीषी डॉ० मण्डन मिश्र

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

**शैक्षणिक उपलब्धियाँ**

डॉ० मण्डन मिश्र भारतवर्ष के लोकविश्रुत प्रदेश राजस्थान के जयपुर की पावनभूमि के वरदपुत्र हैं। डॉ० मिश्र की प्रारम्भिक शिक्षा अमरसर में तथा उच्च शिक्षा जयपुर में महामहोपाध्याय श्री पट्टाभिरामशास्त्री के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। डॉ० मिश्र ने मीमांसा और साहित्य में सर्वोत्तम श्रेणी में आचार्य और संस्कृत में सर्वप्रथम श्रेणी में एम० ए० परीक्षायें उत्तीर्ण कीं। तत्पश्चात् डॉ० मिश्र ने राजस्थान विश्वविद्यालय में 'मीमांसा दर्शन का समालोचनात्मक इतिहास' विषय में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

**अध्यापन**

डॉ० मण्डन मिश्र ने प्रथमतः महाराजा संस्कृत कालेज जयपुर में संस्कृत प्रवक्ता के रूप में अध्यापन-कार्य प्रारम्भ किया और अपनी योग्यतापूर्ण सशक्त अध्यापन शैली के कारण उसी कालेज में प्रोफेसर पद को भी सुशोभित किया। सारस्वत-साधना की सतत अभ्युन्नति से डॉ० मिश्र श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली के निदेशक और कुलपति के गौरवास्पद पद पर प्रतिष्ठित हुए। संस्कृत शिक्षा-क्षेत्र में डॉ० मिश्र की उत्तरोत्तर समुन्नत स्थिति उनकी कार्यनिष्ठा और कर्तव्यपरायणता की परिचायक है। डॉ० मिश्र सदृश विशिष्ट विद्वान् को पाकर वस्तुतः कुलपति पद गौरवान्वित हुआ है।

**समाज सेवा**

डॉ० मिश्र सुयोग्य विद्वान्, सफल प्राध्यापक और कर्मठ प्रशासक होने के साथ ही एक समाजसेवी व्यक्ति भी हैं। डॉ० मिश्र में संस्कृत-साधना और समाज-सेवा का मणि-काञ्चन संयोग उनके व्यक्तित्व की विलक्षणता का प्रतीक है। डॉ० मिश्र ने १९४७ ई० में जयपुर में भारतीय साहित्य विद्यालय की स्थापना कर अपनी समाज सेवा का श्रीगणेश किया। उन्होंने उक्त विद्यालय के माध्यम से रात्रि पाठशालाओं में २० हजार से भी अधिक पुरुषार्थी सिन्धी भाई-बहनों को राष्ट्र-भाषा हिन्दी सिखाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 'राजस्थान भारत सेवक समाज' के सचिव के रूप में डॉ० मिश्र ने राजस्थान के युवावर्ग में नयी चेतना जगाई।

'भारत साधु समाज' के स्थापनाप्रसङ्ग में डॉ० मिश्र भारत के तत्कालीन प्रधान-मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू के सम्पर्क में आये। उस समय डॉ० मिश्र के रूप में एक ऐसे व्यक्तित्व का आविर्भाव हुआ, जो संस्कृत में अगाध वैदग्ध्य के साथ ही समाज सेवाव्रत, भाषण, लेखन, संगठन, प्रमुख नेतृवर्ग सम्पर्क तथा प्रशासन-कोशल का सुदृढ़ आधार स्तम्भ लेकर विकसित हुआ। पंजाब समस्या के आरम्भिक दिनों में श्रीमती इन्दिरा गांधी के निर्देश से डॉ० मिश्र ने राष्ट्रिय बुद्धिजीवी सम्मेलन का सफल आयोजन किया, जिसका उद्घाटन स्वयं श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया। दिल्ली में संस्कृत विद्वानों के आवास के लिए दिल्ली विकास प्राधिकरण द्वारा आवण्टित भूखंड पर 'संस्कृत नगर' नाम से १२६ आवासों का निर्माण-कार्य डॉ० मिश्र की समाज सेवा का अनुपम निदर्शन है।

**विविध संस्कृत संस्थान-संस्थापक**

डॉ० मण्डन मिश्र का, संस्कृत संस्थाओं से जुड़ने का क्रम महामना पं० मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के मन्त्री के रूप में १९५६ ई० में प्रारम्भ हुआ। डॉ० मिश्र ने शिथिलप्राय संस्कृत साहित्य सम्मेलन में नवजीवन का संचार किया और सभी प्रदेशों में उसकी शाखायें स्थापित की। डॉ० मिश्र के ही निर्देशन में विश्व संस्कृत शताब्दी योजना का प्रवर्तन हुआ। उनके ही निरन्तर प्रयत्न से १९६१ ई० में कलकत्ता में भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के ऐतिहासिक अधिवेशन का उद्घाटन देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने किया। उसी अधिवेशन में दिल्ली में एक संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना का शुभ संकल्प लिया गया। फलस्वरूप डॉ० मिश्रने १९६२ ई० में दिल्ली में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना की। डॉ० मिश्र के ही सत्प्रयास से उस समय संस्कृत विद्यालयों को ९५ प्रतिशत शासकीय सहायता प्राप्त हुई। १९६७ ई० में डॉ० मिश्र ने श्री लालबहादुर शास्त्री की पुण्यस्मृति में संस्कृत विद्यापीठ को श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के रूप में परिणत किया। डॉ० मिश्र के ही भगीरथ प्रयास से संस्कृत विद्यापीठ १९८९ ई० में मानित विश्वविद्यालय के रूप में प्रोन्नत हुआ। डॉ० मिश्र उस विश्वविद्यालय के प्रथम संस्थापक कुलपति नियुक्त हुए। एक व्यक्ति द्वारा रात्रिपाठशाला से लेकर संस्कृत की एक सामान्य संस्था को विश्वविद्यालय स्तर तक समुन्नत करना, संस्कृत जगत् में डॉ० मिश्र का महनीय अवदान है।

डॉ० मिश्र ने संस्कृत शिक्षा के विकास के लिए अखिल भारतीय संस्कृत शिक्षा सम्मेलन की भी स्थापना की, जिसके अध्यक्ष स्व० पं० कमलापति त्रिपाठी थे। डॉ० मिश्र ने अपने श्रद्धेय गुरुवर्य की स्मृति में वाराणसी में 'श्रीपट्टाभिराम शास्त्री वेद मीमांसानुसंधान केन्द्र' की स्थापना की है। इस केन्द्र के माध्यम से वेद और मीमांसाशास्त्र में स्वतंत्र शोधकार्य का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

### बहु आयामी व्यक्तित्व

डॉ० मिश्र ने दिल्ली प्रवासकाल में भी दस वर्षों तक राजस्थान संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष के रूप में अपनी सेवायें अर्पित कीं। वे अखिल भारतीय पञ्चाङ्ग कर्ता सम्मेलन के भी सर्वसम्मत अध्यक्ष नियुक्त हुए। डॉ० मिश्र ने १९८४ ई० में अमेरिका में आयोजित विश्व संस्कृत सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप में तथा १९९३ ई० में न्यूयार्क में आयोजित अथर्ववेद सम्मेलन में भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। १९९४ ई० में आस्ट्रेलिया में आयोजित विश्व संस्कृत सम्मेलन में सम्मिलित हुए। इसके अतिरिक्त इटली, इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, सिंगापुर, थाइलैंड और हांगकांग देशों का भ्रमण कर डॉ० मिश्र ने संस्कृत और भारतीय संस्कृति का दिव्य संदेश दिया।

### कृतियां

डॉ० मण्डन मिश्र ने, एक सफल प्राध्यापक, कुशल प्रशासक होने के साथ ही प्रशस्त लेखनी के भी धनी व्यक्ति होने का श्रेय प्राप्त किया है। इनकी प्रथम कृति 'मीमांसा दर्शन' इनके तलस्पर्शी वैदुष्य का शोभन उदाहरण है। डॉ० मिश्र की दूसरी रचना 'संस्कृत, संस्कृति स्तवक' भी महत्त्वपूर्ण है। डॉ० मिश्र द्वारा संस्कृत विद्यापीठ से उपनिषदों का आडियो कैसट्स हिन्दी अनुवाद के साथ तैयार किया गया है। यह कार्य डॉ० मिश्र की आधुनिक दृष्टि की परख का ज्वलन्त उदाहरण है। डॉ० मिश्र के निर्देशन में ६० से अधिक ग्रन्थों का सम्पादन-प्रकाशन उनकी सम्पादन योग्यता का द्योतक है।

### पुरस्कार तथा सम्मान

देश के सामान्यवर्ग से लेकर महान् नेताओं और समाजसेवी संस्थाओं ने डॉ० मिश्र को पुरस्कृत एवं सम्मानित किया है। इस क्रम में दिल्ली साहित्य कला-परिषद् ने १९७१ ई० में संस्कृत सेवाओं के लिए इनको सम्मानित किया। १९८३ ई० में डॉ० मिश्र भारत सरकार द्वारा राष्ट्रपति सम्मान पत्र से पुरस्कृत हुए। उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान ने १९८९ ई० में डॉ० मिश्र को, उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व के आधार पर 'विश्वभारती पुरस्कार' से विभूषित किया। श्रृंगेरीमठ के शंकराचार्य स्वामी श्री अभिनव तीर्थ ने डॉ० मिश्र को 'विद्या भास्कर' की उपाधि से सम्मानित किया। दिल्ली संस्कृत अकादमी ने भी डा० मिश्र को संस्कृत सेवा सम्मान से समादृत किया है।

### वर्तमानपद

डॉ० मण्डन मिश्र दिल्ली स्थित श्री लालबहादुर संस्कृत विद्यापीठ के कुलपति पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी में कुलपति के महनीय पद को सुशोभित कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त डॉ० मिश्र अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय विद्या अध्ययन गोष्ठी की प्रबन्ध समिति, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, केन्द्रीय संस्कृत मण्डल आदि प्रतिष्ठित संस्थाओं के सदस्य और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नियुक्त संस्कृत और शास्त्रीय भाषाओं के पैनल के संयोजक हैं। संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में डॉ० मिश्र की कार्यसूची में संस्कृत विश्वविद्यालय को केन्द्रीय विश्वविद्यालय का रूप देना प्रथम वरीयता प्राप्त है। इस सन्दर्भ में गत २१ अगस्त को संस्कृत विश्वविद्यालय के विशेष दीक्षान्त समारोह में महामहिम राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा से आश्वासन भी प्राप्त हो चुका है।

निष्कर्षत: डॉ० मण्डन मिश्र चतुरस्र प्रतिभा के निष्णात विद्वान् और संस्कृतशास्त्र के मर्मज्ञ मनीषी हैं। संस्कृत-भाषा की सर्वविध उन्नति के लिए डॉ० मिश्र का सक्रिय सहयोग विशेष श्लाघनीय है। प्रत्येक प्रदेश की संस्कृत संस्थाओं के विकास में विभिन्न विश्वविद्यालयों, संस्थानों और विद्यापीठों के शुभारम्भ में तथा राष्ट्र में संस्कृत और संस्कृति वातावरण के निर्माण में डॉ० मिश्र का प्रशस्त योगदान विशेष महत्त्व रखता है। संस्कृत जगत् में डॉ० मिश्र की सुरभारती सेवा चिरस्मरणीय है। मैं डॉ० मण्डन मिश्र की सारस्वत साधना के सातत्य की हार्दिक कामना करता हूँ।

इति शम्।

# संस्कृतस्य संस्कृतेश्चानन्यसेवकाः डा० मिश्रमहोदयाः

—डा० रामप्रसाद त्रिपाठी

'भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा, श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासात्मके संस्कृतवाङ्मये भारतस्यात्मभूता संस्कृतिर्निहिता वर्तते। अतो भारतीयसंस्कृतेः स्वरूपज्ञानाय वेदशास्त्रगर्भं संस्कृतवाङ्मयमवश्यमध्येतव्यं ज्ञातव्यं च। ज्ञाने सत्येव तदीयानुष्ठानं संभवति, संस्काराणामनुष्ठानेनैव मानवो मानवतां लभते। उक्तं च शिष्टैः—

> मतयो यत्र गच्छन्ति, तत्र गच्छन्ति वानराः।
> शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति, तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

एवं च शास्त्रानुमोदिताचरणशीलत्वं पूर्णमानवत्वपरिचायकम्, बुद्धिमात्रानुसाराचरणं तु पशुत्वसमानाधिकरणमानवत्वपरिलक्षकम्।

अद्यत्वे वर्धमाने बर्बरयुगे धर्मनिरपेक्षबुद्धिवादिमानवानां संख्याया इयत्ताऽभावे महती विडम्बना धर्मस्येश्वरस्य च। एतादृशकरालकालस्य तिरोधानम्, धर्मयुगस्योद्भावनं च कथं स्यादिति सुविचार्य कतिपये महामनीषिणः संस्कृतवाङ्मयस्य मूलभूतं वेदं शास्त्रं च परिरिरक्षिषवो वेदानुसन्धानकेन्द्रं तदनुगणं शिष्यराशिं च समचिन्वन्। तादृशां महामनीषिणां मध्येऽन्यतमाः समासन्, प्रातःस्मरणीया विद्वद्वरेण्याः कुमारिलभट्टपादानां प्रातिनिध्यं विभ्राणाः श्रीमन्तः पट्टाभिरामशास्त्रिणः। तदीयशिष्यराशौ सन्ति देहलीस्थमानितसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य प्रथमे कुलपतिपदमलंकृतवन्तः, वाराणसीस्थसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपतिपदमलंकुर्वन्तः, देहल्यां तिरुपतिनगरे च मानितसंस्कृत विश्वविद्यालयस्य संस्थापने सर्वकारीयहृदये समीचीनप्रेरणया साफल्यमवाप्तवन्तः, जयपुरनगरे च संस्कृतविश्वविद्यालयनिर्माणे महान्तं प्रयत्नं विदधानाः, प्राच्यप्रतीच्योभयविधविद्याविशारदाः, संस्कृतवाङ्मयस्य पुनरुज्जीवने सोत्साहं बद्धपरिकराः संस्कृतजगज्जागरणरूपमण्डनकर्तृत्वेन मण्डनमिश्रेति स्वकीयं नाम सार्थकयन्त आर्यमिश्राः श्रीमण्डनमिश्रमहानुभावाः।

एते महाभागाः १९५६ ईस्वीये वत्सरे पञ्चाम्बुप्रान्ते जालन्धरनगरे अखिलभारतीयसंस्कृतसाहित्यसम्मेलने तदीयसर्वस्वभूत-परमश्रद्धेय-महामहोपाध्यायश्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदिमहाभागानां दक्षिणहस्तरूपेण कार्यक्रमसंचालने तत्परा आसन्? अहमपि तस्मिन् सम्मेलने समुपस्थाय शास्त्रार्थचर्चायां भागं गृहीतवानासम्। तत्र सर्वैर्विद्वद्भिरहं प्राथम्येन निर्णीतः। परिणाममिमं श्रुत्वा

एते मिश्रमहाभागाः साधुशब्दैः पौनः पुन्येन सप्रहर्षं मामभिनन्दितवन्तः। ततः प्रभृत्येव एतेषां मयि महती श्रद्धा वर्तते, यद्यपि आत्मनि अहं तादृशीं योग्यतां न लक्षयामि।

१९८३ ईस्वीये वर्षे आजीवनराष्ट्रपतिपुरस्कारप्राप्तये मदीयं नाम सम्प्रेष्य साफल्यमलभन्त।

किं बहुना ?—

रामकृष्णडालमिया श्रीवाणीन्यासालंकारपुरस्कारयोजनायां मदर्थं भवतां विशिष्टं योगदानं कैः शब्दैः संकीर्तनीयं स्यात् ?

मया एतेषां कोऽप्युपकारोऽद्य यावन्नाकारि, ऋते आशीर्वचःप्रदानात् परन्तु ईदृशेऽनुपकारिणि ईदृशं महन्महनीयं व्यवहरन्तो मिश्रमहाशया वस्तुतो महाशया एव।

मनीषिप्रवरा इमे विद्यया, यशसा, पारिवारिकसुखसमृद्धिसम्पत्या, संस्कृत-साहित्यस्य पौनः पुन्येनेदृशसंसेवया, सुस्वास्थ्यपुरस्सरशताधिकवयसा च समेधन्तामिति अभिनन्दनग्रन्थप्रकाशनावसरे भवानीविश्वनाथयोः चरणारविन्देषु प्रार्थयमानो निवेदयामि।

# संस्कृत गगनाङ्गण दीपक : डॉ० मण्डन मिश्र

—डॉ० युगल किशोर मिश्र

संस्कृत जगत् के तेजोमय प्रभाभासुर श्री विग्रह आचार्य डॉ० मण्डन मिश्र जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से मेरा परिचय अध्ययनावस्था से ही होता रहा किन्तु इन्हें निकट से देखने एवं परिचित होने का सौभाग्य तब मिला, जब वे राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के निदेशक पद को विभूषित कर रहे थे। मैं उन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नव-नियुक्त प्राध्यापक था। एक आयोजन में उन्होंने मेरे वक्तव्य को सुना और सभा समाप्त होने पर अन्य सभी वयोवृद्ध-ज्ञान-वृद्ध विद्वज्जनों के बीच से सीधे मेरे पास आकर मुझे प्रशंसित किया तथा प्रोत्साहित कर शुभकामनायें दीं। मेरे नवयुवक हृदय को इससे बड़ा उत्साह मिला एवं मैं उनके इस उदात्त व्यवहार से बहुत प्रभावित हुआ। मुझे तब और अधिक सुखद आश्चर्य हुआ, जब कुछ दिनों बाद मुझे राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की एक समिति की सदस्यता का पत्र मिला। मुझे यह अनुभव हुआ कि डाक्टर साहब में संस्कृत से जुड़े नवयुवकों को उत्साहवर्धित कर आगे लाने की तीव्र भावना है। यही कारण है कि संस्कृत का युवा वर्ग अपनी योग्यतानुसार किसी न किसी रूप में डा० साहब से उपकृत है—एवं उनका अनुगामी है।

डॉ० मिश्र देश के हर कोने में संस्कृत जागरण के उन्नायक रहे हैं। कश्मीर से कन्याकुमारी तथा कामाख्या से द्वारिका तक होने वाले संस्कृत से संबंधित आयोजनों, संगोष्ठियों, सम्मेलनों में समान रूप से सादर आग्रहपूर्वक वे आहूत किये जाते हैं तथा अपने ओजस्वी विचारों एवं वाग्मिता से न केवल विद्वानों, राजनेताओं अपितु जन सामान्य को भी समान रूप से प्रभावित करते हैं। पूरे देश में डॉ० मिश्र एकमात्र ऐसे संस्कृत जननायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिन पर सभी समान रूप से आदर एवं श्रद्धा रखते हैं। यही कारण है कि देश में चतुर्दिक् चल रही संस्कृत क्षेत्र की प्रवृत्तियों के वे आधार स्तम्भ हैं।

विराट् व्यक्तित्व के धनी डा० मिश्र की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि वे संस्कृत से जुड़े सामान्य-कार्यकर्ताओं से लेकर संस्कृत जगत् के मूर्धन्य विद्वानों तक को पूर्ण आदर एवं महत्त्व देते हैं और उनके सुख-दुःख का पूर्ण ध्यान रखते हैं। सभी के प्रति उनका इतना विनम्र एवं मृदु व्यवहार होता है कि संपर्क में आने वाला व्यक्ति उनसे अभिभूत हुये बिना नहीं रह सकता। यही कारण है कि डॉ० मिश्र संस्कृतानुरागियों के हृदयमुकुर में प्रतिष्ठित हैं।

डॉ० मिश्र की महनीय विशेषताओं में से अन्यतम विशेषता उनकी ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा तथा संतों, महात्माओं एवं विद्वानों के प्रति अविचल निष्ठा है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि उनके जीवन की सफलता का रहस्य भी यही है। वे देश के किसी भी भाग में जाते हैं तो उस क्षेत्र में स्थित मन्दिरों का दर्शन एवं वहाँ के संत-महात्माओं एवं आचार्यों का दर्शन न केवल स्वयं करते हैं, अपितु अपने साथ के लोगों को भी कराते हैं। मेरी जानकारी में उनकी वाराणसी की कोई यात्रा ऐसी नहीं रही है जिसमें उन्होंने देवदर्शन या गंगास्नान न किया हो। प्राचीन वेदपाठियों के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा एवं सम्मान है।

डॉ० मिश्र के इस पुण्य का ही यह फल है कि उनके सभी प्रक्रम संसिद्ध होते हैं तथा सभी आयोजन भव्य, सफल एवं परिणाम-रमणीय बन जाते हैं। कभी कभी तो प्रतिकूल स्थितियों में भी आश्चर्यजनक ढंग से कार्यक्रम सफल होते देखे गये हैं। यहाँ मैं अगस्त १९९६ में सम्पन्न हुये संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के 'विशेष दीक्षान्त महोत्सव' का जिक्र करना चाहूंगा। इस 'विशेष दीक्षान्त महोत्सव' में महामहिम राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा जी पधारे थे। अगस्त मास वर्षा ऋतु का चरमोत्कर्ष होता है। दीक्षान्त महोत्सव के आयोजन तिथि से एक सप्ताह पूर्व से ही लगातार वर्षा चल रही थी, जिसके कारण जिला प्रशासन खुले मैदान में पण्डाल बना कर दीक्षान्त महोत्सव आयोजित करने का विरोध कर रहा था। डॉ० साहब ने बड़े आत्मविश्वास से जिला प्रशासन एवं उत्तर प्रदेश शासन के उच्चाधिकारियों को यह विश्वास दिलाया कि दीक्षान्त महोत्सव के दिन वर्षा जन्य विघ्न नहीं आयेगा। किन्तु उच्चाधिकारी अपनी आशंका पर दृढ़ रहे तथा इस शर्त के साथ पण्डाल लगाने की अनुमति दी कि उसके बगल के ही विश्वविद्यालय स्थित मुख्य भवन में भी समानान्तर सारी व्यवस्था रखी जायेगी ताकि वर्षा की स्थिति में पक्के भवन में दीक्षान्त महोत्सव सम्पन्न हो सके। तदनुसार दोनों जगह व्यवस्था रखते हुये तैयारियाँ शुरू हुईं। वर्षा का क्रम भी अनवरत चलता रहा। दीक्षान्त महोत्सव के दिन भी जब प्रातःकाल से ही अनवरत वर्षा का क्रम जारी रहा तब विश्वविद्यालय परिवार निराश हो गया और यह सर्वसम्मत धारणा बन गयी कि लाखों रुपयों की लागत से बने भव्य पण्डाल में दीक्षान्त महोत्सव नहीं हो सकेगा तथा विवश होकर अपेक्षाकृत अत्यन्त छोटे भवन में ही दीक्षान्त महोत्सव की औपचारिकता पूर्ण करनी पड़ेगी। इस परिस्थिति से सभी दुःखी एवं व्यग्र थे। जब कुलपति डॉ० मण्डनमिश्र जी के समक्ष यह बात पहुँची तो उन्होंने बड़े दृढ़ आत्मबल से कहा कि आप लोग चिन्ता न करें, ईश्वर ने चाहा तो पण्डाल में ही भव्यता के साथ दीक्षान्त महोत्सव होगा और वर्षा रुक जायेगी। विश्वविद्यालय परिवार को यह असम्भव सा प्रतीत हो रहा था। किन्तु उस समय लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मध्याह्न ३ बजे वर्षा रुक गयी एवं सायं ६ बजे तक खचाखच भरे हुये

विशाल पण्डाल में महामहिम राष्ट्रपति जी की उपस्थिति में अभूतपूर्व भव्यता के साथ दीक्षान्त महोत्सव निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। महामहिम राष्ट्रपति जी के प्रस्थान के आधे घण्टे बाद से पुनः वर्षा क्रम चालू हो गया और उस दिन रात भर वर्षा होती रही। मैं इस आश्चर्यजनक सुखद घटना को ईश्वर का अनुग्रह तो मानता ही हूँ, साथ ही कुलपति डॉ० मिश्र जी की ईश्वर के प्रति अविचल भक्ति, निष्ठा एवं श्रद्धा का फल भी मानता हूँ। यही कारण है कि वे जिस-जिस समय जिन-जिन संस्थाओं में रहे, उनका कार्यकाल यशस्वी रहा और संस्थाओं की सर्वाङ्गीण अभ्युन्नति हुई।

डॉ० मण्डन मिश्र जी एक कुशल प्रशासक, ओजस्वी वक्ता, विधुर काल में भी नगपति के समान अविचल, क्रियाविधिज्ञ, संस्कृत के प्रति समर्पित, ईश्वर एवं गुरुभक्त, प्रसन्नमना संस्कृत जगत् के तेजस्वी शलाका पुरुष हैं। संस्कृत जगत् उनका सदैव अधमर्ण रहेगा और वे संस्कृतानुरागियों के लिये कनिष्ठिका-धिष्ठित रहेंगे।
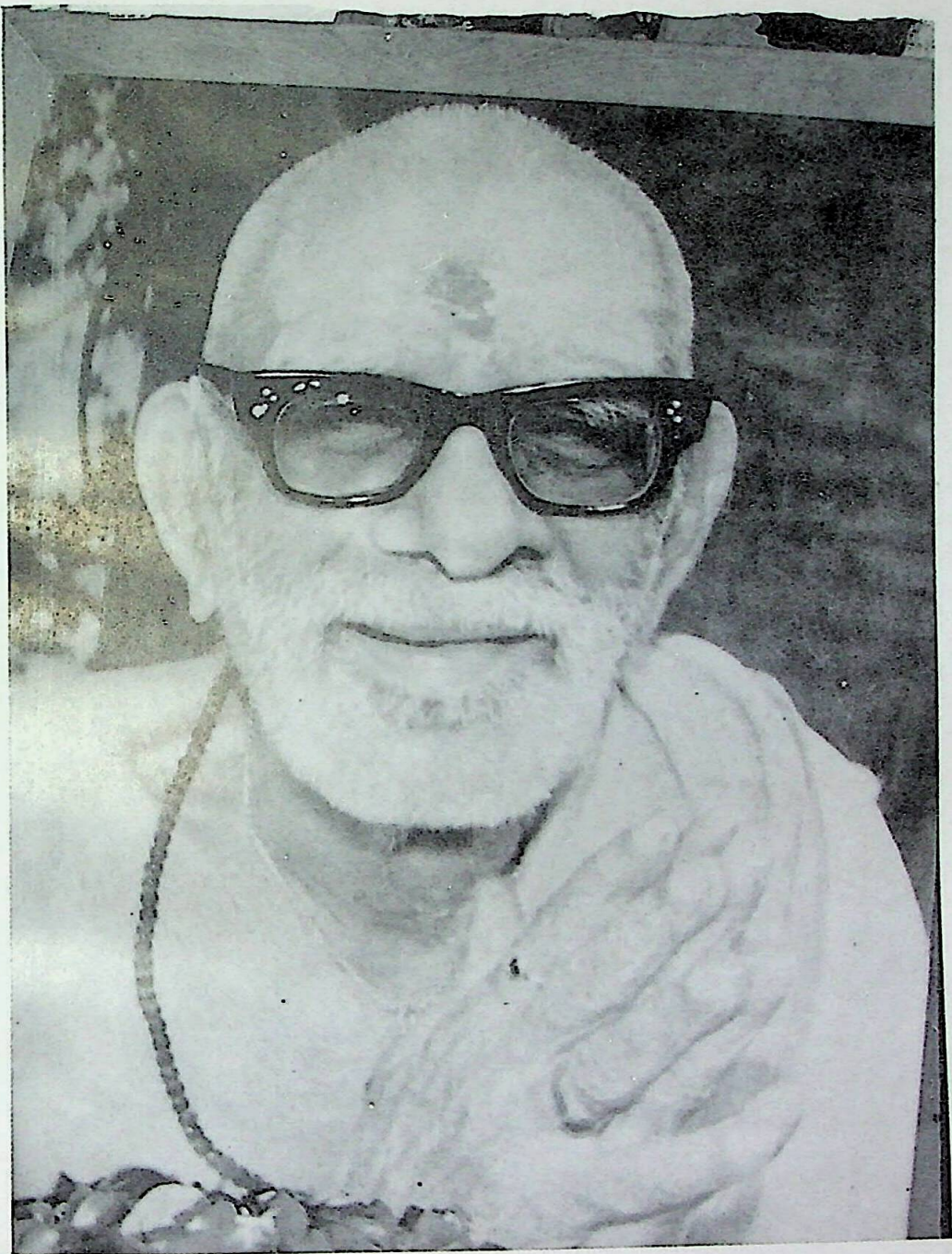
डॉ० मण्डनमिश्राणां विद्यागुरवो निर्मातारश्च पद्मभूषण-महामहोपाध्यायाः
श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणः।

डॉ० मण्डनमिश्राणां पितृपादाः पण्डितकन्हैयालालमिश्रमहोदयाः। (भगवत्याः जगदम्बायाः उपासकाः ज्योतिषकर्मकाण्डस्य विशेषज्ञाः)

डॉ० मण्डनमिश्राणां जननी धर्मस्य वात्सल्यस्य च प्रतिमूर्तिः स्वर्गीया श्रीमती मन्नीदेवी मिश्रा ।

श्रीदीनदयालुशताब्दीसमारोहस्योद्घाटनावसरे प्रधानमन्त्रिपंडितजवाहरलालनेहरूमहोदयानां स्वागतं कुर्वाणाः डॉ० मण्डनमिश्राः।

भारतस्य प्रधानमन्त्रिणां श्रीजवाहरलालनेहरूमहोदयानाम् अभिनन्दनं विदधानाः डॉ० मण्डनमिश्राः।
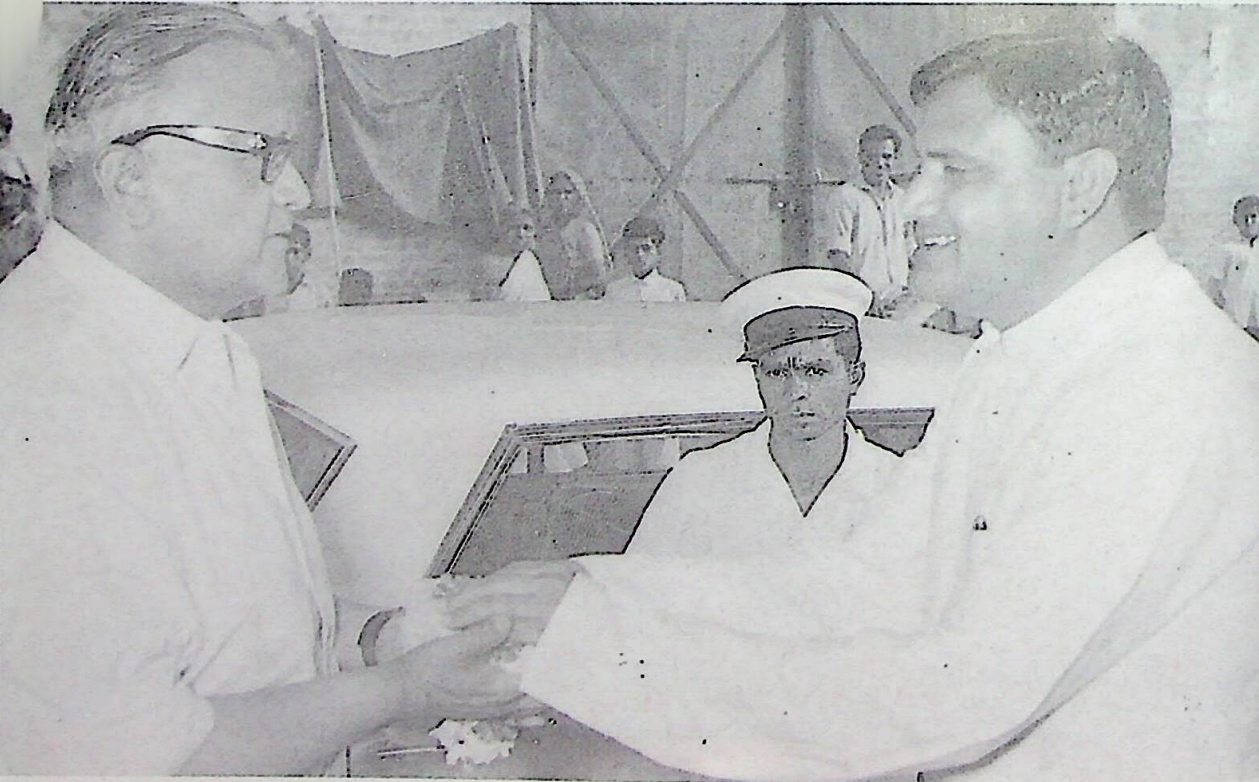
प्रधानमन्त्रिणां श्रीमोरारजीदेसाईमहोदयानां स्वागतं कुर्वाणाः डॉ० मण्डनमिश्राः।
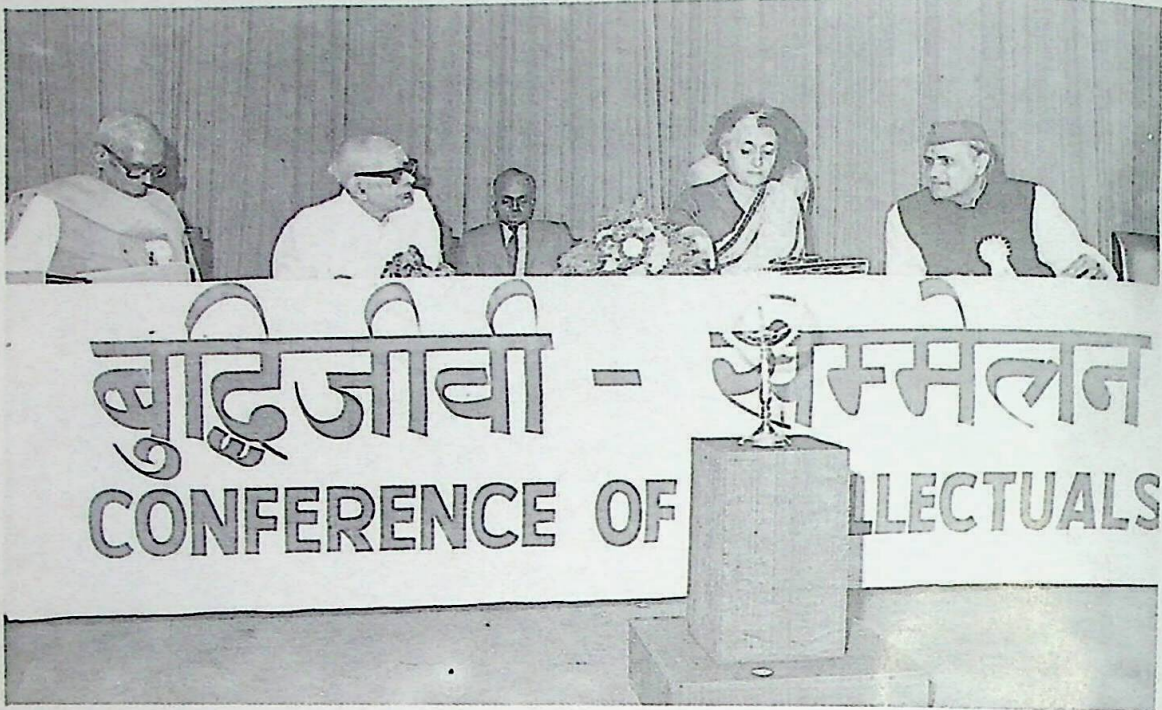
बुद्धिजीविसम्मेलने प्रधानमन्त्रिश्रीमती इन्दिरागांधीमहोदयाभिः सह पण्डितपट्टाभिरामशास्त्रिणः डॉ० मण्डनमिश्राश्च।
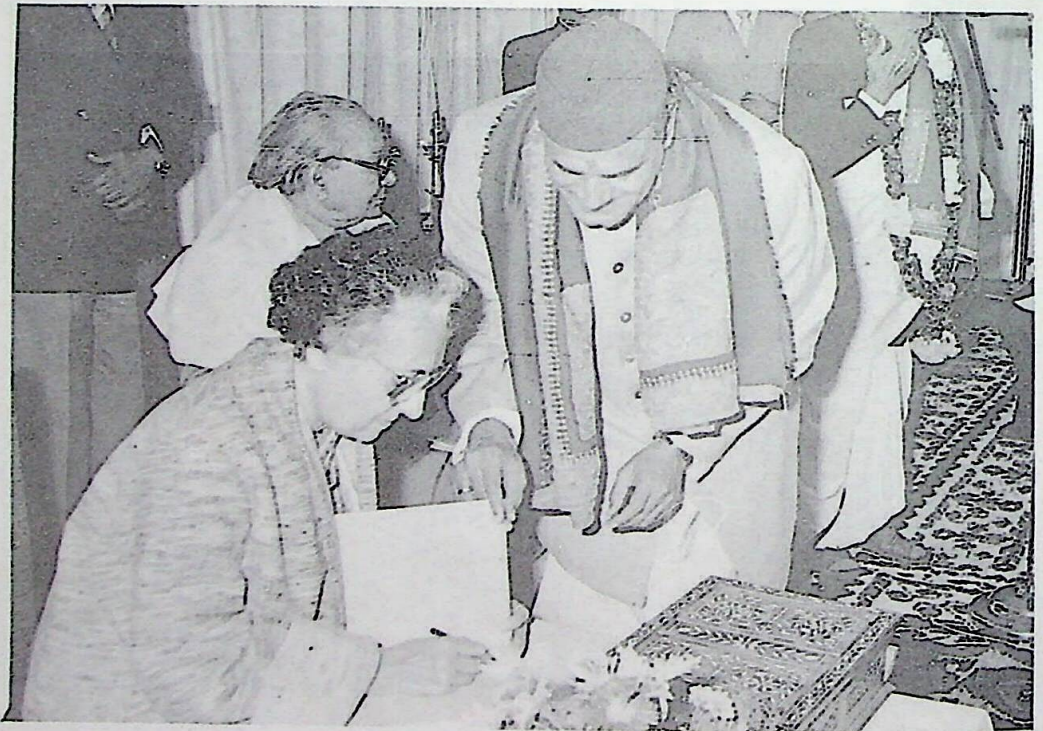
पण्डितपट्टाभिरामशास्त्री अभिनन्दनग्रन्थस्य लोकार्पणावसरे
श्रीमतीइन्दिरागांधीमहोदयाभ्योऽभिनन्दनग्रन्थं समर्पयन्तः डॉ० मण्डनमिश्राः।

प्रधानमन्त्रिश्रीमतीइन्दिरागांधीमहोदयानां सान्निध्ये विद्वत्सु मध्ये विराजन्ते डॉ० मण्डनमिश्राः।
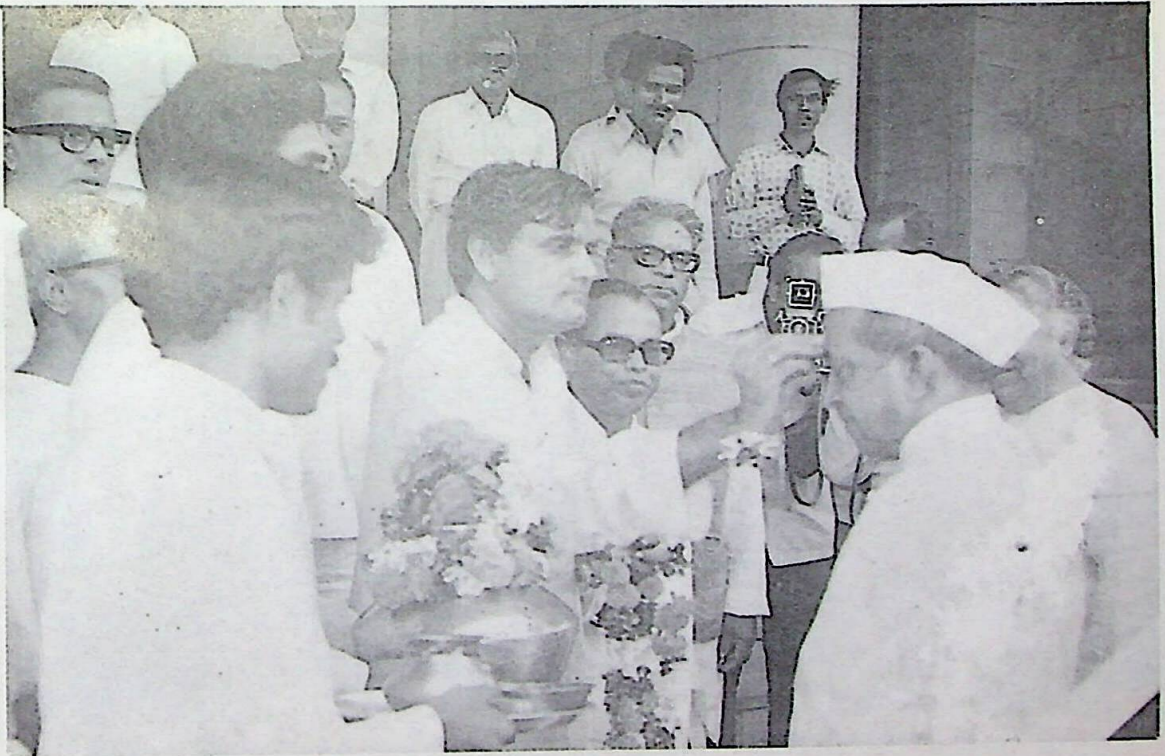
विद्यापीठस्य प्रांङ्गणे भारतस्योपराष्ट्रपतीनां श्री बी० डी० जत्तीमहोदयानाम् स्वागतं कुर्वाणाः डॉ० मण्डनमिश्राः।

भारतस्य राष्ट्रपतिभ्यः
श्रीज्ञानीजैलसिंहमहोदयेभ्यः
संस्कृतसेवासम्मानप्रमाणपत्रं
गृह्णन्तः डॉ० मण्डनमिश्राः।
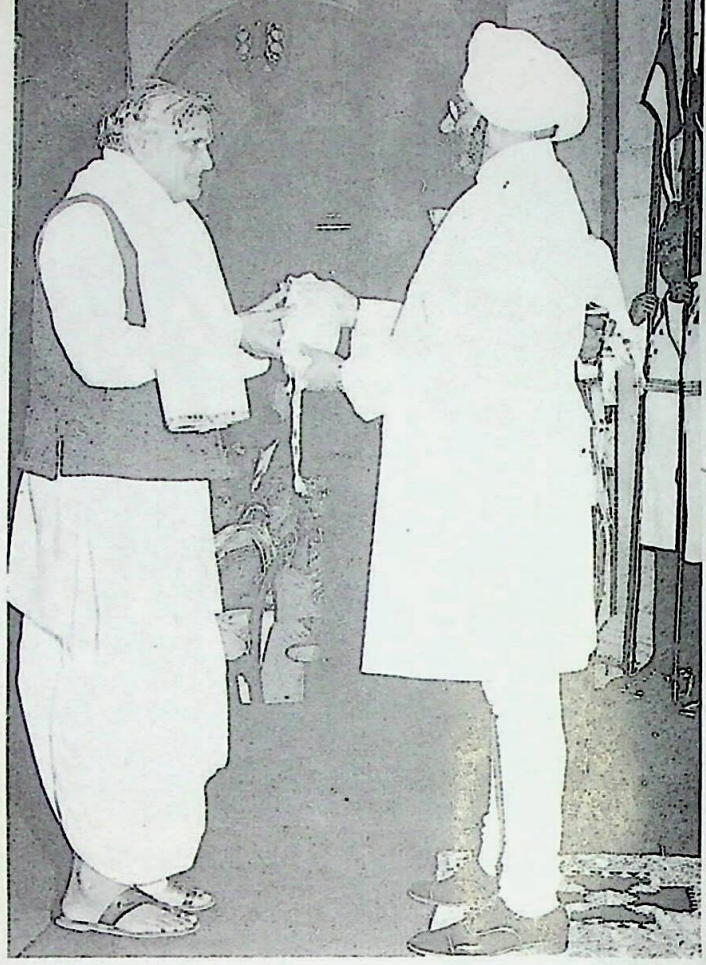
विद्यापीठस्य भवने रेलमन्त्रिपण्डितकमलापतित्रिपाठिमहोदयस्य स्वागतं कुर्वाणाः
डॉ० मण्डनमिश्राः।

विद्यापीठीयप्रकाशनानां प्रदर्शनावसरे मानवसंसाधनविकासमन्त्रिभिः श्रीनरसिंहरावमहोदयैः सह डॉ० मण्डनमिश्राः।
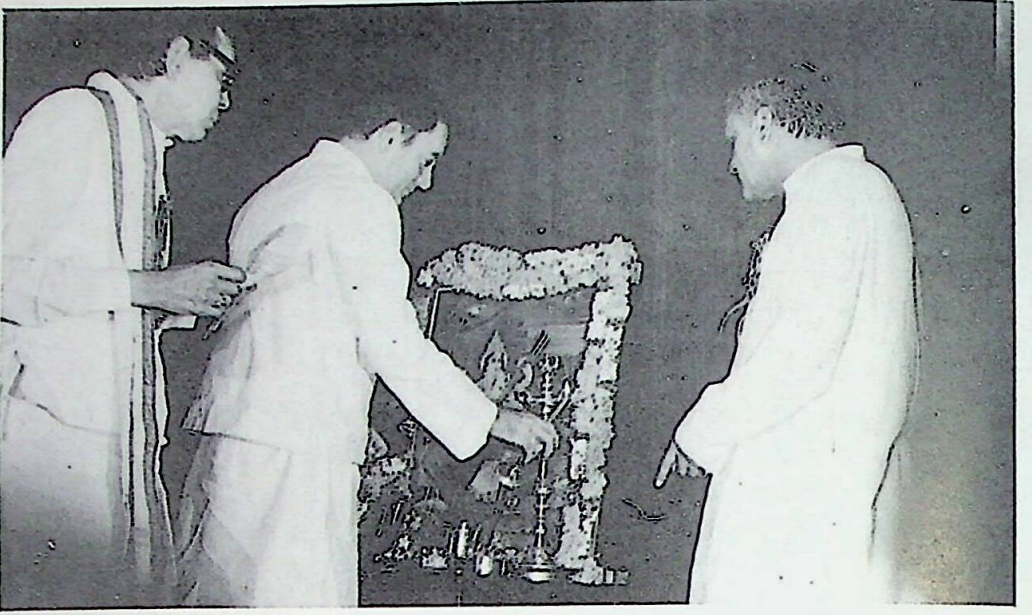
प्रधानमन्त्रिभ्यः श्रीराजीवगांधीमहोदयेभ्यः उत्तरप्रदेशसंस्कृत-अकादम्याः ''विश्व संस्कृत भारती पुरस्कारम्'' गृह्णन्तः डॉ० मण्डनमिश्राः।

उपराष्ट्रपतिभ्यः श्री आर० वेंकटरामन्महोदयेभ्यः नेहरूचरितमहाकाव्यं समर्पयन्तः डॉ० मण्डनमिश्राः।

राजस्थानसंस्कृतअकादमी-समायोजिते डॉ० राधाकृष्णन्शताब्दीसमारोहे ''स्वरमंगला'' शोधपत्रिकायाः लोकार्पणावसरे श्री शंकरदयालशर्मम[illegible]यैः सह डॉ०मण्डनमिश्राः। पार्श्वस्थाः सन्ति डॉ० गिरिजाव्यासमहोदयाः।

राष्ट्रपतिभ्यः श्रीशंकरदयालशर्ममहोदयेभ्यः नवदिल्लीस्थराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठस्य "वाचस्पतिः" इतिसम्मानितोपाधिम् समर्पयन्तो डॉ० मण्डनमिश्राः।
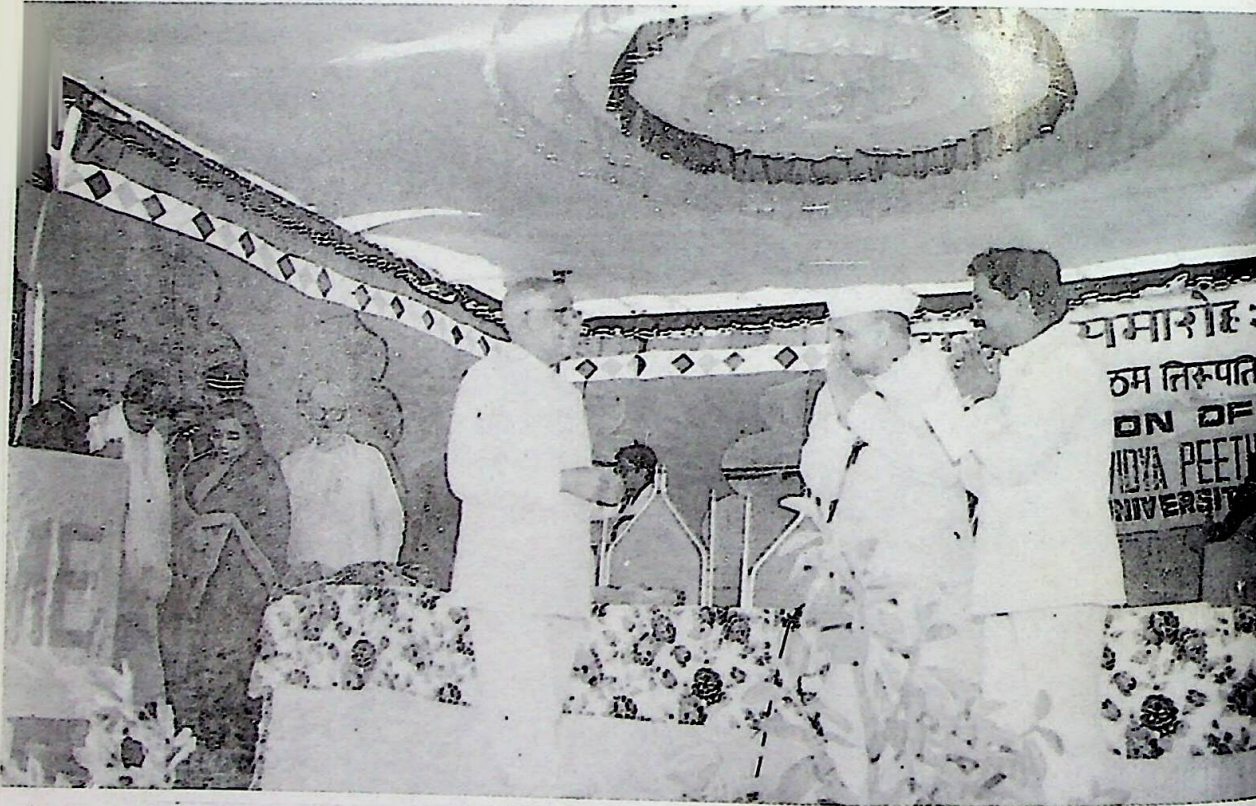
तिरूपतिविद्यापीठस्य मानितविश्वविद्यालयस्य घोषणावसरे राष्ट्रपति आर० वेंकटरमन्महोदयानां स्वागतं विदधानाः संस्थान निदेशकाः डॉ० मण्डनमिश्राः।

तिरुपतिस्थराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठस्य दीक्षान्तसमारोहे महामहिमराष्ट्रपति डॉ० शंकरदयालशर्ममहोदयेभ्यो सम्मानितोपाधिं समर्पयद्भिः कुलाधिपतिभिः श्रीरमारंजनमुखर्जीमहोदयैः सह डॉ० मण्डनमिश्राः।
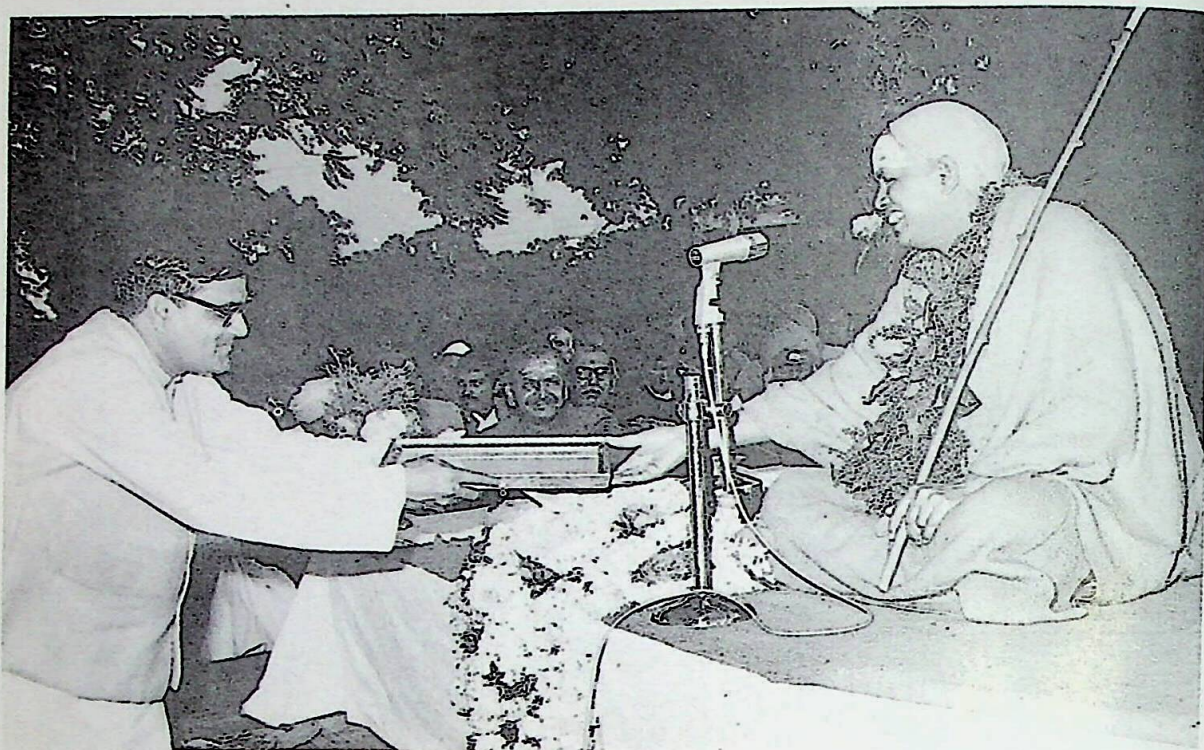
कांचीविद्यापीठाधीश्वेरभ्यः श्रीजयेन्द्रसरस्वतीमहास्वामिभ्यः सम्मानपत्रं समर्पयन्तः डॉ० मण्डनमिश्राः।

सौप्रस्थनिकाभिनन्दनसमारोहे शिक्षामन्त्रिश्रीअर्जुनसिंहमहोदयेभ्यः अभिनन्दनपत्रं गृह्णन्तो डॉ० मण्डनमिश्राः।

उपराष्ट्रपतिभ्यः श्री के० आर० नारायणन्महोदयेभ्यः "अनन्तगोपालशेवडे-पुरस्कारं" गृह्णन्तः डॉ० मण्डनमिश्राः।

आचार्यविद्यानन्दमुनीनां सान्निध्ये वित्तमन्त्रिश्रीमनमोहनसिंहमहोदयेभ्यः ''आचार्य कुन्दकुन्दपुरस्कारं गृह्णन्तः डॉ० मण्डनमिश्राः।

शृंगेरीशंकराचार्यश्रीश्रीभारतीतीर्थमहास्वामिनां दिल्लीयात्रायां रामलीलामैदाने स्वागतं कुर्वाणाः डॉ० मण्डनमिश्राः मञ्चस्थाः सन्ति श्रीअटलबिहारीवाजपेयी श्री टी० एन० चतुर्वेदी-श्री टी० एन० शेषन्महोदयाः।
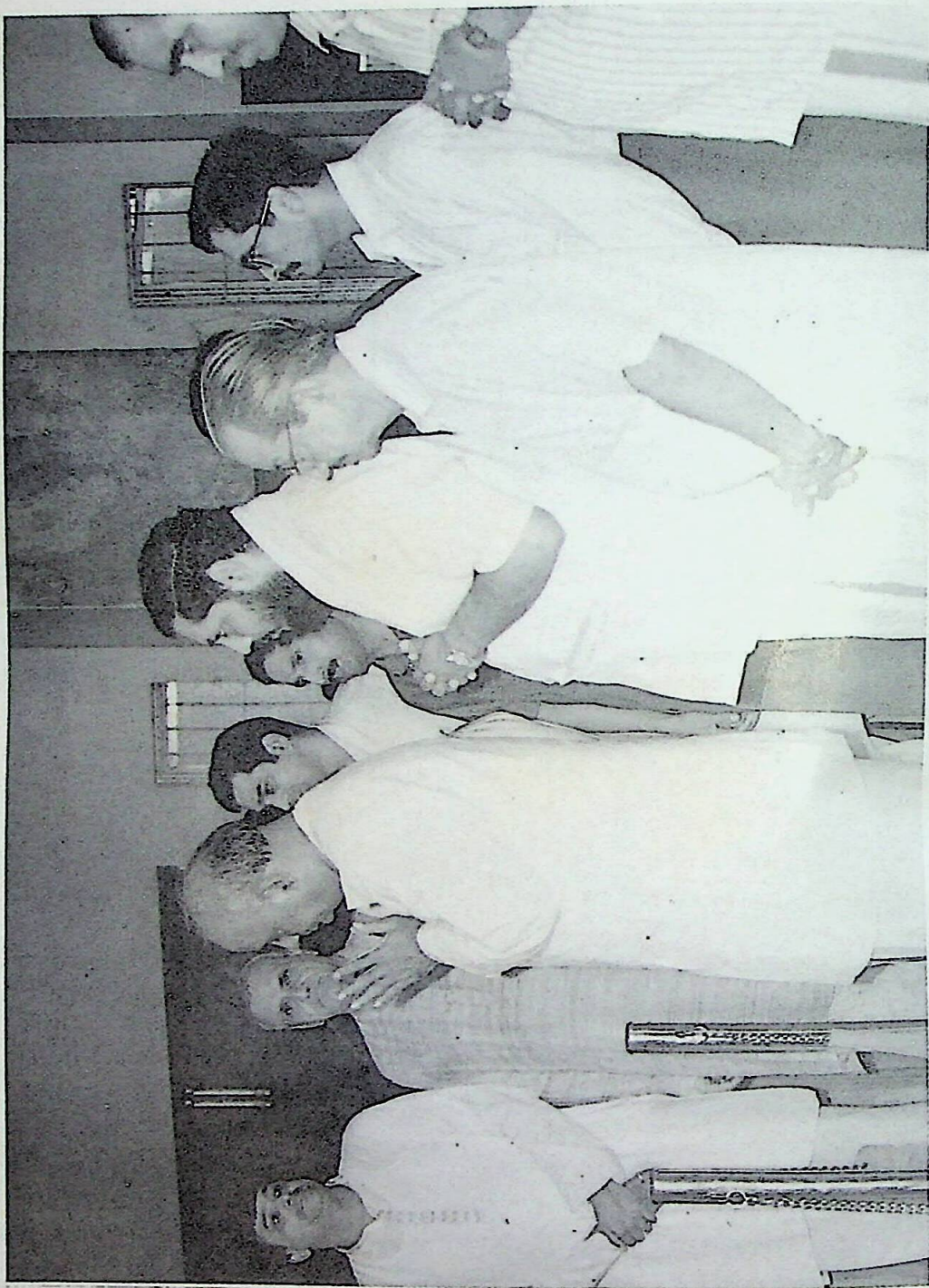
शंकरविद्याकेन्द्रे प्रधानमन्त्रि श्री एच० डी० देवगौड़ामहोदयानां स्वागतं कुर्वाणाः शंकरविद्याकेन्द्रोपाध्यक्षाः डॉ० मण्डनमिश्राः।

# मीमांसकसम्मतं देवतातत्त्वम्

प्रो० वाचस्पति उपाध्यायः

नवमाध्याये प्रथमपादे तृतीयाधिकरणे विकृतौ सौर्येष्टौ मन्त्रयोः ऊहासिद्धये देवता मन्त्रं न प्रयोजयति किंतु अपूर्वमेव प्रयोजयति इति निर्णीतम्। तथाहि—प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोः द्वौ मन्त्रौ श्रूयेते। तयोः एकः स्वर्गप्रकाशनसमर्थः "अगन्म सुवः" इति। अपरः अग्निदेवताप्रकाशनपरः "अग्नेरहमुज्जितिमनूज्जेषम्" इति। तयोः क्रमेण स्वर्गाग्नी प्रयोजकौ इत्यङ्गीकारे सूर्यदेवताके ब्रह्मवर्चसफलके सौर्ययागे स्वर्गफल-अग्निदेवयोः मन्त्रप्रयोजकयोः अभावात् मन्त्रयोः प्राप्तिर्वा तत्र ऊहो वा न स्यात्। अतः अपूर्वमेव मन्त्रप्रयोजकम् अङ्गीकर्त्तव्यम्। विधिना यागः फलवत्वेन चोद्यते। यागस्य आशुविनाशित्वात् तत्स्थाने अपूर्वमेव वक्तव्यम्। तथा च चोदितस्य अपूर्वस्य फलवत्त्वेन अनुष्ठेयतया इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा भवति। ततः विकृतौ सौर्येष्टौ अपूर्वप्रयुक्तत्वेन प्राप्तयोः मन्त्रयोः क्रमेण "अगन्मब्रह्मवर्चसम्" इति "सूर्यस्याहमुज्जितिमनूज्जेषम्" इति च ऊहः सम्भवति इति। नवमाध्यायगतप्रथमपादीयचतुर्थाधिकरणे पूर्वाधिकरणोक्तसिद्धान्तः आक्षिप्य समाधीयते। तथाहि—'यज देवपूजायाम्' इति धातुपाठाद्यागो नाम देवतापूजा। वस्तुतः यागः देवतायाः भोजनम्। देवता भोक्ष्यते इति भोज्यं द्रव्यं देवतायै प्रदीयते। देवतासम्प्रदानको यागः सम्प्रदानदेवताप्रधानः। "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इति पाणिनिसूत्रानुसारेण कर्तुः क्रियया आतुम् इष्टतमं कारकं कर्म भवति। कर्मकारकापेक्षयापि संप्रदानकारकं अभिप्रेततरम्। यतः 'ब्राह्मणाय गां ददाति' इत्यत्र दानक्रियया गोरूपं कर्मकारकं व्याप्येत, गवा कर्मकारकेण ब्राह्मणः संप्रदानं व्याप्यते। संप्रदानभूतां पूजनीयां देवतां प्रति देवपूजात्मको यागः गुणभूतः। तस्माद् यागे देवता प्रधानभूता देवतां प्रति गुणभूते द्रव्यकर्मणी। यथा लोके अतिथिसत्कारक्रिया भोजनीयातिथिप्रधाना। अतिथये भोज्यं दीयते, स भोज्यं स्वीकरोति, भुङ्क्ते तृप्यति, प्रसीदति तथा देवता दीयमानं हविः स्वीकृत्य भुक्त्वा, तृप्त्वा प्रसन्नो भवति। अतः मन्त्रकर्मादिकं सर्वं धर्मजातं प्रधानदेवताप्रयुक्तमेव इति धर्मप्रयोजिका देवतैव। किं च देवतायाः भोजनाद्यनुरोधेन लोकवद् विग्रहवत्त्वमङ्गीक्रियते। मन्त्रार्थवादाः देवतायाः विग्रह - हवि - स्वीकार - तद्भक्षण - तृप्तिप्रसाद - पञ्चकं प्रतिपादयन्ति। मन्त्रार्थवादमूलिकाः स्मृतयश्च देवतां विग्रहवतीं बोधयन्ति। लोके चेन्द्रं वज्रहस्तं, वरुणं पाशहस्तं, यमं दण्डहस्तं व्यवहरन्ति लिखन्ति च। यथा पुरुषविग्रहस्य सव्यदक्षिणौ हस्तौ भवतस्तथा देवताविग्रहवत्वसाधकाः दक्षिणहस्ताद्यवयवाः "जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्"

इत्यादिमन्त्रेषु दृश्यन्ते। यदि देवता भुञ्जीत तदा देवतायै दत्तं हविर्द्रव्यं क्षीयेत, न च क्षीयते, अतः न विग्रहवती देवता इति तु न शङ्कनीयम्। मधुमक्षिका यथा पुष्परसं भुङ्क्ते न पुष्पं खादति तथा देवता अन्नरसं भुङ्क्ते न अन्नं खादति। यतः देवतायै प्रत्तं हविः नीरसं भवति। तस्माद् विग्रहवती देवता भुङ्क्ते।

किं च देवता अर्थस्य पतिः=ईशाना। उपचर्यमाणा देवता प्रसीदति। स्मृतयः 'अर्थानाभीष्टे देवता' इति वदन्ति 'इदं देवक्षेत्रम्' 'अयं देवग्रामः' इति लौकिकव्यवहारोऽपि स्मृतिं उपोद्बलयति। देवतायाः विग्रहवत्त्वसाधकाः ईशितृत्वादयः "ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः" इत्यादिमन्त्रेषु दृश्यन्ते।

किं च यो देवतां इज्यया परिचरति तं सा फलेन योजयति। स्मृतयः 'देवता यष्टुः फलं ददाति' इति उद्घोषयन्ति। 'पशुपतिः अनेन उपचरितः। पुत्रः अनेन लब्धः' इत्यादिलोकव्यवहाराश्च स्मृतिं द्रढयन्ति। "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" इत्यादयः मन्त्राः पूर्वोक्तार्थसाधकाः दृश्यन्ते।

हविर्दानेन स्तुतिवचनैश्च देवता आराध्यते। सा प्रीता सती फलं प्रयच्छति। येन कर्मणा अग्निः आराधितः, यस्य फलस्य ईष्टे, तत्फलं कर्त्रे प्रयच्छति। तत्फलं सूर्यः न प्रदातुमर्हति। एतद् वचनादवगम्यते। अग्नौ वचनमस्ति, न सूर्ये—इति पूर्वः पक्षः।

**सिद्धान्तः**

यज्ञकर्मैव (=यागात् जातं अपूर्वमेव) प्रधानम्। देवता गुणभूता एव। फलदातारं प्रत्यक्षप्रमाणादिभिः न वयं अवगन्तुं शक्नुमः। शब्दप्रमाणादेव फलदातारं जानीमः शब्दश्च यागात् फलं वदति, न देवतायाः। "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादयः दर्शपूर्णमासादेः एव फलकरणत्वं बोधयन्तः देवतायाः फलदातृत्वं निवारयन्ति। 'यद्यपि द्रव्य-देवताक्रियं यजत्यर्थः तथापि देवतायाः यागं प्रति गुणत्वेऽपि श्रुतिः उपपद्यते। साधनीयः यागः, द्रव्यदेवतं तु सिद्धम्। 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इतिन्यायेन साध्यार्थत्वात् सिद्धस्य देवता न प्रयोजिका, अपूर्वमेव सर्वधर्मप्रयोजकम्।

यदुक्तं ईप्सिततमात् कर्मकारकात् संप्रदानं अभिप्रेततरं इति देवतायाः प्राधान्यं इति तन्न शोभनम्। न वयं देवतायाः अभिप्रेतत्वं अपलपामः। किंतु श्रुत्या यागस्यैव करणत्वबोधनात् फलसाधकस्य यागस्यैव प्राधान्यं ब्रूमः। फलं च पुरुषार्थः। पुरुषार्थमुद्दिश्यैव अस्माकं प्रवृत्तिः। फलसाधकापूर्वप्रयुक्ताः प्रवर्तामिहे न देवताप्रयुक्ताः। फलवतो यागस्य (=अपूर्वस्य) साधनभावं भजमानाया देवतायाः अभिप्रेतत्वमपि युज्यते।

यदुक्तं यजतिः देवपूजा पूज्यमानप्रधाना अतिथिसत्कारवदिति तन्न-युक्तम्। लोके अतिथितृप्तेः मुख्योद्देश्यत्वेन अतिथिसत्कारः आराध्यातिथिप्रधानो युक्तः। इह तु यागस्य देवतार्थत्वेऽपि देवतातृप्तिमुद्दिश्य यागो नानुष्ठीयते, अपि तु फलमुद्दिश्यैव इति विषमः अतिथिदृष्टान्तः।

यदुक्तं स्मृति - व्यवहार - विग्रहवत्त्वानुकूलार्थप्रतिपादकमन्त्रभागैश्च देवता विग्रहादिपञ्चकयुक्ता इति तन्न साधीयः। मन्त्रेभ्यः अर्थवादेभ्यश्च आपाततः यद्विज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रमाणीकृत्य विग्रहादिबोधकस्मृतयः प्रवृत्ताः। मन्त्रार्थवादाश्च न प्रतीयमानार्थपराः, अपि तु विधेयस्तुतिपराः। अतः मन्त्रार्थवाद-प्रामाण्याद्देवतायाः न विग्रहादिपञ्चकं युज्यते। अर्थानां सद्भावमन्तरेण स्तुत्य-संभवाद् विग्रहादिकं देवतायाः भवत्येव इति न शङ्कनीयम्। अविद्यमानैरपि अर्थैः स्तुतिसंभवात्।

यदुक्तं—फलादेः अर्थस्य ईशाना देवता। देवक्षेत्रं देवग्रामः इति लोक-व्यवहारोऽपि देवस्य क्षेत्रादिकं प्रति ईशितृत्वं बोधयत् स्मृतिं द्रढयति। सर्वेशाना देवता फलदात्री। सैव धर्मप्रयोजिकेति तन्न शोभनम्। मन्त्रार्थवादानां आपाततः प्रतीयमानानर्थान् प्रमाणीकृत्य प्रवृत्ताः याः स्मृतयः तन्मूलकाः 'देवक्षेत्रं' 'देवग्रामः' इति व्यवहारा न प्रमाणपदवीमर्हन्ति।

यदुक्तं—पुष्परसग्राहिणी मधुकरीव अन्नरसग्राहिणी देवता। देवतायै प्रत्तं हविः नीरसं भवति, नीरसत्वहेतुत्वादेव देवतायाः अर्थेशानत्वं इति तन्न साधु। वातोपहतमन्नं नीरसं भवति इति नीरसत्वापादको वातो न कस्यचनार्थस्य ईष्टे। तस्माद्विषमोऽयं मधुकरीदृष्टान्तः।

तथा च अपूर्वमेव धर्मप्रयोजकमिति विकृतिभूते सौर्ययागे अग्न्यादेः अभावेऽपि मन्त्रप्राप्तिः मन्त्रे ऊहश्च भवितुमर्हति।

# धर्मतत्त्वनिर्णायकत्वं मीमांसायाः

एन्० आर० श्रीनिवासन्

भगवान् जैमिनिमहर्षिः[1] "अथातो धर्मजिज्ञासा" इति सूत्रेण मीमांसाशास्त्रे धर्मविचारस्य कर्तव्यतां प्रतिज्ञातवानादौ। एतत्सूत्रघटकधर्मपदेन किमभिधीयते ? किं तस्य लक्षणं ? इति जिज्ञासायां स्वयमेवाह[2]—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इति। तस्यार्थः भाष्यकारेण भगवता शबरस्वामिना इत्थं प्रतिपादितः,[3] "धर्मः प्रसिद्धो वा स्यादप्रसिद्धो वा ? स चेत्प्रसिद्धो न जिज्ञासितव्यः। अथाप्रसिद्धः न तराम्। तदेतदनर्थकं धर्मजिज्ञासाप्रकरणम्।" इत्याशङ्क्य प्रकरणमिदमर्थवदेवेत्युत्तरयति। यतो हि "धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः केचिदन्यं[4] धर्ममाहुः, केचिदन्यम्। सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानो यं कञ्चिदेवोपाददानो विहन्येत। अनर्थं च ऋच्छेत्। तस्माद्धर्मो जिज्ञासितव्य इति।" चोदनालक्षण इति सूत्रघटकचोदनेतिपदेन क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमभिधीयते। यागादिक्रियायाः प्रवर्तकं-प्रवृत्त्यनुकूलव्यापाररूपप्रवर्तनाबोधकलिङादिप्रत्ययघटितं वचनं 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपं वाक्यं इति "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः" इति भाष्येण प्रतिपादितम्। 'लक्ष्यते येन तत् लक्षणं' तया (चोदनया) यो लक्ष्यते सोऽर्थः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति। चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत्' 'तस्माद् चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः। स एव धर्मशब्देनोच्यते। यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते। यथा पाचको लावक इति। तेन यः यागादिः स पुरुषं स्वर्गादिनिःश्रेयसेन संयुनक्तीति धर्मपदेनाभिधीयते।

अत्र चोद्यते प्रेर्यते पुरुषोऽनयेति व्युत्पत्त्या चोदनापदं विधिमात्रपरमिति

---

१. (मी० १-१-१) २. (मी० १-१-२) ३. शा० भाष्यं १, २-१-१ सूत्रयोः।

१. अन्तःकरणस्य वृत्तिविशेषं यागाद्यनुष्ठानजन्यं धर्मं साङ्ख्या आमनन्ति।

२. ज्ञानस्य ज्ञानान्तरजन्यां वासनां धर्मं बौद्धा आहुः।

३. जैनाः—पुद्गलाख्यान् देहारम्भकान् पुण्यविशेषोत्पन्नान् परमाणून्।

४. नैयायिकाः—अदृष्टापरपर्यायं विहितकर्मजन्यमात्मविशेषगुणम्।

५. मीमांसकैकदेशिनः-प्राभाकराः-अपूर्वम्।

भट्टकुमारिलः वार्तिके इममेवार्थं जग्रन्थ—

अन्तःकरणवृत्त्यादौ वासनायां च चेतसः।
पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि॥ इति

केषांचित् पक्षः। तत्र च प्रमाणं "चोदनोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' इति भट्टपादवचनम्।

अपरे तु प्रमाणाध्यायेऽर्थवादादीनामपि विध्येकवाक्यत्वादिना यथासम्भवं धर्मे प्रामाण्यस्य प्रतिपादितत्वात् चोदनाशब्दस्योपलक्षकत्वमङ्गीकृत्य विध्यर्थवाद-मन्त्र-नामधेयादिसाधारणो वेदमात्रपरश्चोदनाशब्द इति कथयन्ति। अत एव अर्थसङ्ग्रहादिग्रन्थे "वेदप्रतिपाद्यत्वेसति प्रयोजनवदर्थो धर्म" इति स्वोक्तलक्षणस्य चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति सौत्रलक्षणेन विरोधमाशङ्क्य चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वादिति परिहृतं सङ्गच्छते।

एवं स्थिते यद्यत्र सौत्रचोदनाशब्दो वेदमात्रपरस्स्यात् तदा कुतो वेदलक्षणोऽर्थो धर्म इति न सूत्रयामासेति केषाञ्चित्पर्यनुयोगस्तु विधिवाक्यवदितरेषामर्थवादादिवाक्यानां स्वातन्त्र्येण धर्मे प्रामाण्याभावात् तन्मध्ये विधिवाक्यस्यैव मुख्यत्वात् प्राथमिकत्वाच्च चोदनाशब्दं सूत्रे निवेश्य 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इति उपापादीति परिहर्तव्यः।

एवं चैतत्सिद्धं यच्चोदनापदं मुख्यवृत्त्या विधिप्रत्ययघटितवेदभागमात्रवाचि, लक्षणया तु वेदसामान्यवाचीति पक्षद्वयमपि मीमांसकसम्मतमिति। तदिह—चोदना, लक्ष्यते ज्ञाप्यतेऽनयेति लक्षणं प्रमाणं यस्य स चोदनालक्षणः। यो धर्मः स चोदनालक्षणः, चोदनैव तस्य लक्षणं प्रमाणम्। चोदना च तस्य लक्षणमेवेति श्रुत्या प्रमाणविधौ अर्थाच्चोदनागम्य एवाग्निहोत्रादि धर्मो नातल्लक्षणश्चैत्यवन्दनादिरिति स्वरूपमपि सिद्ध्यति। तथा यश्चोदनालक्षणस्स धर्म इति स्वरूपविधावर्थात् प्रमाणसिद्धिश्च। इत्थं च अनेन सूत्रेण श्रुत्यर्थाभ्यां को धर्मः? किं लक्षणक? इत्येतद्द्वयं निरूपितम्। सौत्रस्यार्थपदेन अनर्थसम्बन्धराहित्यं विवक्षितं, तथा च वेदबोधितत्वे सति साक्षात् फलद्वारा वा यदनर्थाननुबन्धि इष्टसाधनं च तत् धर्मपदवाच्यमिति निर्गलितार्थः। उक्तं हि कुमारिलभट्टपादैः—

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्म इति गीयते।।इति।।

स्वर्गादिनिःश्रेयसमुद्दिश्य यागादिधर्मोऽनुष्ठेयतया "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिवेदवाक्येन प्रमितः। प्रमितस्य तस्य, कथमनुष्ठेय इति इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा जायते। 'अग्निं प्रणयति' इत्यादिविधिना आदौ कानिचिदङ्गान्युपदिश्य "उच्चैः ऋचा क्रियते, उपांशुयजुषा, उच्चैः साम्ना" इति वाक्यैः ऋगाद्युद्देशेनोच्चैष्ट्वादि धर्मा विहिताः। तत्र ऋगादिशब्दाः ऋङ्मन्त्रपरा उत ऋग्वेदादिपरा इति सन्देहः। यदि ऋङ्मन्त्रपरास्तदा यजुर्वेदान्तर्गतमन्त्रा अपि 'उच्चैरृचा' इति विधिवशाद् उच्चैः स्वरेण वक्तव्याः स्युः, तथा सति "उपांशुयजुषा" इति वाक्ये यजुरुद्दिश्य विहितमुपांशुत्वं विहन्येत। अतः कथं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षा यावन्निर्णयमनुपशान्तैव

भवति। निर्णयश्च "वेदो वा प्रायदर्शनात्" इति सूत्रेण मीमांसायां प्रदर्शितः। "उच्चैः ऋचा" इत्यादिवाक्येभ्यः पूर्वं 'अग्नेः ऋग्वेदः' 'वायोर्यजुर्वेदः' 'आदित्यात् सामवेदः' इति श्रूयते। तत्र उपक्रमगतानां ऋगादिपदानां तदानीमुच्चैष्ट्वोपांशुत्वादिविरुद्धधर्माणामनवभासात् असंजातविरोधित्वेन वेदपदसामानाधिकरण्यात् ऋग्वेदादिपरत्वे सिद्धे तदनन्तरवर्तिषु 'उच्चैः ऋचा क्रियते' इत्यादिवाक्येष्वपि ऋगादिशब्दाः ऋग्वेदादिपरा एव न ऋङ्मात्रपराः। अतश्च यजुरन्तर्गतानां ऋङ्मन्त्राणां नोच्चैः स्वरेण उच्चार्यत्वं किंतु उपांशुस्वरेणेति "उपांशुयजुषा" इत्यनेन न विरोधः इति।

एवं यजुर्वेदे तैत्तिरीयशाखायां 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" इति आधानकर्म विहितम्। तत्प्रकरणे 'वारवन्तीयं साम गायति' इति वाक्येन वारवन्तीयाख्यं साम गेयतया विहितं, आधानस्य यजुर्वेदाम्नातत्वात् इदं च वारवन्तीयं साम-याजुर्वैदिकस्वरेण उपांशुस्वरेण गेयमथवा 'उच्चैः साम्ना' इति वाक्यविहित-सामवैदिकस्वरेणउच्चैर्गेयमिति संशये वारवन्तीयसाम्नस्सामवेदे पठितत्वात् तदीयस्वरेण उच्चैर्गेयमिति पूर्वपक्षः, आधानकर्मोद्देशेन तत्प्रकरणे विहितत्वात् सामेदमाधानस्य गुणभूतं, प्रधानं चाधानं, गुणप्रधानयोर्मध्ये प्रधानस्य प्रबलत्वात् याजुर्वैदिकस्वरेणैव गेयमिति सिद्धान्तश्च प्रत्यपादि।

इत्थं—'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इति वाक्येन सूर्यदेवताकचरु-द्रव्यकब्रह्मवर्चसफलको यागो विधीयते। अत्र निर्वपेदिति लिङभिहितभावनायाः किं भावयेदिति साध्याकाङ्क्षायां ब्रह्मवर्चसरूपफलं साध्यत्वेनान्वेति, केन भावये-दिति करणाकाङ्क्षायां सौर्ययागः साधनत्वेनान्वेति, कथं भावयेदिति इतिकर्तव्य-ताकाङ्क्षायां विकृतिसन्निधौ प्रयाजादीनां अङ्गानां पाठाभावेन दर्शपूर्णमास-प्रकरणपठितानां प्रयाजादीनां तत्र क्लृप्तोपकारकत्वेन तादृशोपकारपृष्ठभावेन (प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येति) अतिदेश-प्रमाणेन तेषामन्वयः। ततश्च प्रयाजादि-प्राकृताङ्गैः सौर्ययागं भावयेदिति सिद्धयति। सौर्ययागे चरोः हविष्ट्वात् तत्प्रकृति-भूतनीवारद्रव्यस्य प्रकृतौ पुरोडाशप्रकृतिभूतव्रीहिद्रव्यस्येव निर्वापोऽतिदेशेन प्राप्यते। स च निर्वापः "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" इति मन्त्रोच्चारणपूर्वकं क्रियते प्रकृतौ। मन्त्राश्च कर्मणां प्रयोगकाले द्रव्यदेवतादिप्रयोगसमवेतार्थस्मारकतया दृष्टार्थाः। प्रकृतौ यागीयदेवता अग्नेस्स्मारकस्सन् निर्वपामीति विनियोगवशात् निर्वापाङ्गं भवति। सौर्यं चरुं निर्वपेद् इति विकृतौ तु सूर्यो देवता। अग्नये जुष्टं निर्वपामीति निर्वापमन्त्रस्य सूर्यदेवताप्रकाशकत्वाभावेन निर्दिष्टयागीय देवता-प्रकाशनरूपदृष्टोपकारकत्वं न संभवति। अतस्तत्सिद्धयर्थम् अग्निदेवतावाचकपद-स्थाने सूर्यदेवतावाचकपदस्य सूर्यायेति ऊहः कर्तव्य इति मीमांसया निरणायि।

तथा—चयनप्रकरणे "अक्ताः शर्करा उपदधाति" इति श्रूयते। शर्करा इत्यस्य लोष्टखण्डविशेषा इत्यर्थः। अक्ताश्शर्करा उपदधाति इत्यनेन तेषामञ्जनं

कृत्वा कृताञ्जनेन चोपधानं कर्तव्यमिति गम्यते। उपधानं नाम राशिरूपेण घटनाविशेषः। तत्र लोष्टखण्डकासु इष्टकासु अञ्जनं द्रवद्रव्येण भवति। द्रवद्रव्याणि च तैलजलघृतादीनि बहूनि सन्ति, तेषु केन द्रव्येणाञ्जनं कर्तव्यमिति संदेहो भवति। तत्र 'संदिग्धे तु वाक्यशेषात्' इति सूत्रेणेत्थं निर्णयोऽकारि। अक्ताः शर्करा इति वाक्यानन्तरं 'तेजो वै घृतं' इति वाक्यशेषः श्रूयते। तत्र घृतस्य तेजस्त्वेन स्तुतिः क्रियते, स्तुतिर्हि तस्यैवापेक्षिता यस्यानुष्ठानार्थमपेक्षा। तथा च घृतस्य स्तुत्याऽवगम्यते घृतेन किमपि कर्तव्यमिति उपकार्याकाङ्क्षा, अञ्जनस्य च केन द्रवद्रव्येणेति उपकारकाकाङ्क्षा वर्तते। उभयोः परस्पराकाङ्क्षावशाद् घृतेनैवाञ्जनं कर्तव्यं न तैलादिनेति। इत्थमत्र स्थालीपुलाकन्यायेन द्वित्रा अधिकरणन्याया अस्माभिस्संग्रहेणोदाहृताः। संपूर्णेऽपि मीमांसाशास्त्रे प्रत्यधिकरणं यागानुष्ठानोपयोगिवेदवाक्यविशेषमधिकृत्य विचारं कृत्वा कश्चन निर्णयात्मको न्यायविशेषः प्रवर्तितः। अत एव 'पूजितविचारो मीमांसे'ति भामतीकारोक्तिः, अस्य शास्त्रस्य वाक्यशास्त्रमिति व्यपदेशश्च अन्वर्थः। यद्यप्यधीतपदन्यायादिशास्त्रस्य वेदवाक्यश्रवणानन्तरं कश्चिदर्थः प्रतीयते, तथाऽपि स किं बाधितोऽबाधितः? किं स एव तत्र विवक्षित उतान्य इत्यादि संशयनिरासो मीमांसाशास्त्रेणैव पूर्वोक्तरीत्या सिद्ध्यति। इत्थं च कथं यागोऽनुष्ठेय इति कथंभावाकाङ्क्षाया उपदर्शितपथा मीमांसाधीननिर्णयादुपशमनादस्या इतिकर्तव्यताभागपूरकत्वेन धर्मतत्त्वनिर्णायकत्वं वेदितव्यम्।

तदाहुः—

धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥ इति

# भाट्टनये प्रामाण्यवादः

—डॉ० सोमनाथ नेने

भारतीयदर्शनेषु स्वप्रमेयसिद्धयर्थं प्रमाणानां सर्वैरपि प्राथम्यमङ्गीकृतम्। दर्शनसम्प्रदायेषु न केवलं प्रमाणानां संख्यास्वरूपविषये पार्थक्यमुपलभ्यतेऽपितु प्रमाणजन्यं याथार्थ्यलक्षणं-प्रमात्वात्मकं यत्प्रामाण्यं वर्तते ज्ञानस्य, तस्य प्रामाण्यस्य तस्य स्वतस्त्वपरतस्त्वनिर्णयेऽपि एतेषु सम्प्रदायेषु पर्याप्तं वैभिन्यं बुद्धिपथं समायाति।

ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा उभयत्र स्वतस्त्वमेवाङ्गीक्रियते सांख्यैः।[1] न्यायनये वैशेषिकमते च उभयत्र परतस्त्वं स्वीक्रियते।[2] बौद्धानामेकदेशिनां मते अप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य च परतस्त्वमभिमतम्।[3] एभिः सिद्धान्तैर्वैपरीत्यमुद्वहतां भाट्टमीमांसकानां विचारसरणौ प्रामाण्यमेव स्वतो निश्चीयते। अप्रामाण्यस्य निश्चयस्तावदेभिरपि नैयायिकानां रीत्या प्रवृत्तिवैफल्यादिभिर्हेतुभिः परत एव उररीक्रियते।

### प्रामाण्यस्य द्वैविध्यं स्वतस्त्वं परतस्त्वञ्च

उत्पत्तिज्ञप्तिगतभेदेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च द्विविधम्। उत्पत्तिगते ज्ञप्तिगते च उभयत्र प्रामाण्याप्रामाण्यस्य परतस्त्वमेव संस्थापितं तार्किकैः। भाट्टविचारवोथिकायामुत्पत्तिगतस्य ज्ञप्तिगतस्य च ज्ञानस्य प्रामाण्यमेव स्वतस्त्वेनाङ्गीकृतम्। अप्रामाण्यं तावत् द्विविधेऽपि स्थले परतस्त्वेनैवानुमोदितम्।

प्रथमं तावत् किं नाम स्वतस्त्वं? किञ्च परतस्त्वमेतद्विचारणीयम्। यया कारणसामग्रया ज्ञानमुत्पद्यते तयैव सामग्रया प्रामाण्यस्याप्युत्पत्तौ प्रामाण्यस्योत्पत्तिगतं स्वतस्त्वमुच्यते। संक्षेपधिया एतदेव ज्ञानोत्पादिकातिरिक्तानपेक्षत्वं नाम प्रामाण्यस्योत्पत्तिगतं स्वतस्त्वमिति वक्तुं शक्यते। भेदे तु ज्ञानोत्पादिकायाः कारणसामग्रयाः प्रामाण्योत्पादिकया सामग्रया ज्ञानोत्पादिकातिरिक्तापेक्षत्वात्मकं परतस्त्वमुत्पत्तिगतस्य प्रामाण्यस्याङ्गीक्रियते विबुधैः।

---

१. 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः' सर्वदर्शनसंग्रहः पृ० ५५७, चौखम्बा विद्याभवनं, वाराणसी, १९६४।

२. "अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्।" तर्कभाषा, पृष्ठ संख्या १४१, चौखम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, १९८२।

३. 'सौगताश्चरमं स्वतः' —सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ० ५५७।

**प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतस्त्वपरतस्त्वे**

तार्किकनये ज्ञानस्योत्पत्ताविन्द्रियाणां कारणत्वमङ्गीकृतम् । ज्ञानप्रामाण्यस्योत्पत्तौ इन्द्रियगतगुणानां कारणत्वाङ्गीकारात्[1] ज्ञानोत्पादिकया कारणसामग्र्या प्रामाण्योत्पादिकायाः कारणसामग्र्याः पार्थक्यात् परतस्त्वमुत्पत्तिगतस्य प्रामाण्यस्याभिमतं मतम् ।

उत्पत्तिगतस्य ज्ञानप्रामाण्यस्य परतस्त्वं निराकुर्वतां मीमांसकानां सिद्धान्ते इन्द्रियगतगुणजन्यत्वात्मके प्रामाण्ये गुणत्वं नाम दोषाभावात्मकत्वमेव वर्तते, अत एव येन दोषाभावात्मकत्वेन गुणवत्वेनेन्द्रियेण ज्ञानं जन्यते तेनैव तस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यस्योत्पत्तेरप्यङ्गीकारात् ज्ञानोत्पादिकायाः सामग्र्याः प्रामाण्योत्पादिकया सामग्र्या सहाभेदत्वात्सिद्ध्यते स्वतस्त्वमुत्पत्तिगतस्य ज्ञानप्रामाण्यस्य ।

यदाकदाचिदवधृते ज्ञाने प्रवृत्त्यादिभिर्हेतुभिः अप्रामाण्यमुपलभ्यते तर्हि एतस्याप्रामाण्यस्येन्द्रियगतकाचकामलादि - दोषजन्यत्वादुत्पत्तिगतस्याप्रामाण्यस्य नैयायिकदिशानुरूपं परतस्त्वमनुमन्यते भाट्टैरपि ।

**प्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वपरतस्त्वे**

ज्ञानप्रामाण्यस्य ज्ञाप्तिगते प्रामाण्येऽपि नैयायिकभाट्टमीमांसकयोः महत् पार्थक्यमुपलभ्यते । ज्ञप्तिगतस्य प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं नाम ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वम् । ज्ञानोत्पादिकया सामग्र्या एव प्रामाण्यस्यापि ग्रहणं प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिगतं स्वतस्त्वमुच्यते । एतद्विपरीतं यदि ज्ञानोत्पादिका सामग्री काप्यन्या प्रामाण्योत्पादिका च तदितरा चेदेतदेव ज्ञप्तिगतस्य प्रामाण्यस्य परतस्त्वं मन्यते ।

**ज्ञप्तौ प्रामाण्यस्य परतस्त्वम्**

नैयायिकास्तावत् ज्ञप्तिगतेऽपि प्रामाण्ये परतस्त्वमेवानुमन्यन्ते । एतेषां मते प्रथमं तावत् 'अयं घट' इत्याकारकं व्यवसायात्मकं ज्ञानं जन्यते । एतदनन्तरं घटमहं जानामि घटज्ञानवानहमिति वाऽनुव्यवसायो जन्यते अनुव्यवसायात्मकेन ज्ञानेन प्रथमं व्यवसायात्मकं ज्ञानं गृह्यते । गृहीते ज्ञाने विषयस्य ग्रहणादौ जातायां सफलीभूतायां प्रवृत्तौ 'इदं मे जलज्ञानं प्रमाणं, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्', इत्यनेन प्रवृत्तिसाफल्यमूलकेनानुमानेन गृहीतस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चीयते ।[2]

विफलीभूतायां प्रवृत्तौ 'अप्रमाणं मे इदं जलज्ञानम्' असमर्थप्रवृत्तिजनक-

---

१. प्रमां प्रति गुणः कारणम् । न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० ४२७ चौखम्भा-संस्कृत-संस्थानम् वाराणसी १९८३ ।

२. तथाहि—इदं ज्ञानं प्रमा, संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथाऽप्रमा ।' न्याय० सि० मु० पृ० ४३८ ।

त्वादित्यादिकेन प्रवृत्तिवैफल्यमूलकेनानुमानेन गृहीतस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यञ्च गृह्यते।

एवं न्यायनये ज्ञानग्राहिकाया: अनुव्यवसायात्मिकाया: सामग्र्याः प्रामाण्याप्रामाण्यग्राहिकया प्रवृत्तिसाफल्यवैफल्यमूलकानुमानात्मिकया सामग्र्या सह भेदात् ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वरूपमुभयोः प्रामाण्याप्रामाण्ययोः परतस्त्वं स्वीक्रियते।

**ज्ञप्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्**

ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं वा ज्ञप्तिगतस्य प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमुच्यते[1]। गुरुमिश्रभट्टमतभेदेन त्रैविध्यमवाप्नुवद्भिः त्रिविधैरपि मीमांसामतावलम्बिभिः ज्ञप्तिगतस्य ज्ञानप्रामाण्यस्य समानसामग्रीग्राह्यत्वात्मकं स्वतस्त्वमेव संस्थाप्यते।

**गुरुमतम्**

गुरुमते ज्ञानस्य स्वप्रकाशतया ज्ञानोत्पादिका सामग्र्येव ज्ञानग्राहिका। अनया ज्ञानोत्पादिकया सामग्र्या तज्ज्ञानीयप्रामाण्यमप्यवगम्यते।

यदि ज्ञानोत्पादिका सामग्री ज्ञानग्राहिकया सामग्र्या भिन्नत्वेनाङ्गीक्रियते तर्हि उत्पत्तिक्षणेऽनिश्चयाद् ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनुपपन्नं स्यात्। अस्याऽनुपपत्तेर्निवारणार्थमेव त्रिपुटीप्रत्यक्षमङ्गीक्रियते प्राभाकरैः। अनेन त्रिपुटीप्रत्यक्षेण न केवलं विषयविषयिज्ञातॄणां त्रयाणां ज्ञानमुत्पद्यते गृह्यते च अपितु अनेनैव ज्ञानस्य प्रामाण्यमपि निश्चीयते।[2]

एवं त्रिपुटीप्रत्यक्षात्मिकया एकयैव सामग्र्या ज्ञानस्य प्रामाण्यस्य च ग्रहणात् समानसामग्रीग्राह्यत्वात्मकं प्रामाण्थस्यस्वस्तस्त्वं सिद्धचति।

**मिश्रमतम्**

मुरारिमिश्रास्तु अयं घट इत्याकारकं ज्ञानं घटमहं जानामीत्याकारकेन मानसेनानुव्यवसायात्मकेन ज्ञानेन गृह्यत इति मन्यन्ते। एतेषां मते अनुव्यवसायात्मिकया ज्ञानग्राहकसामग्र्यैव ज्ञानप्रामाण्यस्यापि ग्रहणात् समानसामग्रीग्राह्यत्वात्मकस्य ज्ञप्तिगतस्य प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमक्षुण्णमेव।[3]

---

१. 'तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। तर्कभाषा पृष्ठ संख्या १३६।

२. गुरवस्तु घटादिमात्रविषयकं न ज्ञानं सर्वज्ञानानां त्रिपुटीविषयकत्वाङ्गीकारात्। त्रिपुटी च ज्ञानात्मविषयरूपा, तेन सर्वज्ञानं घटं जानामीत्याद्यनुव्यवसायाकारमिति। स्वेनैव स्वस्य घटादिविषयकग्रहणात्ततः प्रामाण्यमित्याहुः।" भाट्टचिन्तामणि: पृ० १४, चौखम्बा-संस्कृत-आफिस-सीरिज, १९३३।

३. 'मुरारिमिश्रास्तु घटादिज्ञानोत्तरं घटं जानामीत्याद्यनुव्यवसायो जायते तेन घटत्ववद्विशेष्यकत्वे सति घटत्वप्रकारकत्वरूपप्रामाण्यग्रह इत्याहुः।' भाट्टचिन्तामणि, पृ० १४।

## भाट्टमतम्

भाट्टनये प्रथमं तावद् घटोऽयमित्याकारकं ज्ञानं जन्यते। एतदनन्तम् अनेन ज्ञानेन स्वविषये घटे ज्ञाततासंज्ञकः कश्चित् धर्मं उत्पाद्यते। ज्ञाततेयं घट-ज्ञानानन्तरं 'ज्ञातो मया घट' इत्याकारकेन मानसेन ज्ञानेन प्रतिसन्धीयते। अस्या ज्ञाततायाः घटज्ञानात्प्रागनवस्थानाद् ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमेव प्रतिसन्धानाच्च ज्ञायते यदियं ज्ञातता घटादिज्ञानजन्येव। अस्याः ज्ञाततायाः स्वकारणेन घटादिज्ञानेन विनोत्पत्तेरनुपपत्तिर्जायते। अत एवास्यानुपपत्तेर्निराकरणार्थमुपपादकीभूतया ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्त्या ज्ञातताजनकत्वेन ज्ञानं गृह्यते। अनेन ज्ञानेन सह याथार्थ्यलक्षणं प्रमात्वात्मकं ज्ञानप्रामाण्यमपि अनयैवार्थापत्त्या गृह्यते। एवं ज्ञानग्राहिकया सामग्रीभूतयार्थापत्त्यैव ज्ञानप्रामाण्यस्यापि ग्रहणात्[1] समानसामग्रीग्राह्यत्वं समानसंवित्संवेद्यत्वात्मकं[2] वा प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं निष्पद्यते।

भाट्टपादैस्तावत् श्लोकवार्तिके—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥"[3]

इत्यनया कारिकया सर्वेषां ज्ञानानां स्वतःप्रामाण्यं साधितम्। एवमेव पार्थसारथिमिश्रैरपि न्यायरत्नमालायां—

"विज्ञानस्य प्रमाणत्वं स्वतो निर्णीयते यथा।
परतश्चाप्रमाणत्वं तथा न्यायोऽभिधीयते॥"[4]

इत्यारभ्य "तस्मात्स्वतः सिद्धं प्रामाण्यं सर्वज्ञानानां तच्च वेदस्यानुमोदित-मित्यनया[5] पङ्क्त्या सर्वेषां ज्ञानानां स्वाभाविकं स्वतःप्रामाण्यं प्रतिपादितम्।

नूतनायां विचारधारायां सर्वपल्लिभिः डॉ० राधाकृष्णन्महाभागैरपि एवमेव प्रतिपादितम् "The Mimamsa theory of self validity prounts out that validity is a quality of all knowing insepara-ble from it."[6]

---

१. तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्य-मप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते।' तर्कभाषा पृ० १३७।

२. "प्रमात्वस्याननुमेयत्वात् ज्ञानानुमाने समानसंवित्संवेद्यतया ज्ञानत्ववत्प्रमात्वस्य स्वतस्त्व-सम्भवात्।" भाट्टचिन्तामणि, पृ० १३।

३. श्लोकवार्त्तिकम् अ० १, पा० १, सू० २, श्लो० सं० ४७।

४. न्यायरत्नमाला पृ० ३६ चौखम्बा-संस्कृत सीरीज, ई० १९००।

५. न्यायरत्नमाला पृ० ३९।

६. Indian Philosophy—Dr. S. Radhakrishnan, Volume II Blackee & Son publishers. Pvt. Ltd. Bombay, Calcutta, Madras, New Delhi, p. 406.

अस्मिन्सन्दर्भे सप्तदशशताब्द्याः मध्यकाले लब्धप्रतिष्ठैः विश्वेश्वरभट्टा-परनामधेयैः श्रीमद्गागाभट्टमहाभागैः भाट्टचिन्तामणेः तर्कपादे—

"कश्चित्तु तेन वेदजन्यज्ञाने संशयाभावात्स्वतः प्रामाण्यं तदभिन्नज्ञाने तु परतः प्रामाण्यं ज्ञायते। अत एव स्मृतिजन्यज्ञाने सन्मूलकत्वगुणज्ञानादेव प्रामाण्यं सिद्धान्तेप्यङ्गीकृतमिति युक्तमुत्पश्यामः।"[1] अत्र "युक्तमुत्पश्यामः" इत्यनेन वेदज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यं तदतिरिक्तेषु स्थलेषु परतः प्रामाण्यमङ्गीकुर्वद्भिर्यद्यपि भाट्टमीमांसानव्यन्यायविचारसरण्योः समन्वयात्मिका दृष्टिरेका स्थापिता, परन्तु अस्मिन्विवेचने ज्ञानमात्रस्य स्वाभाविकं यत् प्रामाण्यमासीत् तद्विनष्टमेव। वेदवत्त्वेनैव ज्ञानस्य प्रामाण्याङ्गीकारात् ज्ञानप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमेव विलुप्तमतो, नास्ति भट्टवर्याणामयं विपश्चिदपश्चिमो सिद्धान्त इति।

ज्ञानप्रामाण्यस्योत्पत्तिगतज्ञप्तिगतयोरुभयत्र स्वतस्त्वमङ्गीकुर्वतां मीमांसकानां मते यावत्कालपर्यन्तं पर्याप्तैः प्रमाणैः प्रमात्वेनाङ्गीकृतस्य ज्ञानस्य दोषवत्त्वात्मकमप्रामाण्यं न गृह्यते तावत्कालपर्यन्तं तस्य ज्ञानस्योभयात्मकं प्रामाण्यं स्वतः सिद्धम्। प्रामाण्यत्वेन निश्चितेऽपि ज्ञाने प्रबलतरैः प्रमाणैरप्रामाण्यग्रहाशङ्कया-ऽप्रामाण्यस्य परतस्त्वमेवाङ्गीकृतं भाट्टैः।

अस्माकं राष्ट्रस्य विधिशास्त्रेऽपि दोषवत्त्वात्मकस्याप्रामाण्यस्य सिद्धि-कालपर्यन्तं दोषाभावात्मकं प्रामाण्यं स्वतः सिद्धत्वेनाङ्गीक्रियते। भाट्टानामपि ज्ञानप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वे अप्रामाण्यस्य च परतस्त्वाङ्गीकारे अयमेव विचारः परि-लक्ष्यते।

---

१. भाट्टचिन्तामणिः, पृ० सं० १५।

# मीमांसकदृशा शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वविमर्शः

—डॉ० कमलनयनशर्मा

शब्दार्थयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वे अनित्यत्वे तत्स्वरूपे च विवदन्ते वादिनः। दृश्यते तत्र शास्त्रकाराणां मतवैभिन्न्यमपि। यद्यपि तत्रेदमेव सत्यमिदमसत्यमिति नाद्यावधि जायमानेऽपि विचारे निश्चितमिति वक्तुं शक्यते। सर्वत्र युक्तिप्रमाणानां सद्भावात्। तथापि नानेनेदमपि वक्तुं कश्चित् शक्नोति, यद्विचार एव व्यर्थ इति। स्वस्वपक्षे तत्तच्छास्त्रकाराणां बुद्धिकौशलस्य प्रदर्शनपरत्वात्। विचार-क्रमेणैवानेन भवति बुद्धीनां विकासः। तथैव च शास्त्राणां विकासः सवर्द्धनं सुदृढीकरणञ्च जायते। नवा नवा युक्तयोऽपि समागच्छन्ति। तेन च परवर्त्तिनां विदुषां विचाराय प्रशस्तो भवति मार्गः। अयमेव च विचारक्रमः शास्त्रमुपजीवयति परिष्करोति च। अस्मादेव कारणादस्माकं पुरतो विलसन्ति शास्त्राणि। अन्यथा शास्त्राणां मृतिरेव सम्भाव्येत। तस्मान्न कुत्रापि दुराग्रहः। सर्वे सिद्धान्ताः स्वस्वपरम्परायां प्रामाणिकाः मान्याश्च। कार्याण्यपि तेनैव प्रचलन्ति। न कस्यापि शास्त्रस्वीकृतसिद्धान्तस्य खण्डनेन मण्डनेन वा खण्डितं मण्डितं वा भवति। अन्यथा शास्त्रविलोपः स्यात्। परस्परं सर्वेषां शास्त्राणां स्वस्वनिकाये परशास्त्र-सिद्धान्तानां खण्डनस्य दृष्टत्वात्। परन्तु न भवति तथा। अयमेव शास्त्राणां संरक्षणक्रमः। अत एवास्माकं शास्त्राणि सुदीर्घकालादद्यावधि स्वस्थं जीवन्ति। विचारक्रमस्य मृत्यौ शास्त्राणामपि भवति मृत्युः।

प्रसङ्गेऽत्र तावत्सर्वप्रथमं नैयायिकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते। सुसूक्ष्मतत्त्वनिर्धारणै-कशेमुषीकाणां प्रमाणपटूनां नैयायिकानां मते ईश्वरसङ्केत एव शक्तिः। तयैव च शक्त्या वृत्त्याऽर्थबोधकं पदं वाचकत्वेन व्यवह्रियते। तद्बोध्यश्चार्थः वाच्यत्वेन व्यवहारपदमारोहति। यथा गोत्वादिधर्मविशिष्टबोधकं पदं वाचकं तथा तद्-गोत्वादिपदजन्योऽर्थो वाच्य इति। अतएवोक्तं भट्टाचार्येण गदाधरेण—"ईश्वर-सङ्केतः शक्ति"रिति। अनयैव शक्त्या प्रतिपाद्योऽर्थः मुख्यत्वं भजते। यत्र च मुख्यार्थस्य येनकेनापि कारणेन जायते बाधस्तत्रान्यया लक्षणया वृत्त्या भवति बोधः। अतएवोक्तम्—'सङ्केतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः' इति। वृत्तिशब्देनात्र शाब्दबोधोपयोगिसामग्रीसमुदाय उच्यते। स एव च सम्बन्धशब्देन प्रतिपाद्यते। स च सङ्केतलक्षणाभेदभिन्नत्वात् द्विविध इति। वृत्तिद्वयेन पदप्रतिपाद्यतावच्छेदकता-श्रय एव पदार्थशब्देनोच्यते। सङ्केतश्चेश्वरीयः। अतएवोक्तमपि—इदं पदमिमर्थं बोधयतु अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति वेच्छा सङ्केतरूपा वृत्तिः। अर्थात् शक्ति-रित्यर्थः। विशेष्यविशेषणभाववैलक्षण्येनार्थप्रतियोगिकः पदानुयोगिकः अथवा

अर्थानुयोगिकः पदप्रतियोगिको वा बोधः। एष एव च सम्बन्धः। अनेन चेदं स्पष्टं भवति यत्सम्बन्धो भिन्न एव पदार्थः, शक्तिश्च भिन्न एव पदार्थ इति। एतेषां सिद्धान्तेऽनेन प्रकारेण सम्बन्धस्यानादित्वापरपर्यायं नित्यत्वमपि न सेत्स्यति।

तन्न सहन्ते वैयाकरणाः। वैयाकरणनिकाये शब्दार्थयोरिव सम्बन्धस्यापि नित्यत्वमेव भवति। अतएव शब्दस्यार्थस्य सम्बन्धस्य च नित्यत्वं प्रतिपिपादयिषया पर्यनुयोगः कृतः। यथा—'कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तमि'ति। उत्तरितञ्चानुपदमेव—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति। स्पष्टीकृतं स्वयमेव—'सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चे'त्यादिना। अत्र च विषये सम्यक् पर्यालोचनं कृत्वा निश्चितमिदं कृतं यत् 'सिद्धशब्दो नित्यपर्यायवाची' इति। तथा चोक्तम्—'नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः' इति। यद्यपि सिद्धशब्दस्यानित्येऽपि पदार्थे भवति प्रयोगः, यथा—सिद्धः ओदन इत्यादि, तथापि भाष्यकारीयव्याख्यानतो विशेषरूपेण सिद्धशब्दो नित्यपर्याय इति। तथा चोक्तम्—'व्याख्यानतोविशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' इति। अनेन सिद्धसिद्धान्तेन नित्यपर्यायवाचिनः सिद्धशब्दस्यात्र ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः। अनेन च प्रघट्टकेन शब्दार्थयोरिव सम्बन्धस्यापि नित्यत्वं सिद्ध्यति। शक्तिविचारप्रसङ्गे श्रीहरिवचनमपि स्मरन्ति आचार्याः, यथा—

उपकारः स यत्रास्ति धर्मस्तत्रानुगम्यते।
शक्तीनामप्यसौ शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः। इति।

अयं भावः—यत्र ज्ञानस्य शक्तेश्चोपकारस्वभावः सम्बन्धो विद्यते, तत्र कार्यवशेन शक्तिरूपो धर्मोऽनुमीयते। शक्तीनामपि कार्यजननेऽयं सम्बन्धः उपकरोति। तथा चायमेव सम्बन्धः गुणानां द्रव्याश्रितत्वनियामक इति। व्याख्यातञ्च श्रीमताहेलाराजेन—उपकारः—उपकार्योपकारकयोर्बोधशक्त्योरुपकारस्वभावः सम्बन्धो यत्रास्ति, तत्र धर्मः शक्तिरूपः कार्यं दृष्ट्वानुमीयते। असौ सम्बन्धःशक्तीनामपि कार्यजनने उपकारकः, गुणानामपि द्रव्याश्रितत्वनियामक इति। अत्रैव च पातञ्जलभाष्यीयवचनमुदाहृत्य संगमयति। यथा, 'सङ्केतस्तु पदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्द' इति। संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। संस्कारश्च पूर्वज्ञातस्यैव भवति। अतएव स्मृत्यात्मकं इति पदोपादानेन पूर्वतः ज्ञातस्यैव सङ्केतस्य शक्तिबोधकत्वं सिद्ध्यति। शब्दार्थयोरितरेतराध्यास एव सङ्केतस्तन्मूलकं तादात्म्यञ्च सम्बन्ध इति। अत्रैव न्यायभाष्यवचनमुपस्थाप्य समायोजयति। यथा, 'समयज्ञानार्थञ्चेदं पदलक्षणायाः वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम्, वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थलक्षणम्।' तस्मादितरेतराध्यासः सङ्केतस्तन्मूलकं तादात्म्यमित्यादि। शब्दार्थयोश्च निरूपकः सम्बन्धो भवति तादात्म्यम्। शब्दनिरूपितोऽर्थः अर्थनिरूपितश्चशब्द इति। तथा च वक्ति नागेशः

'तस्य च तादात्म्यस्य निरूपकत्वेन विवक्षितोऽर्थः शक्यः, आश्रयत्वेन विवक्षितः शब्दः शक्त इत्युच्यते' इति। तादात्म्यञ्च भेदाभेदनिरूपितं भवति। तथा च लक्षितम्—'तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वमि'ति। एवमेव लघुमञ्जूषायां शब्दनिष्ठं बोधजनकत्वं सम्बन्धरूपं वा शक्तिरूपं वेति विचारप्रसङ्गे सम्यक् निरूपितं यद्-बोधजनकत्वं न सम्बन्धरूपं न वा शक्तिरूपम्। अपि तु सम्बन्धान्तरमेव वाच्य-वाचकभावरूपमिति सिद्धान्तितम्। तथा च तदीयसन्दर्भः—"बोधजनकत्वस्यापि आश्रयतानियामकत्वाभावान्न सम्बन्धत्वम्। नापि तस्य शक्तित्वम्। प्रयोज्य-प्रयोजकव्यवहारं पश्यता बालेन प्रयोज्यस्य प्रवृत्त्या तस्य ज्ञानमनुमाय ज्ञानस्यो-पस्थितत्वाच्छब्दमेव कारणत्वेन गृहीत्वाऽसम्बन्धस्य कारणत्वानुपपत्तिज्ञानपूर्वकं कल्प्यमानस्य स्वयमनुपपद्यमानत्वेन गृहीतजनकत्वरूपस्य तद्घटितस्य वा गृहीतु-मुचितत्वात्। तस्मात्सम्बन्धान्तरमेव वाच्यवाचकभाव इति"। अनेन च प्रकारेणेदं स्पष्टीभवति यच्छक्तिः भिन्न एव पदार्थः, सम्बन्धश्च भिन्न एवेति।

कौण्डभट्टोऽपि भूषणसारे शक्तिनिरूपणप्रसङ्गे कथयति—

**इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।**
**अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥**

स्वयमेव च व्याख्याति—इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां स्वविषयेषु चाक्षुषेषु घटादिषु यथा अनादिर्योग्यता तदीय चाक्षुषादिकारणता, तथा शब्दानामपि अर्थैः सह तद्-बोधकरणतैव योग्यता, सैव शक्तिरित्यर्थः। अर्थात् बोधकत्वरूपा या योग्यता, सा शक्तिरिति। नागेशमते बोधजनकत्वं न शक्तिरूपम् अतएवोक्तं 'नापि तस्य शक्तित्वम्' इति। तस्य बोधजनकत्वस्येत्यर्थः। अयञ्चोभयोर्विशेषः। तदीयदर्पण-टीकायामाचार्येण हरिवल्लभेनोक्तम्—"लाक्षणिकपदस्य वाचकत्वापरिहारेऽपि नेश्वरेच्छायाः शक्तित्वम्। ईश्वरस्यैवानभ्युपगमात्। नापि सङ्केतत्वेन तज्ज्ञानं हेतुः। गवादिपदेष्वपीश्वरादेः सङ्केतत्वेन तज्ज्ञानशून्यानां लौकिकमीमांसकादीनां तत्तदर्थबोधजनकत्वग्रहवतामेव बोधोदयेन व्यभिचारात्" इति। तन्मतमिदं विचारणीयं वर्त्तते। यद्यपि हरिवल्लभाचार्यो न मीमांसादर्शनानभिज्ञस्तथापि दुराग्रहग्रहग्रहिलहृदयस्तु अस्त्ये व। तत्र तत्र मीमांसाधिकरणानामुपस्थापनं करोति स्वकीयायां टीकायाम्। तथापि वक्ति ईश्वरस्यैवानभ्युपगमादिति, तत्तस्य दुराग्रह-मात्रम्। मीमांसादर्शनस्यमूलं हृदयञ्चान्वेषणीयम्। कथमत्रेश्वरप्रतिपादनं न कृतम्। मीमांसादर्शनञ्चेश्वरं मनुते, इत्यत्र या प्रक्रिया तदन्यत्र निरूपितम्। न मीमांसादर्शनमीश्वरविरोधि। अत्रानपेक्षितत्वान्नोच्यते।

वैयाकरणमतमिव मीमांसकमतेऽपि शब्दार्थयोरिव सम्बन्धस्याप्यनादित्वं कण्ठरवोक्तं वर्त्तते। सूत्रकारो जैमिनिः पञ्चमे सूत्रे प्रथमेऽध्याये कथयति-शब्द-स्यार्थेन सह सम्बन्ध औत्पत्तिक इति। तथा च सूत्रम्—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन

सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुलब्धे प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षितत्वात्' इति। अर्थात् शब्दार्थयोः परस्परं यः सम्बन्धः, स औत्पत्तिकइति। औत्पत्तिकशब्दो नित्यपर्यायवाची। सिद्धशब्दस्य नित्यपर्यायवाचित्ववत्। यथा तत्रोक्तं यत् सिद्धशब्दो नित्यपर्याय इति व्याख्यास्यामस्तथैवात्रापि भाष्यकारेणोक्तम्—औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। अतोऽत्रौत्पत्तिकशब्दो नित्यार्थवचनः। परस्परं पृथक्-पृथक् शब्दार्थयोः भवति जन्म। तदनन्तरञ्चोभयोः जायते सम्बन्ध इति न। अपि तु उभयोः सम्बन्ध औत्पत्तिक एव। अतएवोक्तं भाष्यकारेण—'औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थेन सह सम्बन्ध' इति। एवमेव चित्राक्षेपभाष्येऽपि। औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सह सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमित्याद्युक्तम्। पुनश्च 'अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध' इत्यपि। तथा च चित्राक्षेपभाष्ये एव महता प्रघट्टकेन 'तस्मान्न चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मं' इति पूर्वपक्षमभिधाय सिद्धान्तितं तत्रैव 'तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मं' इति। अनेनेदं स्पष्टीभवति यच्छब्दार्थयोः सम्बन्ध औत्पत्तिक एव। यद्युच्यते, पूर्वन्तावच्छब्दस्यार्थेन सह स्यात्सम्बन्धस्ततएवापौरुषेयता वा तस्य पौरुषेयता वेति विचारः सङ्गच्छते, परन्तु शब्दार्थयोः सम्बन्ध एव न प्रतीयते। यतो हि क्षुरशब्दस्योच्चारणाव्यवहितोत्तरमेव जिह्वापाटनं स्यात्। एवमेव मोदकशब्दोच्चारणसमवहितमेव मुखपूरणं सम्भाव्येत, परन्तु तथा न भवति। केवलं सम्बन्धलक्षणसम्बन्धमभिप्रेत्यापि नैवं वक्तुं शक्यते, शब्दार्थयोः कार्यकारणनिमित्तिनैमित्तिकाश्रयाश्रयिभावादिसम्बन्धानामनुपपन्नत्वादिति। तदपि न। शब्दार्थयोः पूर्वोक्तानां सम्बन्धानामभावेऽपि प्रत्याय्यप्रत्यायकयोः संज्ञासंज्ञिलक्षणसम्बन्धस्य विद्यमानत्वात्। शब्दः प्रत्यायको भवति, अर्थश्च प्रत्याय्य इति। न च शब्दस्य प्रत्यायकत्वे प्रथमशब्दश्रवणसमनन्तरमेवार्थप्रत्ययो भवेत्, किन्तु कथन्न भवति तथेति वाच्यम्। प्रत्यायकत्वे प्रत्ययस्य नियामकत्वात्। प्रथमश्रवणस्य च नियामकत्वाभावात्। यदि प्रथमशब्दश्रवणेऽपि न भवति प्रत्ययस्तदा संज्ञासंज्ञिभावावधारणं यावच्छ्रवणमावश्यकम्। ततश्च श्रुतार्थावगमो भवेदेव। न च प्रथमशब्दश्रवणसमनन्तरज्ञानाभावे शब्दार्थयोः सम्बन्धस्यानित्यत्वं स्यात्। शब्दश्रवणानन्तरमर्थेन सह योजयति कश्चित् सम्बन्धस्ततश्च जायते ज्ञानमिति। अपि शब्दार्थयोः सामानाधिकरण्यमपि न पश्यामः। घटादिशब्दाः मुखे भवन्ति। घटाद्यर्थाश्च भूमौ समुपलभ्यन्ते। अतश्चोभयोः सामानाधिकरण्याभावात् सम्बन्धाभावोऽपि प्रतीयन्ते। एवमेवोभयोः रूपभेदोऽप्यवगम्यते। यथा—गौरितिशब्दस्योच्चारणं भवति, सास्नादिमतः गोपिण्डस्य ज्ञानं जायते। उभयोश्च स्वरूपपार्थक्यं स्पष्टमेव। पृथग्भूतयोश्च सम्बन्धोऽनित्यो भवति। यथा रज्जुघटयोः। उभयोः स्वरूपपार्थक्येन सम्बन्धोऽप्यनिप्य एवेति। यदोभयोः कश्चित् पुरुषः सम्बध्नाति, तत एव तेन रज्जुसम्बद्धेन घटेन जलाहरणादिकं कार्यं सम्पद्यते, तथैवात्रापि शब्देन सहार्थस्य सम्बन्धं कश्चिद् योजयति, ततोऽर्थप्रत्ययो भवति। तस्माच्छब्दार्थयोः सम्बन्धः कृतक एवेति। एवमेव वेदेऽपि बोद्धव्यः। तन्न।

शब्दार्थयोः सम्बन्धस्यापौरुषेयत्वात् प्रत्याय्यप्रत्यायकलक्षणसम्बन्धस्य सिद्धत्वात्। रज्जुघटयोः सम्बन्धस्य कर्त्ता कश्चित्पुरुषो दृश्यते। न तथा शब्दार्थयोः सम्बन्धस्य कर्त्ता कश्चित् पुरुषोऽवगम्यते। अतः सम्बन्धकर्त्तुः पुरुषस्याभावाच्छब्दार्थयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वमेव स्वीकर्त्तव्यम्। कथं सम्बन्धकर्त्तुः पुरुषस्याभाव इति चेत्? प्रत्यक्षाभावादिति ब्रूमः। न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमुपलभामहे। न केनापि पुरुषेण प्रत्यक्षीकृतम्। मा भवेत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्। अनुमानादिकन्तु भवितुमर्हतीति चेत्, न। प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानादीनाम्। अनुमाने व्याप्तिज्ञानमावश्यकम्। तच्च प्रथमं महानसादौ प्रत्यक्षेणैव समुत्पद्यते। शाब्दज्ञानेऽपि पूर्वं वृद्धव्यवहारादीनां प्रत्यक्षमेव भवति। उपमानेऽपि गवये गोसादृश्यस्य ज्ञानं प्रत्यक्षेणैव जायते। अर्थापत्तावपि उपपादकस्य ज्ञानं प्रत्यक्षात्मकमेव। तेनैवोपपाद्य ज्ञानम्। 'भूतले घटो नास्ति' इत्यादावपि भूतलाधिकरणकाभावस्य प्रत्यक्षमेव भवति। एवं सर्वेषां प्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् प्रत्यक्षस्य च तत्र प्रक्रमाभावान्न किमपि प्रमाणं तत्र प्रक्रमते। तस्मात्पुरुषस्य सम्बद्धुरभावाच्छब्दार्थयोः सम्बन्धस्यापौरुषेयत्वम्। यद्युच्येत शब्दार्थयोः सम्बन्धस्य चिरकालवृत्तत्वादिदानीन्तनाः जनाः न स्मरन्तीति। तदपि न विचारसहम्। चिरवृत्तत्वेऽपि स्मरणस्य दृष्टत्वात्। चिरवृत्तः सन्न स्मर्यंत इति वक्तुं न शक्यते। कूपारामादिवत्स्मरणाभावोऽपि नोपपद्यते। तत्र तद्देशस्यविनाशेन तत्कुलस्य वा विनाशेन स्मरणाभावो वक्तुं शक्यते। न शब्दव्यवहारस्याभावो भवति कदाचित्। अतो व्यवहर्त्तुः पुरुषस्यभावाभावाच्छब्दस्य तदर्थस्य तयोश्च सम्बन्धस्य नित्यत्वमेव सेत्स्यति। ननु ये जनाः सम्बन्धमात्रव्यवहर्त्तारो भवन्ति, तेषां कृते शब्दार्थसम्बन्धकर्त्तुः स्मरणं निष्प्रयोजनं भवति। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' इति कौमारिलेन न्यायेन तेषां प्रति जायतेऽनादरभावः। अनादरभावाच्च स्मरणाभावः स्वाभाविक एव। तस्माद्विस्मरणमुपपद्यते इति चेत्, सत्यम्। यदि सम्बन्धः कृतकः स्यात्। कश्चित् सम्बन्धविधाता पुरुषः शब्दार्थयोः सम्बन्धं विधाय व्यवहारं कुर्वीत, तदैवं वक्तुं शक्यते। न तथा शब्दार्थसम्बन्धविषये वर्त्तते। अन्यथा शब्दव्यवहारकाले कर्त्तः स्मरणमवश्यमेव स्यादिति। न भवति तथा। तस्माच्छब्दार्थयोः नित्य एव सम्बन्ध इति। उदाहरणं यथा—ये खलु जनाः पाणिनिशास्त्रं न जानन्ति तेषां वृद्धिशब्देन 'आदैचां' न भवति बोधः, न च वृद्धिशब्देन 'आदैच्विषयकं वा व्यवहारं कुर्वन्ति, परन्तु ये पाणिनीयाः सन्ति, ते तथैव व्यवहरन्ति, पाणिनिञ्च स्मरन्त्यपि। तथैव ये पुरुषाः पिङ्गलशास्त्रं न जानन्ति, ते खलु मकारेण गुरुत्रिकं नावगच्छन्ति, न च मकारेण गुरुत्रिकं वा व्यवहरन्ति, किन्तु ये जना तज्ज्ञास्तेतु मकारेण सर्वगुरूणां व्यवहारं सम्पादयन्ति, पिङ्गलमपि स्मरन्ति। अत्रोभयत्र सम्बन्धस्य कर्त्तुः स्मरणं भवति, तत्कृत व्यवहारमपि स्मरन्ति। न तथा शब्दार्थसम्बन्धविषयेऽवगच्छामो वयम्। शब्दव्यवहारप्रसङ्गे न तत्सम्बन्धस्य कर्त्तुः स्मरणं जायते। तस्माच्छब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वमेव मन्तव्यम्।

अपि च ये खलु 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रं वृद्धिसंज्ञासम्पादकं न स्मरन्ति, ते वृद्धसंज्ञाविधायकस्य 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' इति सूत्रस्य ज्ञानमपि न सम्पादयितुं शक्नुवन्ति। अतः कश्चित् पुरुषः शब्दार्थयोः सम्बन्धं कृत्वा व्यवहार-सम्पादनार्थं वेदानां कृतवान् प्रणयनमिति न कदापि वक्तुं शक्यते। तस्मादपि सम्बन्धस्य नित्यत्वमवगच्छामः। यदि कदाचित् येन केन प्रकारेण विस्मरण-मुपपादयितुमपि शक्येत तथापि प्रमाणं विना सम्बन्धकर्त्तारं न प्रतिपद्येमहि। विद्यमानस्य तूपलम्भनं कदाचिद् भवत्येव। नोपलभ्यते तस्मान्नास्ति। यद्यपि शशविषाणस्य बौद्धार्थज्ञानं भवति तथापि प्रत्यक्षप्रमाणबाधात् न तद्विषयकं ज्ञानं प्रामाणिकं भवितुमर्हति। अतएव 'तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध' इति भाष्यकारीयं वचनं सङ्गच्छते।

भवतु नाम प्रत्यक्षादीनामप्रसरः। अर्थापत्तिस्तु तत्र प्रसरति। उपपाद्यज्ञाने-नोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। अत्रोपपाद्यज्ञानमर्थज्ञानम्। उपपादकञ्च सम्बन्ध-कर्तृज्ञानम्। यस्य शब्दस्य येनार्थेन सह केनचित् पुरुषेण सम्पादितः सम्बन्धः, तेन शब्देन तस्यार्थस्य जायते ज्ञानम्। यस्य च शब्दस्य न केनाप्यर्थेन सम्बन्धः कृतः केनचिदपि पुरुषेण, तेन शब्देन नार्थज्ञानं भवति। यदि स्वीक्रियेत तेनपि शब्देनार्थ-ज्ञानं भवतीति तर्हि प्रथमशब्दश्रवणसमनन्तरमेवार्थज्ञानं भवेत्, परन्तु न भवति तथा। तस्माज्ज्ञायते यदस्ति कश्चित् शब्दार्थसम्बन्धस्य कर्त्तेति। तदपि न सम्यक्। सिद्धस्यापि वस्तुनो भवत्युपदेशः। आपेक्षिकस्याकाशादेरपि दृश्यते उप-देशः। अत्यन्तसिद्धस्यापि ब्रह्मणोऽपिभवत्येवोपदेशः। नैतावता वक्तुं शक्यते, तस्यापि कश्चित् कर्त्ता स्यादिति। अतएवोक्तम्—'सिद्धवदुपदेशात्' इति। अपि च यदि सम्बन्धकर्त्तुरभावादर्थज्ञानं न भवेत्तथान्य उपायोऽपि न वर्त्तेत तर्हि अर्थापत्त्या सम्बन्धकर्त्तारमवश्यमेव कञ्चित् पुरुषं स्वीकुर्यात्, परन्तु नात्र तथा। अन्योपाय-स्यापि विद्यमानत्वात्। कोऽन्य उपाय इति चेत, वृद्धव्यवहारमेवोपायत्वेन स्वीकुर्मः। तथाहि—कश्चिदुत्तमवृद्धः मध्यमवृद्धमुद्दिश्य स्वव्यवहारसिद्धयर्थं 'गामानय' इति वक्ति। तद्वचनं श्रुत्वा मध्यमः पुरुष गवानयने प्रवर्त्तते। पुनश्च वक्ति 'गां नय' इति। मध्यमवृद्ध गां नयति। तत्रैव बालोऽपि तिष्ठन् सर्वं शृणोति पश्यति च। नयनानयनयोः भेदेऽपि 'गो' इत्येकमेव पदमुभयत्र वर्त्तते। अतो बालः जानाति यद् गोशब्दस्यायमेव सास्नादिविशिष्टं पिण्डमेवार्थः ततश्च सोऽपि गोशब्देन तमेव पिण्डमवबुध्यते व्यवहरति च। यदैते वृद्धाः आसन् तदाऽन्येभ्यो वृद्धेभ्यस्तेऽप्यन्येभ्य इत्यनादिपरम्पराप्राप्तत्वादद्यावधि प्रवर्त्तते व्यवहारः। तस्मा-दर्थापत्त्या सम्बन्धकर्तृकल्पनं नोचितम्। अपि चैकस्य शब्दस्य नैकेनार्थेनैव-भवति सम्बन्धः। तत्रानेकसम्बन्धकर्तृकल्पनमेवावश्यकं भवेत्। तस्मान्नायं पक्षः समीचीनः। वृद्धव्यवहारस्य विद्यमानत्वेऽर्थापत्त्या सम्बन्धकर्तृकल्पनमतीव दूरा-पास्तम्। अपि च व्यवहारवादिनये प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम्, इतरेषां मतेऽर्थापत्त्या

सम्बन्धकर्त्तृकल्पनम् । प्रत्यक्षप्रतिपक्षिकल्पना न साधीयसी भवति । तस्मात् सम्बन्धकर्त्तुरभावः सिद्ध्यति । अपि च शब्दार्थव्यभिचाराभावादपि सम्बन्धकर्त्तुरभावः । यथैकत्र सास्नादिमति पिण्डविशेषे गोशब्दव्यवहारस्तथान्यत्र सर्वत्र गोपिण्डविशेषे एव गोशब्दप्रयोगः । नानयोरवलोक्यते व्यभिचारः कुत्रापि । सम्बन्धस्य कृतकत्वेऽनेके सम्बन्धारो भवेयुः । अनेकदेशस्थे गोशब्दे एक एव कर्त्ता सम्बन्धकरणे नालम् । तस्मात्सम्बन्धस्य कर्त्ता कश्चिन्नास्तीति । अतएवोक्तं सूत्रकारेण—'अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे' इत्यादि । भाष्यकारोऽपि वक्ति—'अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्त्ते'ति ।

'अव्यतिरेकश्च' इति सूत्रांशस्यापरापि व्याख्या भाष्यकारेणोपस्थापिता । अयमाशयः—नैतादृशः कश्चित्कालोऽस्ति आसीद् वा यत्र शब्दानां केनचिदर्थेन सम्बन्ध एव नासीत् । न सम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चिद् कालः । सम्बन्धक्रियाया अनुपपत्त्या एवं कल्पनमावश्यकम् । कथन्तर्हि सम्बन्धक्रियानुपपन्नेति चेत् । उच्यते—यदि कश्चित्पुरुषः शब्देन सहार्थस्य सम्बन्धं चिकीर्षति तदा कञ्चिच्छब्दार्थसम्बन्धमवलोक्यैव करिष्यति । तस्य च शब्दस्यार्थेन सह कः सम्बन्धं कृतवान् इति भवति जिज्ञासा । यदि तस्यापि सम्बन्धो येन केनापि कृत इति स्वीक्रियते चेर्त्तर्हि तत्पूर्वस्य सम्बन्धः केन कृत इति । एवं तस्यापि केनचित्तस्यापि केनचिदित्येवं प्रकारेण स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वरूपानवस्था प्रसज्येत् । तस्मादप्यनादिपरम्पराप्राप्तिर्भवेत् । अतोऽपि सम्बन्धस्यानादित्वसिद्धिः । अथवा अकृतसम्बन्धानां केषाञ्चिच्छब्दानां कैश्चिदप्यर्थैः सह सम्बन्धं तत्प्राक्तनकालीनवृद्धव्यवहारं दृष्ट्वैव कृतवान् । एवं स्वीक्रियमाणे सति वृद्धव्यवहारस्यैवानादिपरम्परायाः नियामकत्वादर्थापत्त्या सम्बन्धकर्त्तृकल्पनं न कथमपि सम्भवम् । अतोऽत्रार्थापत्त्या सम्बन्धकल्पनमनावश्यकम् । तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध इति ।

अपि च अप्रसिद्धसम्बन्धाः बालाः वृद्धव्यवहाररूपप्रत्यक्षप्रमाणेनैव सम्बन्धस्य ज्ञानमर्जयन्ति । तेनैव च ज्ञानप्राप्ताः भवन्ति । पुनश्च सम्बन्धकर्त्तुः ज्ञानं नैवावश्यकम् । अर्थात् प्रमाणशिरोमणिना प्रत्यक्षेणैव सिद्धस्य सम्बन्धस्य पुनरर्थापत्त्या कल्पने वैषम्यं स्यादिति भावः । अपि च कञ्चिद्विशेषमधिकृत्यैव तद्विशेषज्ञानाय च संज्ञाः क्रियन्ते । व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा संज्ञायाः प्रयोजनमितिन्यायात् । यस्य संज्ञा क्रियमाणा वर्त्तते, तस्यानुपलब्ध्या संज्ञाकरणमेवानर्थकं निष्प्रयोजनं स्यात् । तथा संज्ञाकरणमशक्यमपि स्यात् । पूर्वन्तावत् पुत्रोत्पत्तिर्भवति । तदनन्तरमेव नामकरणं भवति । पुत्र एव न स्याद्यदि तर्हि नामकरणमनर्थकमशक्यञ्च भवति, तथैवात्रापि वोध्यम् । तद्विशेषज्ञानाभावे उभयमप्यशक्यम् । अतएवोक्तं भगवता सूत्रकारेण—'अर्थेऽनुपलब्धे' इति । तस्मदपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध इति । अनेनैव च प्रकारेण धर्मे चोदनायाः प्रामाण्यमपि

सिद्धयति। उक्तञ्च 'तत्प्रमाणमनपेक्षत्वात्' इति। नात्र पुरुषान्तरस्य ज्ञानान्तरस्य वाऽपेक्षा भवति। इतरानपेक्षत्वाच्चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, नान्यलक्षण इति। एवमेव शास्त्रदीपिकाकारेणाप्युक्तम्—तेषामयमाशयः—शब्दार्थयोः प्रत्याय्य-प्रत्यायकत्वलक्षण एव वर्त्तते सम्बन्धः। एतदतिरिक्तसम्बन्धाभावात् स्वभाव-वशादेव शब्दो प्रत्यायको भविष्यति, अर्थश्च प्रत्याय्य इति। चक्षुरादीन्द्रियप्रत्यक्षे सन्निकर्षादीनां तथानुमानादिप्रत्यक्ष व्याप्त्यादिज्ञानस्य च भवत्यपेक्षा, परन्त्वत्रे-तरानपेक्षमेवार्थप्रतिपादनं भवति। इदमेव चाभिधानशब्देनोच्यते। इदमेव च संज्ञासंज्ञिलक्षणः सम्बन्ध इति। शब्दोच्चारणाव्यवहितोत्तरं जायमानमर्थज्ञानमेव शब्दस्यार्थप्रतिपादने प्रमाणम्। उक्तमपि—'न हि शब्दस्यार्थेन संयोगतादात्म्यादि-सम्बन्धः, किन्तु प्रत्यायकत्वमि'ति। सम्बन्धस्य कृतकत्वे 'सर्वेषां शब्दानां सम्बन्ध-करणमशक्यम्' इति शब्दनित्यत्वप्रतिपादनावसरेऽपि प्रतिपादितम्। तस्मान्न शब्दार्थसम्बन्धस्य कृतकत्वमपि त्वपौरुषेयः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति।

भाट्टदीपिकाकारोऽपि कथयति यत् शब्दार्थयोरिव सम्बन्धस्याप्यनादित्वेन पौरुषेयत्वाभावात् सिद्धयति चोदनायाः प्रामाण्यम्। अतः पदपदार्थसम्बन्धस्य पुरुषाधीनत्वात् सम्बन्धसापेक्षञ्च वेदवाक्यार्थज्ञानमिति वक्तुं न शक्यते। यद्यपि स्वरूपतो वाक्यार्थज्ञानं प्रति सम्बन्धस्य कारणता न सिद्धयति तथापि व्याकरणादि-शास्त्रमिव क्वचिदाप्तपुरुषस्याप्युपयोगमात्रेण न सर्वत्रानाश्वासो युक्त इति। तस्मात्सम्बन्धस्यानादित्वेन चोदनायाः प्रामाण्यं सिद्धत्येवेति। 'औत्पत्तिकस्तु' इति सूत्रार्थयोजनावसरे रङ्गनाथीयायां वृत्तावपि सम्बन्धस्यानादित्वं प्रतिपादितं वर्त्तते। तथाहि—तदीयो ग्रन्थः—शब्दस्य वाचकस्यार्थेन वाच्येन सह सम्बन्धः वाच्यवाचकभावरूपः औत्पत्तिकस्तु स्वाभाविक एव, न सङ्केताधीनः। उपदेशः आप्तोपदेशः, तस्य तादृशसम्बन्धस्य ज्ञानं ज्ञानसाधनम्। आप्तोपदेशः न तादृश-सम्बन्धस्य कारकोऽपि तु ज्ञापक एवेति भावः। अनपेक्षत्वात्। अप्रामाण्यशङ्काहेतु-भूतस्य सङ्केतयितृपुरुषादिसापेक्षत्वस्याप्यभावात्। अनेन ग्रन्थेनापि सम्बन्धस्या-नादित्वमेव सिद्धयति। एवमेव यदि सम्बन्धस्यानादित्वं न स्वीक्रियेत चेत्तर्हि-यत्कालावच्छेदेन शब्दो न केनाप्यर्थेनासीत् सम्बद्धस्तत्कालावच्छेदेन कथं किं वा दृष्ट्वा सम्बन्धं क्रियेत। यदि कश्चित् शब्दार्थयोः सम्बन्धं चिकीर्षति तदा पूर्व-प्रयुक्तं वाक्यग्रहणमवश्यमेव कर्त्तव्यं स्यात्। यथा गोशब्दः सास्नादिमत्यर्थे सम्बद्ध इति। एवं स्वीक्रियमाणेऽपि पुनः पूर्ववदनवस्थाप्रसङ्गः स्यात्। यदि गोशब्देन सह सास्नादिमतोऽर्थस्य सम्बन्ध एव न स्यात्तर्हि तदर्थप्रतिपादनाय तच्छब्दस्योच्चारण-मपि सङ्गतं स्यात्। शब्दस्य तदर्थप्रतिपादकत्वाभावात्। ये बालाः शब्दार्थसम्बन्धं न जानन्ति तेऽपि वृद्धेभ्यः शब्दार्थसम्बन्धज्ञानं कुर्वन्ति। तत्रापि वृद्धाः बालेभ्यः न सम्बन्धमुपदिशन्ति, अपि तु स्वव्यवहारसम्पादनार्थं शब्दानां कुर्वन्ति प्रयोगम्। तत्रस्थो बालः आवापोद्वापाभ्यां वाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाऽर्थनिर्णयं करोति। तत्

एवं च गवादिशब्दस्यानेनार्थेनास्ति सम्बन्ध इति सम्बन्धनिश्चयमपि करोति। अनेन च प्रकारेण वृद्धव्यवहारादेव शब्दानां तदर्थानां तयोश्च सम्बन्धानां भवति करोति ज्ञानम्। वृद्धव्यवहारश्चानादिरिति पूर्वमप्युक्तम्। तस्मात्प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वलक्षणः सम्बन्धः शब्दानां सिद्ध्यति। तस्मान्न पौरुषेयः सम्बन्धः शब्दार्थयोरिति। सिद्धान्तचन्द्रिकायामप्युक्तम्—'अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध' इति। प्रत्यक्षा हि व्यवहर्त्तारः। कतरमश्च सम्बन्धकर्त्ता। क्लृप्तकल्प्ययोः क्लृप्तस्यैव बलवत्त्वमिति। तस्मादपि शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽपौरुषेयः। वृद्धव्यवहाराच्च कथमवगतिर्भवतीति सिद्धान्तचन्द्रिकागूढार्थविवरणे सम्यक् विचारितम्। तेषामयमाशयः—वृद्धव्यवहारात्त्रेधा भवति ज्ञानम्। तत्र प्रथमन्तावत् वृद्धाः 'अस्माच्छब्दादममर्थो बोद्धव्य' इत्युपदिशन्ति। अनेन शब्दार्थयोर्बोध्यबोधकभावो ज्ञायते। द्वितीयञ्च वाच्यवाचकभावोरूपेणोपदेशः। यथा—अयं शब्दोऽस्यार्थस्य वाचकः, अयमर्थश्चास्यशब्दस्य वाच्य इति। तृतीयञ्चोत्तमवृद्धः मध्यमवृद्धमुद्दिश्य समीहितसाधनायोच्चारिताच्छब्दादर्थक्रियां दृष्ट्वानुमानेन वाच्यवाचकभावं निश्चिनोति। एषा च प्रक्रिया पूर्वमुक्ता। सर्वत्र सहकार्यपेक्षानुग्राहिका भवति। श्लोकवार्त्तिकेऽपि श्रीमताभट्टपादेन 'अथ सम्बन्धः कः' इति प्रश्नभाष्यमुपक्षिप्य शब्दार्थसम्बन्धस्यापौरुषेयत्वं प्रतिपिपादयिषया भूमिका आरचिता। यद्यपि शब्दार्थयोः नित्यत्वप्रतिपादनावसरे संज्ञासंज्ञिलक्षणः सम्बन्धोऽपि प्रतिपादितः। तस्यैव दृढीकरणाय पुनराक्षिप्य विचारयति। शब्दार्थयोः सम्बन्धजिज्ञासायां यदि कश्चित् कथयति यत् शब्दे उच्चार्यमाणे येन सम्बन्धेन शब्दादर्थप्रतीतिर्जायते स एव सम्बन्ध इति। तर्हि नेदं समीचीनमुत्तरम्। वचनेनानेन तत्स्वरूपप्रतिपादनाभावात्। तथा चोक्तम्—स्वरूपाकथनाच्चैतदुत्तरं नोपपद्यते। इति। उदाहरणं यथा—कश्चित्पृच्छति—ज्वरस्य किमौषधम्? उत्तरञ्च ददाति—येन ज्वरो नश्यति, तदेवौषधमिति। अनेन किमुक्तं भवति? न किमपि। कुतः? औषधस्वरूपप्रतिपादनाभावात्। स्वरूपप्रतिपादनाभावात् कस्य वस्तुनः सेवनं पानं वा करिष्यति ज्वरग्रस्तः। नात्र निश्चायकं किमपि प्रमाणं प्रक्रमते, तस्मात्स्वरूपप्रतिपादनमावश्यकमितिभावः। संज्ञासंज्ञिलक्षणः सम्बन्धः यः प्रतिपादितः, न स विचारसहः, अनुभवप्रमाणविरुद्धत्वात्। शब्देह्युच्चार्णमाणे पूर्वं सम्बन्धस्य प्रतीतिर्जायते। अयञ्च शब्दोऽनेनार्थेन सम्बद्धः। अयञ्चार्थोऽनेन शब्देन सम्बद्ध इति। तदनन्तरञ्चेयमस्य संज्ञा, अयञ्च संज्ञीति भवति ज्ञानम्। ततश्चोभयोः संज्ञासंज्ञिनोः सम्बन्धज्ञानं जायते विशेषेण। अतः सम्बन्धनिष्ठप्रत्याय्यत्वनिरूपितं संज्ञात्वनिष्ठप्रत्यायकत्वं न सम्भवम्। तत्त्वन्यत्रैव कुत्रचिद् भवेत्। अतएव संज्ञासंज्ञिभावस्य बोधजनकतायामङ्गत्वं निवारयति। तथा चोक्तम्—

यः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः स प्रतीत्युत्तरो यतः।
सा चान्यपूर्विका तस्मान्नास्य प्रत्यायनाङ्गता॥

व्याख्यातञ्च, न्यायरत्नाकरे पार्थसारथिमिश्रण—सम्बन्धग्रहणपूर्विका हि प्रतोतिः। संज्ञात्वन्तु प्रतीत्युत्तरकालभावि न प्रतीत्यङ्गमिति। तथा च कुत्रचिद् संज्ञात्वज्ञानाभावेऽपि सम्बन्धान्तरेणार्थज्ञानं सम्पद्यते। तत्र संज्ञात्वस्य बोधे नानुपयोग इति। कश्चिच्च न कदापि संज्ञात्वं बुध्यते तथापि बोधस्तु जायत एव। भवतु नामोच्चारितशब्दनिष्ठसंज्ञात्वं विनापि बोधस्तथापि भिन्न एव कश्चित्-सम्बन्धस्त्वस्त्येवेति कथं सम्वन्धाभावः। शब्दज्ञानसमनन्तरमेवार्थज्ञानं जायते। तस्माद्द्वैतयोः शब्दार्थयोः कश्चिदविनाभावरूपः सम्बन्धः परिकल्प्यते। अविनाभावाद्विना वस्त्वन्तरविषयके ज्ञाने जाते वस्त्वन्तरस्य प्रतीतिः भवितुं नार्हति। तथा चोक्तम्—

तमेवान्योऽविनाभावमत्र सम्बन्धमिच्छति।
न हि तस्माद्विना शब्दे ज्ञाते स्यादर्थबोधनम्॥

तदेतत्सर्वमुपपाद्य समाधत्ते—अविनाभावरूपस्य सम्वन्धस्य प्रतिपादनं भाष्ये न क्वाप्यवलोक्यते। न्यायरत्नाकरेऽपि—न हि भाष्येऽविनाभावकीर्त्तनमस्ति। अविनाभावरूपा संज्ञा लोकव्यवहारादेव प्रतीयते। इयमस्यसंज्ञेति विकल्प्य न परिगृह्यते तथापि वृद्धव्यवहाराद् गमकत्वापरपर्यायं बोधकत्वन्तु प्रतीयत एव। तथा चोक्तम्—

प्रयुक्तश्चाविनाभावसंज्ञा लोकात्तु गम्यते।
संज्ञेत्यवगम्यमानेऽपि गमकत्वं प्रतीयते॥

अत्रेव न्यायरत्नाकरः गमकत्वमेव चेन्द्रियादिविलक्षणं संज्ञात्वमिति संज्ञात्वमेवावगतं भवति। अतः संज्ञैव प्रतीत्यङ्गमिति नापरितोषः, इत्यादि। बोधकत्वमेवगमकत्वमिति पक्षस्य समर्थनाय किन्नाम गमकत्वमिति पर्यनुयोगं कृत्वा विकल्प्य च विचारितं सिद्धान्तचन्द्रिकायाम्—वाचकत्वं गमकत्वञ्च नापरपर्यायः। धूमादेरपि वाचकत्वप्रसङ्गात्। धूमोऽग्नेः गमको भवति न वाचकः। अर्थसादृश्ये गमकत्वमपि न वाचकत्वम्। प्रतिबिम्बस्यापि वाचकत्वप्रसङ्गात्। तत्रापि भवति सादृश्यम्। आत्माध्यासेनापि गमकत्वं वक्तुं न शक्यते। अध्यासस्य विखण्डितत्वात्। आत्माभेदेन भवतु गमकत्वम्, तदपि न। अभेदे गम्यगमकभावानुपपत्तेः। गम्यगमकत्वञ्च भेदे एवोपद्यते। रूपत्रयादिरहितत्वमपि गमकत्वं वक्तुं न शक्यते। चक्षुरादेरपि वाचकत्वप्रसङ्गात्। तर्हि किन्नाम वाचकत्वमिति चेच्छृणु—अभिधानस्यैव वाचकत्वात्। अभिधायकञ्च बोधकमेव भवति। उभयोरपरपर्यायत्वात्। अन्यानपेक्षत्वेन यदर्थप्रतिपादकता सैवाभिधायकता। अयं भावः—यथा चक्षुरादीन्द्रियाणि घटपटादिपदार्थबोधनाय सन्निकर्षमपेक्षन्ते। लिङ्गादिज्ञानञ्च वह्न्यादिबोधनाय व्याप्तिज्ञानमपेक्षते। नात्र तथा। सन्निकर्षाद्यनपेक्षमेव यदर्थप्रति-

पादनम्। इदमेवाभिन्नमित्युच्यते। अयमेवास्यविशेषः। अर्थात् अर्थप्रतिपत्तिफलकः शब्दव्यापारोऽभिधानक्रिया। तस्याञ्च प्रतिपत्त्याख्यफलशालितया यदर्थस्य कर्मत्वं तद्वाच्यत्वम्, शब्दस्य च विवक्षावशेन यत्कर्त्तृत्वं करणत्वं वा तद्वाचकत्वम्। एतदेव च भाष्ये "संज्ञासंज्ञिलक्षणसम्बन्धोऽयमि"त्यादिनोक्तम्। अस्तु।

यद्यपि स्फोटनिरूपणप्रसङ्गे शब्दार्थयोरुभयोः सम्बन्धस्य परिचर्चा सञ्जाता। पुनश्च तस्य नित्यत्वानित्यत्वविचारायात्र विचारारम्भ इति। अतो विषयभेदात् पुनश्च विचारो नासङ्गतो नापि द्विरुक्त इति। तथा चोक्तं वार्त्तिककारेण—

**तस्मात्स एव शब्दार्थचिन्ताव्यवहितोऽधुना।**
**नित्यानित्यविचारार्थं सम्बन्धः स्मार्यते पुनः॥**

'यच्छब्दे विज्ञातेऽर्थो विज्ञायते' इति भाष्ये यदुक्तं तदपि शब्दनिष्ठार्थप्रतिपादकताशक्तिप्रतिपादनायैव। अर्थादर्थनिष्ठवाच्यतानिरूपितवाचकताश्रयश्शब्द इति। पक्षमिमं वार्त्तिककारोऽपि समर्थयति—'यच्छब्दे ज्ञाते इत्येव शक्तिरेवात्र कीर्त्यते' इत्यादिना। प्रतिपादकता शक्तिः च कर्त्तृत्वरूपा करणत्वरूपा वा यार्थाभिधानक्रियां प्रति वर्त्तते, तदेव शक्तिरिति। तस्यैव गमकत्वात्। अतएव न्यायरत्नाकरेप्युक्तम्—'सम्बन्धश्च ज्ञाप्यज्ञापकमेव' इति। सम्बन्धस्य कृतकत्वं पूर्वपक्षत्वेनोपपाद्य निराकृत्य च वाच्यवाचकयोः शब्दार्थयोः परस्परं यः सम्बन्धस्तस्य नित्यत्वं युक्तिप्रमाणाभ्यां प्रस्तौति। तथाहि—सम्बन्धो यदि कृतकस्तर्हि प्रतिमर्त्यं प्रत्युच्चारणं कश्चित्सम्बध्नाति उत सर्गादौ केनचिदेकेन सम्बन्धो विहितः। न तावत्प्रथमः। प्रतिमर्त्यं प्रत्युच्चारणमेव वा सम्बन्धकल्पना स्यात्तर्हि कृतकत्वमेव न सिद्ध्येत्, बहुभिः जनैरेकनिष्ठाक्रियाकारणासम्भवात्। भेदपक्षश्चेत्स्वीक्रियेत तर्हि ज्ञानेऽपि भेदः प्रसज्येत। तस्मान्न प्रथमः पक्षः क्षोदक्षमः। अपि च भेदपक्षे प्रतिसम्बन्धं शक्तिकल्पना कर्त्तव्या स्यात्। तत्राप्येकस्मिन् ज्ञातशक्तौ सत्यामपि नान्यस्यार्थबोधसम्भावना कर्त्तुं शक्या। यद्युच्येत विभिन्नेनापि वक्त्रा प्रयुक्तेऽपि स्वसम्बन्धमनुसृत्यैव बोद्धा बुध्यत इति। तदपि न। विभिन्नैः पुरुषैः विभिन्नविषयमधिकृत्य विभिन्नार्थविषयकाः सम्बन्धाः क्रियन्ते। तत्र च कथं स्वज्ञातसम्बन्धानुसारमर्थबोधकल्पना कर्त्तुं शक्या। अपि च 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्' इति न्याये नैकशब्दविषयका अप्यनेके सम्बन्धाः विकल्पेन गृह्येरन्नित्यपि न। यत्रानेकसम्बन्धविषयकाः शब्दाः दृश्यन्ते तत्रैकस्य पक्षस्य बाधोऽपि समवलोक्यते। यथा-पीलुशब्दस्यार्थैः वृक्षरूपार्थेन क्रियते सम्बन्धः। म्लेच्छैश्च हस्तिरूपपरवर्थेन सम्पाद्यते सम्बन्धः। तत्र यद्यपि वैकल्पिको विद्यते सम्बन्धस्तथापि म्लेच्छजनकृतसम्बन्धस्यात्यन्तबाधपरिकल्पना भवत्येव। वृक्षरूपस्यैवार्थस्य प्रतीतिः प्रामाणिकीति परिकल्प्यते। बाधाभावे वैकल्पिकी च व्यवस्थास्वीक्रियमाणे कदाचित्

वृक्षरूपार्थप्रतीतिः, कदाचिच्च हस्तिरूपस्याप्यर्थस्य प्रतीतिः स्यादेवेति । तस्मान्म्लेच्छसम्बन्धस्य भवति बाध एव । उभयार्थनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकताश्रयः पीलुशब्द इति समुच्चयपक्षोऽपि न विचारितरमणीयः । कालभेदेनोभयार्थस्य प्रतीतिसम्भवात् । परन्तु नायं पक्षः समीचीनः । शास्त्रविरुद्धत्वात् । शास्त्रञ्चार्थप्रसिद्धेरेव गरीयस्त्वं समर्थयति । अपि च यद्युच्येत सम्बन्धानामनेकत्वेऽपि तेषु कमप्येकं सम्बन्धं स्वीकृत्य स्याद् व्यवहार इति । तदपि न । गमकत्वाभावात् । यदि सम्बन्धो नित्यस्तर्हि आप्तानाप्तत्वविभागोपयुज्यते । बहुभिः जनैः स्वयमपूर्वसम्बन्धे कृते कथमाप्तत्वनिर्णयः । ततश्च नियमेन न कस्याप्येकस्माप्यर्थस्य प्रत्यायकत्वं भवेत् । एवमेव शब्दार्थयोरभेदपक्षेऽपि बहुपुरुषकृते सम्बन्धे स्वीक्रियमाणे व्यवहारकालेऽयं वा सम्बन्धः उपादेयोऽयं वेति निर्णयाभावात् बाध्येत व्यवहारः । न दृश्यते लोकव्यवहारेऽयं विमर्शः । अतएव विकल्पपक्षोऽपि न युक्तः । गोशब्दे सकृदुच्चार्यमाणे विभिन्नेषु बोद्धृषु कश्चिद् बुध्येत, इतरे च नेति ।

यद्युच्येतैकपुरुषगामित्वेनैकार्थत्वाद्विकल्पो भवितुमर्हति, परन्तु विभिन्नपुरुषगामित्वात्तत्सम्बन्धज्ञानतत्कार्यभेदाच्चसमुच्चयपक्ष एव साधीयानिति । तन्न । 'वक्त्रैक्यादसम्भवात्' इति वार्त्तिकग्रन्थस्य जागरुकत्वात् । वक्ता तावद् यं कमप्येकमेव सम्बन्धं हृदि निधाय प्रयुङ्क्ते शब्दम्, परन्तु श्रोता शब्दार्थयोरनुगुण एव सम्बन्धं शृणोति अवगच्छति च । ये खलु तत्सम्बन्धज्ञानविरहितास्ते कथं प्रतिपद्येरन्निति । तथा च यदि शब्दोच्चारयितृनिष्ठोद्देश्यता भिन्ना श्रोतृनिष्ठोद्देश्यता च भिन्ना, तर्हि वाच्यवाचकभाव एव तयोर्न प्रसिद्ध्येत । व्यवहारोऽपि च न सेत्स्यति । अतएवोक्तं वार्त्तिककारपादेन—

**वक्तुरन्यो हि सम्बन्धी बुद्धौ श्रोतुस्तथापरः ।**

अतएव च प्रतिव्यक्तिसम्बन्धकरणमपि खण्डितम् । तथाहि—

**श्रोतुः कर्त्तुं च सम्बन्धं वक्ता कं प्रतिपद्यताम् ।**<br>
**पूर्वदृष्टो हि यस्तेन श्रोतुर्नैव करोति तम् ।**<br>
**यं करोति नवं सोऽपि न दृष्टः प्रतिपादकः ।।**

यद्युच्येत येन केनापि नित्येनानित्येन वा सम्बन्धेन श्रोतुरर्थप्रतीतिः स्यात्तर्हि विकल्पस्य किं प्रयोजनमिति । तदपि न । प्रेक्षापूर्वकारी भवति सम्बन्धकर्त्ता । स चाज्ञातसामर्थ्यमभिनवं सम्बन्धं न करोति । नापि पूर्वसिद्धं सम्बन्धं करोति, पूर्वसिद्धस्य कृतिविषयत्वाभावात् । सिद्धसाधनत्वाच्च । घटादावप्येवमेव स्यादित्यपि न । तद्गतसामान्यस्य प्रसिद्धया व्यवहारसिद्धिः न चानयनादिसामान्ये न संघटत इति वाच्यम् । तदुपलक्षितव्यक्तौ तादृशव्यवहारस्य संघटितत्वात् । एतत्सर्वमभिप्रेत्य विवृतं भट्टपादेन—

यद्यपि ज्ञातसामर्थ्या व्यक्तिः कर्त्तुं न शक्यते।
क्रियते या न तस्याश्च शक्तिः कार्येऽवधारिता॥
तथाप्याकृतितः सिद्धा शक्तिरुत्पादनादिषु॥ इत्यादि।

आकृतिश्चानादिः। सम्बन्धश्चादिमान् भवति। यदि तत्रापि नित्यं सामान्यं स्वीक्रियेत चेत्तर्हि नास्मत्पक्षहानिः। तथा चोक्तम—'तथाप्यसमन्मतं सिद्धम्' इति। व्याख्यातञ्च न्यायरत्नाकरे—सामान्यमेव हि सर्वत्राव्यभिचाराच्छब्दार्थाव-गमोपायः स्यात्। तच्चापौरुषेयमिति सिद्धं नः समीहितम्। तथापि द्वयाकार-सम्भवाभावात् सम्बन्धविषये नायं पक्षोऽङ्गीकरोमि। अस्माकं पक्षे शब्दार्थयोः वाच्यवाचकभावसम्बन्ध एव तद्गतशक्तिरपीति। शक्तिसम्बन्धयोर्नास्ति कश्चन भेदः। अयं विशेषोऽन्यमतापेक्षयास्य मतस्य। तथा चोक्तं भट्टपादेन—

'शक्तिरेव हि सम्बन्धो भेदश्चास्या न विद्यते'। इति।

कथमुभयोर्भेदाभाव इति चेदुच्यते—तत्तत्कार्यानुमेया सा शक्तिर्भवति। तद्भेदादेव तत्रानुवर्त्तते भेदः। अतएवोक्तम्—

सा हि कार्यानुमेयत्वात्तद्भेदमनुवर्त्तते।

बोधकतारूपां शक्ति विना नार्थबोधोपपत्तिः। शब्दोच्चारणाव्यवहितोत्तरक्षणा-वच्छेदेन जायते बोधः। अतएव च तत्र शक्तिसद्भावकल्पना भवति। तथा चैकमेव शक्यार्थबोधे सिद्धे सति नानेकशक्तिकल्पना आवश्यकी। गोशब्दादीनामुच्चारणे तथा सम्बन्धाख्यानकाले केचित्तावत्सम्बन्धज्ञानपूर्वकमर्थज्ञानं कुर्वन्ति। केचिच्च सम्बन्धज्ञानपूर्वकमर्थज्ञानं सम्पादयन्ति यदि सम्बन्धस्य सत्तैव न स्वीक्रियते तर्हि केषाञ्चिदपि सम्बन्धज्ञानपूर्वकमर्थज्ञानं नोपपद्येत। तस्मात्सम्बन्धस्य सत्ता स्वीकार्यैव तथा च तस्याः नित्यत्वमेकत्वञ्च समुचितमेव। भेदज्ञानञ्च कार्यभेदा-दिति पूर्वमुक्तमेव। सम्बन्धस्य विद्यमानत्वेऽपि न समानरूपेण सर्वेषां बोधः। केषाञ्चिदगृहीतशक्तिकत्वात्। सम्बन्धस्य विद्यमानत्वेऽप्यगृहीतशक्तिकस्य पुरुष-स्यार्थप्रकाशकता न युक्ता। यतो हि ज्ञापकस्य ज्ञात्रपेक्षा भवत्येव। सम्बन्धोऽपि स्वात्मज्ञानमपेक्षते। अन्यथा बोधानुपपत्तेः। ज्ञातत्वमज्ञातत्वं वा पुरुषसापेक्षं भवति। पुरुषभेदान्न ज्ञातत्वाज्ञातत्वयोर्विरोधः। एवं पुरुषगतं ज्ञानं तदिरपुरुषगतेन ज्ञानेन न विरुणद्धि। एवमेवाज्ञानमपि पुरुषभेदान्न विरुध्यते। तथा चोक्तमपि—

ज्ञानं हि पुरुषाधारं तद्भेदान्न विरोत्स्यते।
पुरुषान्तरसंस्थञ्च नाज्ञानं तेन बाध्यते॥

बाध्यबाधकभावाय सामानाधिकरण्ये सति विरोधः आवश्यकः। यथा कुत्र-चिदेकोऽन्धस्तिष्ठति, तत्रैव चैकोऽनन्धोऽपि वर्त्तते। तत्रैव च शुक्लगुणविशिष्टं

किञ्चिद्वस्तु विद्यते। तद्वस्तु अनन्धेन प्रत्यक्षीक्रियतेऽन्धेन च न प्रत्यक्षीक्रियते। अर्थात् व्यक्तिभेदाद्वस्तुनः सदसत्त्वं भवति। तथापि वस्तुनिष्ठमसत्त्वं न भवति। तथैवात्रापि पुरुषसापेक्षं सत्त्वमसत्त्वं वा भवति तथापि वस्तुनि असत्त्वं वक्तुं न शक्यते । तदुक्तम्—'अन्धानन्धसमीपस्थः' इत्यादि । कैश्चिदग्रहणादसत्त्वमेव स्वीक्रियतामिति वचनं नोचितम्। यतो ह्यसतो वस्तुनः ग्रहणं निर्हेतुकं स्यात्। विद्यमानस्यापि पदार्थस्याग्रहणं भवति कुत्रचिद्। यथा चेन्द्रियस्य चक्षुरादेः तत्त-द्विषयग्रहणयोग्यतावलोक्यते। अतोऽन्धस्य चक्षुर्हीनत्वान्न भवति विषयग्रहणम्, तथैवात्रापि व्यवहारोपलम्भनमेव तत्सत्त्वे कारणम्। येषां तदस्ति तेषां भवति वस्तुग्रहणम्, येषाञ्च नास्ति तेषां वस्तुग्रहणमपि न भवति, अन्धवत्। ये खलु सम्बन्धानभिज्ञाः भवन्ति तेषामपि पूर्वपूर्वप्रसिद्धचा सम्बन्धज्ञानं जायत एव। एवं रीत्या अनादिपरम्परया सम्बन्धस्य नित्यत्वं प्रसिद्धचति। न सम्बन्धस्यादिमत्त्वं वक्तुं शक्यते। सम्बन्धविषयेऽयं विशेषः—प्रत्युच्चारणं सम्बन्धस्य भवति निवृत्तिः। पुनश्चोच्चारणे जायते प्रवृत्तिरिति। अर्थात् यदा यदा शब्दानां क्रियते उच्चारणम्, तदा तदा शब्दार्थयोरिव सम्बन्धस्याप्युपस्थितिर्भवति। अतएव शब्दस्य चेनार्थेन साकं भवति सम्बन्धस्तस्यैवार्थस्य प्रतीतिर्भवति। अयञ्चपक्षः भाष्ये वार्त्तिके वर्त्तते उपस्थापितः। भाष्ये यथा—'नैकेनोच्चारणप्रयत्नेन स्वार्थसम्बन्धः संव्यव-हारश्च शक्यते कर्त्तुम्' इति। वार्त्तिके च यथा—

**सर्वेषामनभिज्ञानां पूर्वपूर्वप्रसिद्धितः।**
**सिद्ध सम्बन्ध इत्येवं सम्बन्धादिर्न विद्यते ।।**

अनेन प्रकारेण पक्षो निराकृतः। शिष्यते जगदादिपक्षः। सोऽपि नैव समीचीनः। तत्रापि भाष्यकारेण पूर्वमेवोक्तम्—'केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह सम्बन्धं कृत्वा संव्यवहारार्थं वेदाः प्रणीताः'। इत्यादिना पूर्वपक्षयित्वा पुनश्च 'अपौरुषेय-त्वात्सम्बन्धस्य सिद्धम्' इत्यादि--वचनेन समाहितम्। महाप्रलयानङ्गीकारात् सृष्टिरेव न युज्यते। कथं सृष्टचादौ केनचिदुपदिष्ट इति कल्पना संघटेत। तस्मात्-सम्बन्धस्यानादित्वं सिद्धमेव। एतत्सर्वं वार्त्तिके महता प्रघट्टकेन निरूपितम्। एतावता सिद्धमिदं भवति यन्नप्रत्यक्षेण प्रमाणेन सम्बन्धस्यादित्वं प्रसाधयितुमलं कश्चिदिति। तथा चोक्तम्—

**प्रत्यक्षादावुपक्षीणे योऽनुमानेन डित्थवत्।**
**सम्बन्धित्वान्नियोक्तारं गवादावपि कल्पयेत्।।**

तदनन्तरमनुमानप्रमाणेनापि साधयितुं न शक्यत इत्येतदर्थमनुमानप्रमाणमुपस्थाप्य तत्साध्यता सम्बन्धस्य निराकरोति। तथाहि—अयं डित्थः डवित्थपुत्रत्वात्। 'दशमेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' इति न्यायेन डित्थोत्पत्यनन्तरं डवित्थेन तन्नाम-

कृतम् । 'अयं डित्थ' इति । पूर्वं डित्थशब्दस्य तेन पुत्रेण सह नासीत् कश्चन सम्बन्धः । तज्जन्मानन्तरं डवित्थकृतोऽयं सम्बन्ध इति निश्चितम् । स एव नियोक्ता तयोः सम्बन्धस्य । एवमेव गोशब्दादावपि नियोक्ता कल्पनीयः । गोशब्दस्य गोरूपार्थेन सह सम्बन्धस्य कर्त्ता कश्चन विद्यत एव । परन्तु नायं पक्षो विचारसहः । गवादिशब्दानां तदर्थेन सह यः सम्बन्धस्तस्य न विद्यते कश्चित्कर्त्ता । ज्ञानन्तु अस्मदादिव्यवहारेणैव जायते । 'गामानय' 'गां नय' इत्याद्युच्चार्यमाणे देवदत्तेन यज्ञदत्तः सास्नादिमन्तमर्थमानयति नयति वा । नयनानयनयोः क्रियाभेदेऽपि न तत्र पदार्थे भेदः । अतएव निश्चिनोति बालोऽस्यशब्दस्यानेनार्थेन सह विद्यते कश्चन सम्बन्धः । अनेन च प्रकारेण शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽपि गृहीतो भवति । तस्मान्न नियोक्तुः परिकल्पनमुचितमिति । पुनश्चास्यानुमानेन साधने सति सिद्धसाधनापत्तिर्दुर्वारा । न चैवमेव यज्ञदत्तादिपुत्रे देवदत्तादावपि सम्बन्धस्यानादिता परिकल्पनीयेति वाच्यम् । दृष्टप्रयोगस्य बलीयस्त्वात् । प्रत्यक्षेणानुमानस्य बाधात् । अयं भावः—देवदत्तजन्मानन्तरमेव यज्ञदत्तः तस्येदं नामाकरोत् । तेनैव च नाम्ना प्रचलति सर्वेषां व्यवहारः । अतः सर्वेषां प्रत्यक्षत्वान्नानादित्वं सम्भवम् । सम्बन्धविषये न्यायरत्नाकरेऽन्यथापि सिद्धसाधनत्वमुपपादितम् । तथाहि—देवदत्तादावपि शक्तिर्नित्यैव वर्त्तते । केवलन्तु तत्तत्प्रयोगस्यानित्यत्वम् । साम्प्रतिकजनव्यवहारविषयत्वात् । तस्य चानित्यत्वे शक्तावप्यनित्यत्वभ्रान्तिर्भवत्येव । इदमेव चानित्यत्वभ्रान्तौ विद्यते कारणम् । परमार्थतस्तु देवदत्तादावपि शक्तिर्नित्यैवेति वेदितव्यम् । अतोऽपि सिद्धसाधनता बोद्धव्या । प्रभाकरादिमतेऽपिशक्तेर्नित्यत्वमेव वर्त्तते । नियोगमात्रस्यानित्यत्वम् । तेनैव च शक्तावपि समुत्पद्यते भ्रमः । गवादिषु नियोगस्यानादित्वेन न भ्रमयोगः । अनादित्वञ्चानादिव्यवहारादेव सिद्ध्यति । येन येनापि पुरुषेण यत्र यत्र सम्बन्धो गृहीतस्तेन तेनापि तत्र तत्र पूर्वप्रयोक्तृनिष्ठसम्बन्धग्रहणदर्शनादेव । अनेनापि प्रकारेण सम्बन्धस्यानादित्वं सिद्ध्यति । अतवएवोक्तम्--

> यो यो गृहीतः सर्वस्मात् पूर्वं सम्बन्धदर्शनात् ।
> सिद्धः सम्बन्ध इत्येवं सम्बन्धादिर्न विद्यते ।। इत्यादि ।

यद्याप्तप्रणीतः पदपदार्थसम्बन्धः । तेनैव च वेदवाक्यानि विरचय्य धर्माधर्मबोधनाय वेदानां कृतं प्रणयनम् । एवं सति वेदवाक्यैः सह तस्य सम्बन्धकर्त्तुरपि स्मरणमवश्यमेव भवेत्, परन्तु वेदवाक्यादर्थज्ञानं कुर्वाणाः न स्मरन्ति सम्बन्धविधातारम् । अतोऽप्याप्तप्रणीतत्वाच्छब्दानां तदर्थानां तद्गतसम्बन्धानाञ्च प्रामाण्यं न स्वीकर्त्तव्यम् । अत्रैव च विषये दृष्टान्तरूपेण भाषितं भाष्यकारेण । 'न हि विस्मृते 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रस्य कर्त्तरि 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' इति किञ्चित्प्रतिपद्यते । अर्थात् शक्तिव्यवहारयोरेककर्त्तृकत्वे यथात्रोभयोः कर्त्तृत्व-

स्मरणमावश्यकम्, तथैवात्रापि सम्बन्धकर्त्तुः स्मरणमवश्यमेव भवेदित्यर्थः। यस्मान्नैवं भवति तस्मान्न पदपदार्थसम्बन्धानां कश्चित्कर्त्ता स्यादिति। यद्यपि सूत्रयोरेतयोरर्थज्ञानकाले न भवति पाणिनेः स्मरणम्, तथापि आदैचि वृद्धिसंज्ञा-कर्त्तृत्वेनादिभूतेऽऽदैचिवृद्धपरिभाषया व्यवहर्त्तृत्वेन च पाणिनेः स्मरणं भवत्येव। न चैवं 'सास्नादिमती गौः' इति शक्तिबोधकं किमपि प्रमाणं दृश्यते। सर्वेषां शब्दानां तदर्थानां तद्गतसम्बन्धानाञ्च शक्तिबोधकवाक्यकर्त्तृत्वमपि न सम्भवति। एवमपि यथाकथञ्चित् केनाप्युपदिष्टेन पाणिनिस्मरणाभावेऽपि तत्-संज्ञापरिभाषार्थज्ञानं सम्पद्येत तथापि धर्माय शब्दनियमः इत्यादि यदुक्तं तन्न तत्स्मरणाभावे समुपपद्येत। तथा चोक्तम्—

दृष्टार्थव्यवहारत्वाद् वृद्धयादौ सम्भवेदपि।
धर्माय नियमोऽत्रापि न विना पाणिनेर्भवेत्॥

अपि चाद्यतनेभ्यो गवादिशब्देभ्योऽन्येशब्दाः प्रागासन्। सम्बन्धकर्त्तृभिः तत्रैव सम्बन्धाः कृताः। तमनुसृत्यैवात्र काले प्रवर्त्तमानेषु गवादिशब्देषु सम्बन्धानुस्मरण-पूर्वकं जायते व्यवहार इत्यपि न। तत्र प्रमाणाभावात्। एतेभ्यः शब्देभ्योऽतिरिक्तः कश्चनसीत् शब्द इत्यत्र न किञ्चिदपि प्रमाणं पश्यामः। तस्माद्युक्तिप्रमाण-विरहितत्वान्नायं पक्षोऽपि विचारसहः। सम्प्रति प्रयुक्तानां गवादिशब्दानां व्यवहारे न किमपि वैशिष्टयं समवलोकयामः। 'इमे प्रसिद्धसम्बन्धाः शब्दाः, नेमे' इति। तस्माच्छब्दतदर्थतद्गतसम्बन्धानाञ्चानादित्वमेव युक्तिप्रमाणसिद्धम्। एतत्सर्वं शब्दाधिकरणाकृत्यधिकरणादौ स्पष्टं निरूपितं भट्टपादेन। तस्मात्-सम्बन्धानादित्वं वैदिकानां गवादीनाम्, न तु तद्विकृतिभूतानां गाव्यादीनामद्यत-नीयानाञ्च देवदत्तादिशब्दानाम्। अतएवोपसंहृतम्—'अतो वेदे सम्बन्धादिर्न विद्यते' इति।

अपि चाप्रसिद्धार्थैः शब्दैः सह सम्बन्धप्रतिपादनाय सम्बन्धकारस्य न भवत्युपायः। अपि तु शब्दार्थयोः प्रसिद्धयोरेव सम्बन्धप्रतिपादनाय वाक्यरचना सम्भवति। शब्दार्थयोः प्रसिद्धत्वात्सम्बन्धस्यापि प्रसिद्धिः स्यादेव। सम्बन्धं विना तयोरर्थप्रतिपादनाभावात्। पौनः पुन्येन वृद्धव्यवहार एवोपायभूतः सम्बन्धग्रहणे। व्यवहारस्य चानादित्वात्सम्बन्धस्याप्यनादित्वं सुस्पष्टमेव न च सम्बन्धाभावेऽपि हस्तादिसङ्केतेनार्थज्ञानं जायेतेति वाच्यम्। प्रसिद्धसम्बन्धानामेव शब्दानां हस्तादि-सङ्केतेनार्थप्रतिपादकत्वात्। सर्गादौ च व्यवहर्त्तृणामभावात्सम्बन्धादीनाञ्चा-प्रसिद्धत्वाद्धस्तचेष्टादयो नोपपद्यन्ते। ततश्च नार्थज्ञानं सम्भवति शब्दशब्दार्थ-तद्गतसम्बन्धज्ञानं विना। न चात्र वृद्धव्यवहारेण सम्बन्धग्रहणे प्रमाणाभावः। प्रमाणत्रयस्य विद्यमानत्वात्। तथाहि—वृद्धव्यवहाराच्छब्दानामर्थप्रतिपादकत्वं प्रत्यक्षेणैव प्रमाणेन ज्ञातं भवति। श्रोतुश्च तदर्थज्ञानमनुमानेन चेष्टया वा जायते।

शब्दार्थद्वयाश्रितां सम्बन्धानतिरिक्तां वाच्यवाचकभावरूपां शक्तिञ्चान्यथा-नुपपत्तिरूपार्थापत्त्या समुत्पद्यते। अतः प्रमाणात्रयाधीनमेव वाक्यार्थज्ञानमिति। तथा चोक्तं वार्त्तिके भट्टपादेन—

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया॥
अन्यथानुपपत्त्या च बुध्येच्छक्ति द्वयाश्रिताम्।
अर्थापत्त्यावबुध्यन्ते सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम्॥

न्यायरत्नाकरे चोपसंहृतम्—'तदेवमकृत्रिमः शब्दार्थयोः संज्ञासंज्ञिलक्षणः सम्बन्धः' इति। तस्मात्संज्ञासंज्ञिलक्षणस्य सम्बन्धस्यानादित्वं मन्तव्यमिति शम्।

# तंत्रालोक के अनुसार शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध एवं शास्त्र-प्रामाण्य

डॉ० (श्रीमती) कमला द्विवेदी

किसी भी लौकिक वस्तु एवं व्यवहार के शुद्ध अथवा अशुद्ध होने तथा शुद्धि-अशुद्धि के कारण विधेय और निषिद्ध होने के विषय में तीन मत हैं : प्रथम मत मुक्ति के प्रसंग में कुछ विशिष्ट क्रियाओं का विधान करता है, दूसरा मत उसका सर्वथा निषेध करता है तथा इन दोनों मतों से भिन्न तीसरा मत है जो अपने अनुयायियों को सब प्रकार से विधि-निषेध से परे रहने का उपदेश देता है। विधि को स्वीकार करने वाला प्रथम मत क्रमदर्शन का है जिसमें मुक्ति को क्रमिक माना गया है। निषेध का उपदेश देने वाला दूसरा मत कुल-दर्शन का है जो आत्मानभूति में किसी भी क्रम को नहीं मानता है। विधि और निषेध से परे रहने का उपदेश देने वाला तीसरा मत प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का है। सत्तर्कों पर आधारित होने तथा समन्वय की दृष्टि को पूर्णता प्रदान करने के कारण उपर्युक्त मतों में तीसरा मत ही तात्त्विक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है।

शुद्धि और अशुद्धि का विचार एवं व्यवहार एक संकुचित दृष्टिकोण है। इसका कारण वस्तु नहीं, अपितु प्रमाता है। यदि शुद्धता को वस्तु का धर्म माना जाता है तो उसे सदा शुद्ध ही रहना चाहिये और जब वस्तु स्वभावतः शुद्ध है तो उसके बारे में अशुद्धि के निवारण का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर यदि वस्तु का धर्म अशुद्धता का है तो उसे सदा अशुद्ध हो रहना चाहिये। क्योंकि स्वभावतः अशुद्ध वस्तु को किसी भी संस्कार से शुद्ध नहीं किया जा सकता।[1]

वस्तुओं को शुद्ध अथवा अशुद्ध मानने पर तीन दोष उत्पन्न होंगे। पृथ्वी को जल से और जल को पृथ्वी से शुद्ध मानने पर अन्योन्याश्रयता का दोष उत्पन्न होगा। अशुद्ध पृथ्वी आदि को अशुद्ध जल से शुद्धि मानने पर व्यर्थता का दोष उत्पन्न होगा क्योंकि दोनों ही समान रूप से अशुद्ध हैं। और यदि पृथ्वी को जल से, जल को वायु से, वायु को तेज से, तेज को आकाश आदि से शुद्ध मानते हैं तो अनवस्था दोष होगा। अतः वास्तव में किसी भी वस्तु को शुद्ध अथवा अशुद्ध नहीं कहा जा सकता है।[2]

---

१. प्रमाता हि व्यवस्यति इदं शुद्धमिदमशुद्धमिति

२. द्रष्टव्य—तन्त्रालोक, ४.२१३-२५

पृथ्वी आदि तत्त्वों में भी मन्त्रों की भाँति ही शिवात्मकता होने पर एक को अशुद्ध और दूसरे को शुद्ध मानने में क्या औचित्य है ? इस शंका का समाधान यह है कि मन्त्रों में मनन एवं त्राण धर्म होता है और उसकी उसी रूप में अनुभूति होती है किन्तु पृथ्वी आदि में ये धर्म नहीं होते हैं। इसलिए मन्त्र पृथ्वी आदि से विलक्षण हैं। वस्तुतः पृथ्वी आदि सभी भाव पदार्थ शुद्ध हैं। किन्तु उन्हें अपनी शुद्धता का परिज्ञान नहीं होता। उनकी शुद्धता का परिज्ञान योगियों को होता है।[1] शुद्धि और अशुद्धि के विचार को उचित मानने वाले आचार्य कहते हैं कि न केवल लोक-व्यवहार में यह भेद विद्यमान है अपितु धर्मशास्त्र स्वयं कुछ वस्तु एवं व्यवहार को शुद्ध तथा कुछ को अशुद्ध मानते हैं। अतः शुद्धि-अशुद्धि के विचार को उपर्युक्त तीन दोषों के उल्लेख द्वारा उपेक्षित करना उचित नहीं है। इस शंका के निवारण में उत्तरपक्ष का कहना है कि शास्त्र तो दोनों ही तथ्यों के लिए प्रमाण है। एक ओर उनमें शुद्धि-अशुद्धि के विचार का समर्थन मिलता है तो दूसरी ओर सभी वस्तुओं की शिवात्मकता का। अतः शुद्धि-अशुद्धि का यह प्रश्न वेद एवं आगम के प्रामाण्य के प्रश्न से जुड़ा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुद्धि और अशुद्धि का विचार एवं भेद दृष्टि तर्कसंगत नहीं है। शैवमतानुसार पारमार्थिक रूप में इस भेददृष्टि का कोई औचित्य नहीं है फिर भी इस बिन्दु के अनिवार्य विवेचन में यह कहा जा सकता है कि जो वस्तु संविद् के निकट है अथवा तदात्म है वह शुद्ध है तथा जो उससे दूर अथवा उसके स्वभाव से पतित है वह अशुद्ध है। दूसरे शब्दों में संविद् से भेद एवं अभेद के आधार पर अथवा उसके स्वभाव की तद्रूपता एवं अतद्रूपता के आधार पर ही शुद्धि और अशुद्धि का विभाजन मानना उचित है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि इस विभाजन का मूल-आधार वस्तुस्वभाव न होकर प्रमातृधर्म है। अर्थात् स्वयं वस्तु अपने आप में शुद्ध अथवा अशुद्ध नहीं होती बल्कि प्रमाता अपने संस्कार, ज्ञान के स्तरादि के भेदानुसार वस्तु को शुद्ध अथवा अशुद्ध रूप में देखता है। ऋषियों ने भी इसी नियमानुसार शुद्धि-अशुद्धि का विभाजन करते हुए लोक व्यवहार का निर्वाह किया था। वे शास्त्रों द्वारा निन्दित एवं लोक-विरुद्ध गोमांस का भक्षण संविद् से एकात्मता के आधार पर, उसे शुद्ध मानते हुए करते थे। उन्हीं ऋषियों ने साधारण लोगों के लिए मांस-भक्षण का निषेध केवल इसलिए किया है कि सामान्यजन उससे एकात्मता की अनुभूति किये बिना उसका उपभोग न करें।[2]

वैदिक मतानुयायी आगमों को अप्रामाणिक मानते हैं क्योंकि वे वेद-बाह्य हैं। दूसरी ओर आगम मतानुयायी वेदों को अप्रामाणिक मानते हैं क्योंकि वे आगम-

१. द्रष्टव्य—तन्त्रालोक, ४.२२८ २. द्रष्टव्य—तन्त्रालोक, ४.२४८-४४

बाह्य हैं। वैदिक कथनों से निश्चित ही आगम-वचनों का अनेकत्र विरोध है—इस पर आगम मतानुयायी कहते हैं कि जहाँ तक विरोध का प्रश्न है केवल इसी आधार पर किसी शास्त्र को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वयं वेद में भी एक स्थान पर कही गई बात का दूसरे स्थान पर कही गई बात से विरोध मिलता है। जैसे कि सामान्य नियम के रूप में हिंसा का निषेध किया जाता है तथा अन्यत्र अपवाद रूप में हिंसा का समर्थन। वास्तवं में किसी विधि का बाध दो प्रकार का होता है—कहीं समान-कार्यकारिता के कारण और कहीं विरोध के कारण। प्रथम का उदाहरण है—'चमसेनाप: प्रणयेत्' इसमें चमसी का सामान्य विधान किया गया है। इसका बाध 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' के द्वारा होता है। दूसरे का उदाहरण है—'अष्टाश्रिर्यूपो भवति'। इसमें यूप के अष्टाश्रि होने का सामान्य विधान है, किन्तु इसका बाध 'बाजपेयस्य चतुरश्र:' की अपवाद विधि में प्राप्त होता है। इस प्रकार जब सामान्य विधि का विशिष्ट विषय में अपवाद होना स्वयं वैदिक मानते हैं तब आगमोक्त विधि के द्वारा वैदिक विधि का अपवाद क्यों नहीं माना जा सकता।

मीमांसा दर्शन में अर्थवाद विधि-वाक्यों के अंग बनकर ही प्रमाण माने जाते, हैं उदाहरण के लिए 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस विधि-वाक्य का अंगभूत अर्थवाद वाक्य है 'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'। परन्तु शैवदर्शन में शैवागम का प्रत्येक वाक्य स्वतंत्र रूप से प्रमाण है, वह किसी का अङ्ग नहीं है। इस मत में अर्थवाद की न केवल स्वतंत्रता अपितु परतन्त्रता भी सत्य अर्थात् निरर्थक नहीं है। जैसे पद का अङ्ग होने पर भी परस्पर सन्निधि के कारण वर्णों की निरर्थकता नहीं मानी जाती। 'गज' पद में 'ग' एवं 'ज' इन दोनों की सन्निधि से बनने वाला 'गज' पद भी निरर्थक हो जायेगा, जबकि 'गज' पद सार्थक है। इस तरह अवयवों के निरर्थक होने पर अवयवी को भी निरर्थक मानना पड़ेगा। अर्थवाद विधि का अंग अथवा अवयव है। अत: अर्थवाद को भी सार्थक एवं सत्य ही माना जाना चाहिये। लोक-व्यवहार भी अर्थवाद के अनुसार ही चलता है। इस प्रकार मीमांसा-दर्शन की अर्थवाद सम्बन्धी मान्यता तर्क-सम्मत प्रतीत नहीं होती।[1]

वस्तुत: इस दर्शन का दृष्टिकोण यह है कि किसी भी शास्त्र को सर्वथा मिथ्या मानना उचित नहीं है क्योंकि विज्ञानरूप परमेश्वर न केवल उनका रचयिता है अपितु वह स्वयं शास्त्रों के रूप में विद्यमान है। शिव अपनी स्वतंत्र इच्छा के द्वारा ही जिस प्रकार भात्र पदार्थों के रूप में अवस्थित है उसी प्रकार वह

१. द्रष्टव्य—तन्त्रा०, ४.२३६-२३७

शब्दात्मक शास्त्र के रूप में भी विद्यमान है।[1] तथापि शैवमतानुयायी मुमुक्षु को विविध शास्त्रों को देखकर भ्रमित नहीं होना चाहिये। शास्त्रों की यह विविधता अधिकारी-भेद के कारण है।[2] परमेश्वर ने ही वेद आदि शास्त्रों का उपदेश संकोच एवं भेद के तारतम्य से किया है।[3] अतः जिस स्तर के अधिकारी के लिए जो शास्त्र उपदिष्ट है उसको उसी का आचरण करना चाहिये। परन्तु जहाँ तक शैवसाधक का प्रश्न है उसे केवल शैवागमों का ही अनुसरण करना चाहिये।[4]

---

१. द्रष्टव्य—तन्त्रा०, ४.२३५

२. भगवता हि पृथगधिकारिभेदेन परस्परविलक्षणानि शास्त्राण्युपदिष्टानि।
तंत्रालोक विवेक, ४.२५१

३. द्रष्टव्य—तन्त्रालोक, ४.२५२-५३

४. पाशवं ज्ञानमुज्झित्वा पतिशास्त्रं समाश्रयेत्।
—तन्त्रालोक विवेक, ४.२५३ में उद्धृत

# दिक्कालौ

—डॉ० बलिराम शुक्ल:

न्यायवैशेषिकदर्शनयोः दिक्कालौ जगतो निमित्तकारणे स्तः। जगत आश्रयत्वेनापि दिक्कालयोः प्रतिपादनं कृतं न्यायवैशिषिकदार्शनिकैः। यद्यपि न्यायसूत्रेषु स्पष्टतया कालपदार्थस्य सिद्धिः नैवोपलभ्यते परन्तु त्रिकालविषयत्वेनानुमानस्य प्रत्यक्षतो वैशिष्ट्यं प्रतिपादयता महर्षिणा त्र्यैकाल्यग्रहणादित्युक्तम्। त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते, भूता नदीपूरेण वृष्टिरनुमीयते, सैव भविष्यन्ती मेघोन्नत्या, धूमेन वर्तमानोऽग्निरिति। कालस्याभावे कस्य वर्तमानादि विभागो भवेत्। अत इदमनुमीयते यत्कालसद्भावः गौतमसम्मत इति।

एवमेव वैशेषिकदर्शनेऽपि कालस्य दिशश्च सप्रमाणत्वं स्थापितं दृश्यते "यत कालः परापर व्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गः। तेषां विषयेषु पूर्वप्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तौ—अन्यनिमित्तासंभवात् यदत्र निमित्तं स कालः। स गुणवत्वादनाश्रितत्वाच्च द्रव्यम्। कालद्रव्यास्वीकारे वर्तमानादिव्यवहाराः न भवितुं शक्याः। तथैव युगपदयुगपदादिव्यवहाराअपि न भवितुं शक्याः अतः एते सर्वेपि व्यवहाराः कालाधारेणैव प्रवर्तमाना दृश्यन्ते। तत्र नैयायिकानां नये अतीतादि व्यवहाराः सूर्यपरिस्पन्दादिक-विषयीकृत्यैव प्रवर्तिता भवन्ति। भिन्नयो र्वस्तुनोः पूर्वापरभावस्य निमित्तं सूर्यक्रियायाः न्यूनाधिक भाव एव।

परत्वापरत्वे द्विविधे स्तः कालिके दैशैके च। तत्र बहुतररविक्रियाविशिष्टशरीर ज्ञानात्कालिकपरत्वोत्पत्तिः तथा स्वल्पतररविक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानादपरत्वश्चोत्पत्तिर्जायते। परन्तु प्रश्नोऽयमत्रोत्पद्यते यद् रविक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानार्थं रविक्रियया सह शरीरस्य कश्चन सम्बन्धः स्वीकर्तव्यः नोचेत् रविक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानं न भवितुमर्हति। रविक्रियया सह शरीरस्य संयोगसम्बन्धः न भवितुं शक्यः द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात्। नापि समवायः अयुतासिद्धयोरेव समवाय इति नियमात्। रविक्रिया रविवृत्तिः न शरीरवृत्तिः अत एवानयोर्न समवायसम्बन्धः। नापि च स्वरूपसम्बन्धः रविक्रियायाः शरीरभिन्नत्वेन ग्रहणात्। अतः तत्र काल एव सम्बन्धघटकः कल्पनायः सः सर्वव्यापकः नित्यश्च।

केचित्तु कालस्य प्रत्यक्षगम्यत्वमेवाङ्गीकुर्वन्ति। यथा चोक्तम्।

**कालश्चैको विभुर्नित्यः प्रविभक्तोऽपि गम्यते।**
**वर्णवत् सर्वभावेषु व्यज्यते केनचित् क्वचित्॥**

अत्र पार्थसारथिः नतु नायं कालः स्वातन्त्र्येण गम्यते ततः किमस्य सद्भावे प्रमाणम् ? अत आह सर्वेति । भावेषु गृह्यमानेषु तद्विशेषणतया केनचित्पूर्वत्वेनापरत्वेन वा गृह्यते इदं पूर्वमिदमुत्तरं इति प्रत्ययः भावमात्रमनालम्बनः वस्त्वन्तरमवस्थापयति । स एव कालः ।

नैयायिकाः अरूपस्य कालस्य प्रत्यक्षत्वं नाङ्गीकुर्वन्ति । कालस्यानुमेयत्वमेव तेषां नये । दण्डी देवदत्तः इत्यत्र देवदत्तस्वरूपातिरिक्तो विषयः दण्डः यथा स्पष्टतया भासते तथा कालः अतिरिक्तया न स्पृष्टावभासते इति कालो न प्रत्यक्षगोचरः अपितु अनुमेयः यथाचोक्तम्—

अप्रत्यक्षमात्रेण न च कालस्य नास्तिता
युक्ता पृथिव्यधोभाग चन्द्रमा परभागवत् ।

चिरक्षिप्रादि संविदः कल्पनामात्रं न चिरेणकृतं क्षिप्रकृतमिति प्रत्ययभेददर्शनात् निमित्तान्तरं स्वीकर्तव्यम् । न देवदत्तादिक्रियालम्बनाः चलतीति प्रत्ययाः परिस्पन्देऽपि चिरेण गच्छति शीघ्रं धावतीति चिरक्षिप्रादि प्रतीतिर्दृश्यते । न सूर्यादिक्रियालम्बः चलतीत्यादि प्रत्ययाः चन्द्रादिग्रहपरिच्छेदोऽपि क्रयादिप्रतीतिदर्शनात ।

चिरेणास्तं गतो भानुः शीतांशुशीघ्रमुदगतः ।
उदिताविव दृश्येते युगपद् भौमभार्गवौ ॥

नैयायिकमते काल एव स्वपरनिर्वाहकः कार्येषु युगपदादिषु निमित्तान्तरकृतः क्रमादिव्यवहारः निमित्तान्तरे निमित्तान्तरं न मृग्यमिति । तस्मादस्ति युगपदादिव्यवहार हेतु कालः सचायं आकाशवत् सर्वत्र एक एव कालः वर्तमानादिः न तात्त्विकभेदः कालस्य । व्यवहारसिद्धये केनचिदुपाधिना कल्प्यते भेदः । सूर्यपरिस्पन्दादिकमेव कालोपाधिः ।

नैयायिकैः वैशेषिकैश्च परापर व्यवहारासाधारणकारणत्वेन दिक्कालयोः सिद्धिः कृताऽस्ति । दैशिकपरत्वापरत्वाभ्यां दिशः सिद्धिर्जायते । दूरत्वसमीपत्वे दैशिकपरत्वापरत्वे भवतः । तत्रेदमनुमानम्—अवधिसापेक्षबहुतरसंयोगविशिष्टशरीरज्ञानमिदं परत्वजनकं परम्परासम्बन्धघटकसापेक्षं साक्षात्सम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात् । लोहितस्फटिक इति ज्ञानवत् ।

यथा प्रयागात् काशीतो गया परा गयातः काशी अपरा । अत्राद्ये अवधिः काशी तदपेक्षया प्रयागावधिकबहुतरसंयोगवत्वं गयायाम् । द्वितीये अवधिः गया तदपेक्षया प्रयागावधिकाल्पतरसंयोगवत्वं काश्याम् । प्रयागप्रतियोगिकबहुतरसंयोगाः गयायां न सन्ति । नवा प्रयागसंयुक्तदेशीयाः । किन्तु प्रयागावधिकाः काश्यपेक्षया बहुतरा ये मध्यवर्तिदेशसंयोगास्तद्वत्वम्, तच्च न साक्षात् किन्तु तावत्

स्वसमवायि संयुक्तत्वरूपपरम्परयेति दिक् सिद्धिः ।

भासर्वज्ञमते दिक्कालयोरीश्वरेण गतार्थत्वम् । ईश्वरस्यैवेकस्येत्थं स्वभावः येन केषांचिदुत्पत्तौ साधारणनिमित्तं भवति केषांचिदसाधारणमिति । चिर-क्षिप्रादिप्रत्ययं प्रति एवं पूर्वपरादिप्रत्ययं प्रति तस्यैवासाधारणनिमित्तत्वम् । दिक्कालयोस्तु न सर्वकार्यनिमित्तत्वेऽस्ति प्रमाणम् ।

उपाधिभेदादपि कालभेदः न भवितुं शक्यः । युगपत्कृतमित्यत्रापि उपाधि-क्रियाभेदोऽस्त्येव किमर्थं तत्र अयुगपत्कृतमिति प्रत्ययो न भवति ।

भासर्वज्ञैः कालस्य क्रियारूपत्वमपि निराकृतम् । यथाचोक्तम्—न क्रियैव-कालः तद्विशेषणत्वात् परिमाणादिवत् । एवं कालस्य क्रियाविशेषणत्वेन परिमाणा-दिवत्प्रतिभासमानादनाश्रितत्वं तस्यासिद्धम् । असिद्धत्वाच्च तस्य द्रव्यत्व-मप्यसिद्धम् ।

एवमेव दिशोऽपि द्रव्यत्वं न भवितुं शक्यम् । मूर्तद्रव्यधर्मत्वात् दिशां दीर्घत्व ह्रस्वत्वादिवत् तद्विशिष्टानां प्रत्ययानां मूर्तेष्वेव भावात् । यद्युपादानाद्यभिज्ञस्य कालस्य दिशो च जगन्निमित्तत्वमिष्टम् । तदा महेश्वर एव नामान्तरेणोक्तः स्यात् ।

नव्यनैयायिकप्रवरेण दीधितिकारेणापि दिक्कालयोर्नेश्वरादतिरिक्तत्वं स्वीकृतम् । तस्य मते तत्तत्कालोपाधि दिगुपाधिविशिष्टेश्वरादेव क्षण-दिन-प्राची-प्रतीच्यादिव्यवहारोपपत्तिः ।

तत्रान्ये नव्यनैयायिकाः ईश्वरस्य दिक्कालरूपत्वं तत्तजीवस्यवेति विनिगमना विरहात्तयोरतिरिक्तत्वमेव स्वीकुर्वन्ति जीवस्य जगज्जनकत्वं परापर-जनकत्वञ्च कल्प्यम् । ईश्वरस्य क्लृप्तमिति लाघवमिति तु न समीचीनम् सम्बन्ध-घटकयोर्दिक्कालयोः जगज्जनकत्वाकल्पनात् दिक्कालोपाधीनामेव जगज्जनकत्व-कल्पनात् इति कार्यमात्रं प्रति ईश्वरीयकृतेरेव हेतुत्वे न क्लृप्तत्वात्, कर्तः कार्य-जनकत्वे मानाभावात् न ईश्वरस्य दिक्कालरूपत्वमिति ।

यद्यपि कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति ईश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वं स्वीकुर्वन्ति, तथापि कालिकसम्बन्धावच्छिन्नकार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित अधिकरण-विधयानिमित्तकारणत्वं ईश्वरे नास्ति । अद्य घटो भविष्यति श्वो घटो भविष्यती-त्यादि प्रत्ययास्तु जायन्ते परन्तु ईश्वरे घटोभविष्यतीत्यादि प्रत्ययाः न कस्यापि जायन्ते इत्यतः इदं स्पष्टतया सिद्धं भवति यदृष्टेश्वरयोर्नाधिकरणविधया कारणत्वम् । कालत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तित्वेन जातित्वाभावात् कालत्वस्य कालिक-सम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतारूपत्वमेव स्वीकार्यम् । एवं देशत्वस्यापि दैशिक-विशेषणतायाधिकरणतारूपत्वमेव वक्तव्यमित्यपि केचित् ।

अद्य घटो भविष्यति श्वपटो भविता इत्यादिप्रत्ययेन तत्तत् घटाधिकरणत्वेन कालोऽपि अस्य प्रत्ययस्य विषयो भवति। तत्तदुत्पत्त्यधिकरणत्वेनरूपेण यो व्यवहारविषयो भवति स तदुत्पत्तेर्हेतुर्भवति इति नियमः। यत्र यत्र तदुत्पत्तिहेतुत्वं तत्र तत्र तद्धेतुत्वम्। पूर्वोक्तरीत्या तत्तत्कार्यविशेषं प्रति तत्तत्कालविशेषस्य हेतुत्वं सिध्यति। सिद्धे च हेतुत्वे यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः तत्सामान्ययोरपि इति न्यायेन कार्यमात्रं प्रति कालस्य हेतुता सिध्यति। एवमेव चत्वरे अग्निर्भविष्यति इत्यादि प्रतीत्या देशस्यापि निमित्तकारणत्वं सिद्धं भवति।

एवमेव कालविशेषनियताम्रफलादौ कालविशेषस्य कारणत्वमवश्यं स्वीकार्यम्। यद्विशेषयोः न्यायेन कार्यसामान्ये कालस्य हेतुता सिद्धिरिति।

उपाधिभेदेन कालस्य महाकालखण्डकालभेदेन द्वैविध्यं भवति। खण्डकालमादायैव क्षणादिव्यवहारो भवति। एकस्य कालस्य किञ्चिद्धर्मविशिष्टस्य क्षणत्वं किञ्चिद्धर्मविशिष्टस्य दिनत्वम् तादृशोपाधीनामेव क्षणत्वादिव्यवहारविषयत्वं नतु महाकालस्येत्यपि द्रष्टव्यम्।

"कालः सर्ववान्" इति प्रतीत्यापि सर्वाधिकरणरूपत्वेन कालः सिध्यति। विनिगमनाविरहेणाकाशदिगात्मनामस्याः प्रतीतेर्विषयत्वं न भवितुं शक्यम्।

मर्तयो समानदेशताविरोधात् देशस्यापि पृथक् सत्वमवश्यमेव स्वीकरणीयम्। अन्यथा मूर्तयोः समानदेशत्वे न कोपि विरोधस्यादिति।

वेदान्तमते कालस्य देशस्य च पृथक् सत्ता नास्ति ब्रह्मणि एवानयोः अध्यारोपो जायते। अतः कालस्तु अविद्येव तस्या एव सर्वाधारत्वात्। क्षणादिव्यवहारा अविद्याजन्या एव। पारमार्थिकतत्वं क्रमाक्रमादिरहितमेव। अविद्यैव क्रमाक्रमभावेन विवर्तते। अविद्यायां निवृत्तायां समस्तकालप्रपञ्चो विलीयते।

सांख्ययोगयोः क्षणादिव्यवहाराः न तात्त्विकाः अपितु बुद्धयाकल्पिताः अतात्विका एव। परमाणुक्रियातः उत्तरदेशसंयोगस्य काल एव क्षणपदवाच्यः। तस्यैव निरन्तरप्रवाह एव महाकालाख्यां भजते। कालस्तु न पृथक् द्रव्यं वैशेषिकादिवत्।

काश्मीरीय शैवदर्शने तु कालस्य संवित् रूपत्वमेव स्वीकृतम्। ईश्वरेच्छाऽथवा देवस्य पराशक्तिरेव कालः। अतएवोक्तम कालरूपक्रियाशक्त्या क्षीरं परिणमेद् दधि !

वैष्णवानामहिर्बुध्न्यसंहितायां भूतिशक्तेः त्रीणि कारणानि प्रतिपादितानि सन्ति प्रकृतिः पुरुषः कालश्च। कालस्तु अव्यक्तरूपाशक्तिः। सूक्ष्मरूपेण अस्य प्रद्युम्नतत्वेन सह सम्बन्धः। स्थूलरूपेण तु क्षणादिरूपेणास्य व्यावहारिकत्वं।

न्यायवैशेषिकदर्शनयोः दिक्कालौ क्रियारहितावपि जन्यानां जनकौ स्तः।

आधुनिकपाश्चात्यदर्शनेषु] कान्टप्रभृतिभिः दार्शनिकैः दिक्कालविषये स्वमतानि उपस्थापितानि सन्ति। कान्टमते दिक्कालयोः वास्तविकरूपेणास्तित्वं नास्ति। तयोः वैज्ञानिकीरेव स्थितिः। अन्तर्ज्ञानरूपेण तयोः प्रतिभासाः जायन्ते। ब्रेडले-प्रभृतिभिः दार्शनिकैरपि देशकालयोः प्रातिभासिकत्वमेव स्वीकृतम्। तेषां मते देशकालौ प्रत्ययरूपेणैव भवतः तयोः स्वरूपतः स्थितिर्नास्ति।

नैयायिकानां मतमिदमालोचनीयमस्ति यद् दिक्कालयोः स्वरूपतः स्थिति-र्वर्तत इति। स्वरूपतः महाकालस्य नित्यस्य व्यापकस्य प्रतितिः कथं जायते ? व्यापकस्य महाकालस्य प्रत्ययः न कुत्रापि जायते। यदि प्रतीतिव्यवहाराभ्यामेव तयोः सिद्धिः क्रियते चेत् खण्डकालस्यैव सिद्धिर्भविष्यति न महाकालस्य। तस्य एकत्वे नित्यत्वे लाघवमिति लाघवज्ञानपुरस्कारेणैव तस्य नित्यत्वमेकत्वञ्च स्वीकुर्वन्ति वैशेषिकाः। परन्तु लाघवमात्रेणानुभूतानां क्षणादिभेदानामपलापः न कर्तुं शक्यः।

विज्ञानवादिवौद्धा अपि कालस्य वाध्यास्तित्वं नाङ्गीकुर्वन्ति तेषां मते क्षणिकविज्ञानसन्ततिरेव कालः।

जैनाः वैशेषिकवत् कालस्य द्रव्यत्वमेव स्वीकुर्वन्ति। तेषां मते पुद्गलधर्मा-धर्माकाशकालजीवभेदेन षट् द्रव्याणि भवन्ति। कालः पारमार्थिकव्यावहारिक-भेदेन द्विविधः। परिणाम, वर्तना, परत्वापरत्वाणि चत्वारि कालस्य धर्माः भवन्ति क्रियापरिकल्पितभेदनिबन्धनः कालः। तिथ्यादिभेदावधारणार्थमवश्यं स्वीकार्यः। तिथ्यादिभेदज्ञानं वैदिककर्मप्रयोगाङ्गम्। 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्यां यजेत्, अमावास्यायामावास्यायां यजेत्" इत्यत्र पौर्णमाया अमावास्यायाश्च वैदिक-कर्माङ्गत्वेन प्रतिपादनात्। वसन्तादिऋतुभेदोऽपि वैदिकयागाङ्गत्वेन प्रतिपा-दितः, वसन्ते ब्राह्मणोग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः वर्षासु रथकार इति।

तस्मादेतस्मात् कालः क्रियाभेदाद् भिद्यते। एतेन सदृशन्यायात् सर्वमिदंदिक् विषयेऽपि मन्तव्यम्। दिक्कालयोरेकत्वं व्यत्ययदर्शनादपि सिध्यति। यैवेकत्र पूर्वा दिक् सैवान्यत्र दक्षिणेति गृह्यते। प्राग्भागो यः सुराष्ट्राणां सैव मालवानां दक्षिणः। अमेरिकादेशीयानां कृते यः पूर्वभागः अस्माकं सैव प्रतीच्य भागः।

कालेऽपि चिरक्षिप्रादिव्यवहारोऽपि अव्यवस्थित एवानुभूयते। यः अनागत इति परिस्फुरति स एव वर्तमानो भवति स एव भूतो भवति। इति रीत्या भत-भविष्यवर्तमानादिभेदाः सूर्यक्रियया एव औपाधिका एव इति।

# मींमांसा-दर्शने आत्मतत्त्वविमर्शः

—डॉ० दामोदरशास्त्री

जगति सर्वे प्राणिनः सुखमिच्छन्ति, दुःखनिवृत्तये च चेष्टन्ते । निरतिशय-सुखरूपा निरतिशयदुःखनिवृत्तिरूपा वा यावस्था सैव मोक्षः । तदवस्थावाप्तिः संसारिजीवत्वहेतूनां विनाशानन्तरमेव सम्भवति । तत्सिद्धिश्चात्मानात्मविवेकं विना न सुकरेति निश्चप्रचम् । श्रुतिरपि पुत्रं मातेव मुमुक्षुजनान्सन्मार्गे प्रवर्तयितुं मोक्षसाधनीभूतमात्मसाक्षात्काराय योजयति—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृहदा०उप० २/४/६) इति । "तरति शोकमात्मवित्" (छान्दोग्यो-७/१/३) "तमेव एकं जानथ आत्मानम्" (मुण्डकोप० २/२/५ इत्यादि-श्रुतिवाक्यैरप्यात्मतत्त्वस्य मोक्षोपादेयत्वं जोघुष्यते ।

लोकेऽपि सर्वः प्राणी प्रत्यगात्मास्तित्वं प्रत्येत्यहमस्मीति । न हि कश्चिदपि नाहमस्मीति विप्रतिपद्यते । तस्मादात्मतत्त्वमसन्दिग्धम् । तथापि धर्मं प्रति विप्रतिपत्तयो बहुविधा इति विशेषप्रतिपत्तिरुपपद्यते । अत एव प्रमुखैर्भारतीयदर्शनै-रात्मतत्त्वस्य मोक्षावाप्ति-साधनभूततया तन्निरूपणं स्व-स्वसिद्धान्तभित्तीराश्रित्य व्यधायि ।

अस्मिन् शोध-निबन्धे पूर्वमीमांसा-दर्शनमधिकृत्य आत्मतत्त्वनिरूपणं विधास्यते । आत्मतत्त्वनिरूपणात् प्राक् पूर्वमीमांसा-दर्शनस्य भारतीयदर्शन-परम्परायां किं स्थानमिति संक्षिप्य विवेचनमपेक्षितमिति तदेव पूर्वं प्रस्तूयते --

## (१) मीमांसादर्शनस्य वैदिकत्वम्

### (अ) भारतीयदर्शनानां विभेदाः

चिरकालादेव जगति समनुभयमानस्य दुःखस्य निराकरणोपायमन्विष्यतां ज्ञानिनां चिन्तनपराणां बहूनामृषीणां पृथक्-पृथक् स्वात्मानुभूतय एव कालान्तरे विविधदर्शनरूपेण प्रथिताः ।

संक्षेपतो दार्शनिकविचार-धाराया द्विविधः प्रवाहोवगम्यते । यथा, (१) आस्तिक-परम्परा, अपरा (२) नास्तिकपरम्परा । आस्तिकपरम्परायां परलोक-पुनर्जन्मादिकं स्वीकृतम्, (नास्तिकपरम्परायान्तु परलोक-पुनर्जन्मादिकं नैवाभि-मतमिति तयोर्मौलिको भेदः (द्र० पाणिनिसूत्र—४/४/६०) ।

आस्तिकपरम्परायाश्च द्विविधः प्रवाहः । एकः (१) वैदिकपरम्परारूपः,

अपरश्च (१) श्रमणपरम्परारूपः। वैदिकपरम्परायां श्रुतिप्रामाण्यं स्वीक्रियते, श्रमणपरम्परायां तु न तथा। अर्हद्देवप्रणीतोपदेश एव तस्याः श्रद्धाविषयः। श्रमण-परम्परायां जैन-बौद्ध-दर्शने परिगण्येते, वैदिकपरम्परायां तु पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा-सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-माहेश्वर-पाणिनिप्रभृतिदर्शनानि परिगण्यन्ते।

## (आ) वैदिकपरम्परायां मीमांसादर्शनम्

वैदिकपरम्पराया अपि द्विविधः प्रसारः। एकस्तु श्रुतिप्रामाण्यवादी, श्रौतो वा, अपरस्तु श्रुति-प्रामण्याविरोधी तार्किको वा। श्रतिप्रमाण्याविरोधिनस्तार्किका यद्यपि श्रुतिं प्रमाणत्वेन स्वीकुर्वन्ति, तथापि श्रुतिप्रामाण्यापेक्षया तर्कस्यानुमानस्य वा मुख्यत्वं तेषामभिमतम्। अनुमानानुसारिणी सती श्रुतिः प्रमाणम्, तर्क एव मूलतत्त्वान्वेषणादौ साधनम्, तमन्तरेण मूलतत्त्वान्वेषणं कर्तुं दुरूहमिति तैरवधार्यते। न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योगप्रभृतीनि दर्शनानि श्रुतिप्रामाण्याविरोधिषु तार्किकेषु परिगण्यन्ते। न्यायसूत्राणि वैशषिकसूत्राणि सांख्यसूत्राणि, योग-(पातञ्जल)—सूत्राणि च श्रुतिप्रामाण्ये स्वश्रद्धां प्रकटयन्ति, तथापि तेषां श्रुतिप्रामाण्यापेक्षया तर्के सविशेष आदरः। श्रुतेरपि परतः प्रामाण्यमिच्छतां कणाद-गौतमकपिलप्रभृतीनां श्रुत्यनुमानयोर्विरोधे कदाचिदनुमानमप्याभासीभवेत्कदाचित्श्रुतिरपि नेया स्यादिति मतिः।

श्रुतिप्रामाण्यवादि-धारायां श्रुतिप्रमाणेन मूलतत्त्वमन्विष्यते। श्रुतिरेव मुख्यतया मूलतत्त्वान्वेषणादौ साधनम्। श्रुतिमन्तरेण मूलतत्त्वादिनिर्णयं दुर्लभं मन्वानानि श्रुत्येकशरणानि श्रौतानि दर्शनानि श्रुतिप्रामाण्यवादीनि कथ्यन्ते। जगत्कारणादयोऽतिपरोक्षाः पदार्थाः श्रुत्यनुसारेणैव तैर्निश्चीयन्ते। श्रुतिविरुद्धार्थोनुमानेन केनचित्साधितश्चेत्तदनुमानं न प्रमाणं, किन्तु प्रमाणाभास एव तैः स्वीकृतम्। श्रुतिप्रतिपादितस्यापाततो विरुद्धस्य अलीकतया भासमानस्यापि तैः सत्यत्वं स्वीक्रियते। श्रौतानां मते श्रुतिस्तु स्वतः प्रमाणम्, न तथा परतः प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तस्तार्किका मन्वते।

तत्र श्रुतिप्रामाण्यवादीनि दर्शनान्यपि द्विविधत्वं भजन्ते। एकं कर्मकाण्डवादी, अपरञ्च ज्ञानकाण्डवादी दर्शनम्। श्रुतेर्मुख्यतः प्रतिपाद्यो विषयः कर्मैव, ज्ञानकाण्डं तदङ्गतयोपयुज्यत इति कर्मकाण्डवादिनो मीमांसकाः (जैमिनीयाः)। ज्ञानकाण्डवादिनस्तु वेदान्तिनः पाणिनीयाश्च ज्ञानकाण्डमेव मुख्यतः श्रुतेः प्रतिपाद्यं मन्वते। प्राणिनां सन्मार्गे प्रज्ञा सम्पादनमेव हि श्रुतेर्मुख्यम् उद्देश्यम्। कर्मणा शुद्धचित्ता एवं ज्ञानमार्गेऽधिकारिणो भवन्ति-इत्यतः कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डस्याङ्गभूतम्। एवं पूर्वमीमांसा-पाणिनीयं व्याकरणं-ब्रह्मसूत्रादिकञ्च श्रुतिप्रामाण्यवादिषु परिगण्यते।

## (२) मीमांसा-दर्शने आत्मा

मीमांसकाः शरीरेन्द्रियादिभिन्नं जीवात्मानं स्वीकुर्वन्ति। अयमात्मा मृत्युलोकात्प्रेत्य स्वर्गलोकादिकं गच्छति, मुक्तश्च भवति । आत्मा नित्यः, विभुः अविनाशी भोक्ता च वर्ण्यते । देशकालपरिच्छिन्नः प्रतिशरीरं च पृथक् पृथगात्मा तिष्ठति। एवं जीवात्मनां नानात्वमभ्युपेतम् । अत एकस्यात्मनो मुक्तेऽप्यन्येषां बन्धदशापन्नत्वं संगच्छते । आत्मा जडस्वरूपः, ज्ञानकर्मकत्वाद् बोधस्वरूपश्चास्ति। यद्यप्यात्मनि ज्ञानस्योदयोस्ति, परं स्वप्नावस्थायां तु विषयाभावे ज्ञानस्याप्यभावो जायते।

भाट्टमते आत्मा अहं-प्रत्ययगम्यः, सर्वेषां पदार्थानां ज्ञापकश्च वर्तते। प्रभाकरस्त्वात्मनो मानसप्रत्यक्षविषयत्वं नाभ्युपगच्छति। कर्तुः कर्मत्वासम्भवात् (परसमवेतक्रियाफलशालि हि कर्म इति तन्मते कर्म-लक्षणस्वीकारादात्मनो ज्ञानकर्तृत्वाभावात्) तथा चार्थान्तरविषये आत्मा कर्ततया प्रकाशते । ज्ञानं घटादिकं प्रकाशयदात्मानपि प्रकाशयति, न हि ज्ञातृशून्यं कदाचिदपि ज्ञेयमवभाति।[१]

### (अ) मुक्तात्मविमर्शः

"परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्" (ब्र० सू० ४/३/५/१२) इतिवेदान्तदर्शनसूत्रे देवयान-मार्गेण ब्रह्मलोकगमनस्य प्रसङ्गे कार्यब्रह्मलोकस्य गन्तव्यत्वं सिद्धान्तरूपेण प्रतिपादयता बादरायणेन पूर्वपक्षो दर्शितः। अतः स्पष्टं लक्ष्यते यज्जैमिनिर्देवयानमार्गेण परब्रह्मप्राप्तिं मनुते[२], बादरायणिस्तु देवयानमार्गेण कार्यब्रह्म-प्राप्तिमिति भेदः।

जैमिनिमते परब्रह्मप्राप्तिः शरीररहितस्य मुक्तात्मनः स्वीकृता। ब्रह्मलोके आत्मा सर्वज्ञत्व-सत्यकामत्व-सत्संकल्पत्व-ऐश्वर्यादिमद्ब्रह्मरूपेणावतिष्ठते।[३] य आत्मापहतपाप्मा······सत्यकामः सत्यसंकल्पः[४], तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति,[५] स तत्र पर्येति[६] इत्यादिश्रुतिवाक्यान्यपि प्रोक्तमतं पुष्णन्ति।

### (आ) मोक्षप्राप्तिप्रक्रिया (भाट्टमते)

इष्टपश्वादीनां देवादिशरीरप्राप्तिहेतुकानां काम्यकर्मणां, नारक्यादिशरीरप्राप्तिहेतुकानां प्रतिषिद्धकर्मणां चानारम्भाद् भाविधर्माधर्माणामनुत्पत्तेस्तज्जन्यसुखदुःखादीनामपि सम्भावना निर्मूला भवति। नित्यनैमित्तिकानां सन्ध्यावन्दनश्राद्धादीनां सम्यगनुष्ठानात् प्रत्यवायरूप-पापोत्पत्तिं समुन्मीलयतः, पूर्वदुरितक्षयं विदधतः, साम्प्रतदेहोपभोग्यकर्म क्षपयतश्च पुरुषस्य त्रिविध-प्रपञ्चसम्बन्धराहित्येन स्वरूपेणावस्थानलक्षणो मोक्षः सेत्स्यतीति भाट्टाः।[७]

### (इ) मोक्षावाप्तिप्रक्रिया (प्राभाकरमते)

यः खलु सांसारिकेभ्यो दुःखेभ्य उद्विग्नः, तदनुषंगबलेभ्यश्च सुखेभ्योपि विगतस्पृहो मोक्षायोत्तिष्ठते, स तावद् बन्धहेतुभ्यो निषिद्धेभ्यः प्रत्यवायहेतुभ्यः काम्येभ्योऽभ्युदयसाधनेभ्यश्च निवर्तमानः, समुत्पन्नपूर्वो धर्माधर्मो भोगेन क्षयं नयन् शम-दम-ब्रह्मचर्याद्यङ्गोपबृंहितेनात्मज्ञानेन "न स पुनरावर्तते" (छान्दोग्योप० अ० ८) इत्यपुनरावृत्तये चोदितेन निःशेषकर्माशयं नाशयन् मुच्यते।[८]

एवं सिद्धयति यद् भाट्टैस्तावत्कर्मफलानामुपभोगादेव धर्माधर्मयोर्विनाशोभ्युपेतः, प्रभाकरमहोदयैस्तु धर्माधर्मयोर्विनाशे उपभोगेन सहैव शमदम-ब्रह्मचर्यादि-योगाङ्गानां परिपालनादधिगतमात्मज्ञानमप्यावश्यकमिति स्वीक्रियते।

### (ई) मुक्तिसाधनत्वं ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य

वेदान्तिन आत्मज्ञानादेव मोक्ष इति मन्वते। मीमांसकास्त्वात्मज्ञानस्य नित्यनैमित्तिककर्मणां च समप्राधान्येन निःश्रेयसफलकत्वं स्वीकुर्वन्ति। तत्रात्मज्ञानं द्विविधम्। आद्यं देहाद्विवेकज्ञानम्—"अविनाशी वा अरे अयमात्मा" इत्यादि-श्रुतिमूलकम्। अपरन्तु "अथात्मानमुपासीत" इति प्राणायामाद्यङ्गोपेतमुपासनात्मकं ज्ञानम्।

भाट्टमतस्य निरसनं शङ्करेण कृतमिति ब्रह्मसूत्रस्य (४/३/५) शाङ्कर-भाष्यपर्यालोचनया प्रतीयते—

"यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते, नित्यानि नैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्पत्तये, काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये, साम्प्रत-देहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षप्यन्ते-इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसन्धानकारणाभावात्स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मैक्यमेवंवृत्तस्य सेत्स्यतीति। तदसत्। प्रमाणाभावात्। न ह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थं समाचरेदिति। स्वमनीषया त्वेतत्तर्कितं, यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भविष्यतीति। न चैतत्तर्कयितुमपि शक्यते निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वाद्।"

तत्राद्यं तु परलोकसाधनेषु दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमप्रभृतिकर्मसु प्रवृत्तिहेतुः।[९] अपरस्योपासनात्मकज्ञानस्य कर्मणि पुरुषे च दृष्टप्रयोजनाभावाददृष्टापेक्षायां श्रुत्याद्यभावेन क्रत्वर्थत्वाभावाद् वाक्यशेषोपनीताभ्युदय-निःश्रेयसफलकत्वं वरीवर्ति। मुक्तिसाधनप्रसङ्गे द्वितीयप्रकार एवाभिप्रेत इति।

एवं ज्ञानकर्मणोः परस्परमङ्गाङ्गित्वभावः, किं वा मुख्यगौणत्वभावो बाध्य-बाधकभावो वा नैव मीमांसकानामभिप्रेतः। उक्तं च तन्त्रवार्तिके—

नन नि:श्रेयसं ज्ञानाद् बन्धहेतोर्न कर्मणः।
नैकस्मादपि तत्किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयात्॥
नित्यनैमित्तिकयोरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्॥
वैराग्यात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।
न च ज्ञानविधानेन कर्मसम्बन्धवारणम्॥

लोगाक्षिभास्कर-आपदेवप्रभृतिभिस्तु गीताप्रामाण्यमनुसृत्येश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्य कर्मणो मोक्षहेतुत्वं स्वीकृतम्। एभिरपि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" (गीता ४।३७) इति ज्ञानस्य, "यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्" (गीता ९।२७)। इति ईश्वरार्पितकर्मणश्च मोक्षे हेतुत्वाभ्युपगमाज्ज्ञानकर्मसमुच्चय एवाभिप्रेत इति विद्मः।

(उ) मोक्षस्वरूपम् (प्राभाकरमते)

भव-परम्पराप्राप्तस्य कर्मणोल्पीयसो भोगात् क्षये, शमदमादिभिस्तु निःशेष-कर्मक्षये सति निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धन आत्यन्तिको देहोच्छेदो मोक्षः प्राप्यते। धर्माधर्मवशीकृतो हि जीवस्तासु तासु योनिषु संसरति। स तयोरेकान्तोच्छेदे व्यपगतदेहेन्द्रियसम्बन्धः समुत्खातनिखिलसांसारिकदुःखानुबन्धो मुक्त इत्युच्यते। एवं देहोच्छेदो मोक्ष इति सिद्धयति।"

(ऊ) मोक्षस्वरूपं भाट्टमते

प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः। तत्र पुरुषपदाभिधेयात्मनो बन्धरूपः शरीरादि-प्रपञ्चस्त्रिविधः। यथा (१) भोगायतनं शरीरम्, (२) भोगसाधनानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, अन्तरिन्द्रियं मनश्च, (३) भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग-शब्देन पुरुषसुख-दुःखसाक्षात्कारोभिधेयः। तथा चैतत्त्रिविधस्यापि बन्धस्य समुच्छेदो मोक्ष इति भाट्टाः।

(ए) मुक्तजीवस्थितिः

भाट्टमते सर्वविधबन्धे निर्मूले, ज्ञानसुखदुःखानुभव-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-धर्म-संस्कारै रहित-आत्मा स्वस्वरूपेण ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादिसम्पन्नस्तिष्ठति। मुक्तावस्थायामात्मा शरीरेन्द्रियादिरहितः स्वरूपेण तिष्ठति। यद्यपि स ज्ञानशक्ति-युक्तः", तथापि तस्यात्मज्ञानं सुखाद्यनुभवश्च न भवतः" इति भाट्ट-वार्तिक—शास्त्रदीपिकादिग्रन्थपर्यालोचनेन स्पष्टमवगम्यते।

प्राभाकरा अपि आत्म-विशेषगुणोच्छेदे सत्तामात्रमेव मुक्तस्तिष्ठतीति प्रतिपादयन्ति।

## (ऐ) मोक्षे सुखमभिव्यज्यते न वा

मोक्षाध्वनीनामस्ति सार्थद्वयी, केचिन्मोक्षं भावात्मकं मन्वते, अपरे त्वभावात्मकमाचक्षते। तत्र प्रथमपक्षे सालोक्य-सारूप्य-सायुज्यप्रकारा विद्वद्भिरभिमताः सन्ति। द्वितीयपक्षेपि केषांचिन्मते दुःखप्रागभावरूपः, अन्येषां मते दुःखात्यन्ताभावरूपः, अपरेषां मते निखिलदुःखध्वंसरूपो मोक्षः। उभयोः पक्षयोः श्रुतिप्राणाण्यं संजाघटीति—

यथा "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति", "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्", "तरति शोकमात्मविद्", "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः", इत्यादिबहुश्रुतिवाक्यानि संदृश्यन्ते।

मीमांसकेषु प्राभाकरा बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदे मुक्तात्मनो निरानन्दावस्थामेव स्वीकुर्वन्ति। गागाभट्टापरनामधेयेन नारायणभट्टवंशीयेन विश्वेश्वरसूरिणा भाट्टचिन्तामणौ मोक्षविचारप्रकरणे "आत्यन्तिकदुःखप्रागभावमेवापवर्गमाचक्षते गुरुमतमर्मज्ञाः," इत्युल्लिखितम्। नव्यप्राभाकरेण प्रकरणपञ्चिकाकारेण श्रीशालिकानाथेनापि प्रोक्तमतमेवाभिप्रेतमिति सुस्पष्टम् प्रतिपादितम्।

भाट्टेषु शास्त्रदीपिकाकारादीनां च मते आत्मवैशेषिकगुणोच्छेदरूपमेव मोक्षतत्त्वम्। आनन्दावाप्तिमतस्य स्पष्टमेव निरसनं च शास्त्रदीपिकायां कृतं दृश्यते।

किन्तु भाट्टसम्प्रदाये कैश्चिदाचार्यैर्मुक्तौ नित्यसुखं स्वीक्रियते। मानमेयोदयकारादीनां नारायणभट्टप्रभृतीनां मते निरतिशयनित्यानन्दाभिव्यक्तिलक्षणो मोक्षः स्वीकृतः।[१]

मोक्षे नित्यसुखं स्वीकुर्वतो भाट्टानेवोद्दिश्य सर्वदर्शनसंग्रहकारेण माधवाचार्येणोक्तम्—"नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति भट्टसर्वज्ञाद्यभिमतेऽपि दुःखनिवृत्तिरभिमतैव" इति।[१]

दुःखात्यन्ताभावरूपे मोक्षे सुखप्रतीतिः प्रकारान्तरेण निरूपयितुं शक्यते।[१] लोके भारापगमे "सुखी संवृत्तोहम्" इति प्रतीतिर्दृश्यते, तथैव दुःखात्यन्ताभावरूपे मोक्षे सुखप्रतीतिः।

## (ओ) आत्मनो यज्ञेन स्वर्ग-प्राप्तिः

"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इति वैदिकविधिवाक्यं जीवात्मनः स्वर्गप्राप्तिं, यज्ञानां तदुपायभतत्वं च सङ्केतयति। तत्र कः स्वर्गः इति विचारोऽत्र प्रासङ्गिकः।

## स्वर्गस्वरूपम्

उक्तविधिवाक्ये पठितस्य स्वर्गशब्दस्याभिधेयत्वविचारणायां शाबरभाष्ये

स्वर्गकामाधिकरणे "स्थानविशेषे स्वर्गशब्दो विशिष्टदेशे लोके प्रसिद्धः" इत्याशङ्क्य निरतिशयप्रीतिविशेषवाचित्वं" सिद्धान्तितम् ।

### भट्टमतम्

"स्वर्गशब्दो नक्षत्रदेशः" वैदिकप्रवादपौराणिकयाज्ञिकदर्शनेनोच्यते । तथाहि-वेदे "ये हि पुण्यकृतो जनाः स्वर्गं लोकं यान्ति, तेषामेतानि नक्षत्राणि ज्योतींषि । यथैष ज्योतिरिमं लोकं जयति" इति प्रोक्तम् । यदि वेतिहासपुराणोपपन्नं मेरुपृष्ठमितिमतान्तरेण स्वर्गपदार्थमुपवर्ण्य, अथवान्वयव्यतिरेकाभ्यां विभवतं केवलमेव सुखं यत्सम्वत्सरादिष्वनुभूयमानं दुःखसाधनशीतोष्णक्षुत्पिपासादिसमस्तद्वन्द्वरहितमिति निरतिशयप्रीतिविशेषमेव स्वर्गपदाभिधेयं कुमारिलभट्टाः स्वीकुर्वन्ति ।

### स्वर्गयागयोः साध्यसाधनभावः

"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इति विधिवाक्येन ज्योतिष्टोमयागस्य स्वर्गसाधनत्वं स्फुटमेव । अत्र भावनावाक्यार्थवादिनां भाट्टानां मते समभिव्याहारापरपर्यायवाक्यगम्यः स्वर्गयागयोः साध्य-साधनभावः, तथा च पार्थसारथिमिश्रेणोक्तम्—न हि तत्र स्वर्गकामस्य यागस्य वा साध्यत्वं साधनत्वं वा केनचिदुक्तम् । पदद्वयसभिव्याहारादेव तु सम्बन्धे कल्पयितव्ये "असाधकन्तु तादर्थ्याद्" इति न्यायेन कामिनः प्राधान्यम् यागस्य च गुणत्वं कल्प्यत इति ।

प्रभाकरमते तु स्वर्गयागयोः साध्यसाधनभावो हि न श्रुत्यादिप्रमाणगम्यः, अपि त्वौपादानिक इति । इष्टसाधनतावाक्यार्थवादिनो मण्डनमिश्रस्य मते तु स्वर्गयागयोः साध्यसाधनभावः श्रौतः ।[१७]

यागस्य फलदातृत्वसिद्धावपि, अचिरस्थायिनोऽस्य देशान्तरकालान्तरभाविस्वर्गरूपफलारम्भकता कथं संजायटीति—इति प्रश्नो मीमांसकानां समक्षे समुपस्थितः ।

इमं प्रश्नं समाधातुं तैरपूर्वनामकः पदार्थः कल्पितः । अयमपूर्वसंज्ञकः पदार्थो यागादिक्रियाजनितः स्वर्गफलारम्भको भवति ।[१८] अपूर्वपदार्थस्वरूपे भाट्टानां मीमांसकानां न किंचिद्वैमत्यम्-तस्य वाच्यत्वप्राधान्यांशे तु विवादोऽस्त्येव ।

### देवतायाः स्वर्गफलदातृत्वनिरासः

मीमांसकानां मते वेदमन्त्रेभ्यो देवानां पृथक्सत्ता निषिद्धा ।[१९] कर्मणस्तत्प्रतिपादकवचनेभ्योतिरिक्तो न कश्चिद् देव ईश्वरो वास्ति-इति मीमांसकानां मतम् । निरुक्तेऽपि प्रोक्तम् "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" ।[२०] यदर्थवस्तु कामयमानेन ऋषिणा, यस्यां देवतायां स्तुतायां तस्या देवतायाः प्रसादेनास्यार्थजातस्य स्वामी भविष्यामि इत्येतां

बुद्धि प्रधार्य स्तुतिः क्रियते तद्देवतैव तन्मन्त्रस्य भवति। शाबरभाष्ये देवतानां विग्रहवत्त्वं पूर्वपक्षेनोपस्थाप्य तन्निरासः कृतः।[२१] शरीराणि, हविर्भोगः, ऐश्वर्यम्, प्रसन्नता, स्वर्गफलदातृत्वमित्येतद्विग्रहपञ्चकं तत्र[२२] तत्र निरस्तम्। देवताख्यं साधनं चेतनावदिवोपचर्यमाणं सम्बुद्धिशब्देनामन्त्र्यते। कश्चिदपि देव उद्दिश्यमान-द्रव्यादीनामुपभोगं कुर्वन्न दृश्यते।

एवं देवानां स्वर्गादिफलदातृत्वं च मीमांसकैर्न स्वीक्रियते। देवानां स्वर्ग-फलदातृत्वं स्वीकुर्वतां मते, "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" इत्यनेन सिद्धं भवति यद् हविर्दानेन गुणवचनैश्च देवताराध्यते, सा प्रीता सती फलं प्रयच्छति इति। शाबरभाष्ये विस्तरेण देवतानां स्वर्गादिफलदातृत्वस्य निरासः कृतः। तन्मते यागे गुणभूताया देवताया दातृत्वं स्तुत्योच्यते। यथामात्येन मे ग्रामो दत्तः, सेना-पतिना मे ग्रामो दत्त इति, न चामात्यः सेनापतिर्वा ग्रामस्य दाने प्रभवति, राजैव प्रभवति। इतरस्मिन्गुणभूते स्तुत्या दातृत्ववादः।[२३] यद्यपि देवतार्थता[२४] यागस्य गम्यते, फलार्थतापि तत्र न प्रतिषिध्यते। फलं च पुरुषार्थः, पुरुषार्था च नः प्रवृत्तिः। न चासौ देवतायाः। तस्मान्न देवताप्रयुक्ताः प्रवर्तिष्यामहे। या तु संप्रदानस्याभि-प्रेतता, सा फलवतो यजेः साधनत्वे सत्युपपद्यते। न च देवता फलेन सम्बध्नाति, या तदर्थं परिचर्येत।[२५]

एवं मीमांसकाः आत्मनः स्वर्गप्राप्त्युपायं मोक्षप्राप्त्युपायं च विवृण्वन्तो विशिष्टं दार्शनिक-चिन्तनं व्यदधुरिति भारतीयदार्शनिकपरम्परायां तेषां महनीयं योगदानं वरीवर्तीति निश्चप्रचम्।

### सन्दर्भ-स्थलानि


१. बुद्धीन्द्रिय-शरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः।
नानाभूतः प्रतिक्षेपमर्थवित्तिषु भासते॥

(प्रकरणपञ्चिका, अष्टमप्रकरणम्; २।२१३)

२. भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् (ब्र० सू० ४।४।५।११)।

३. ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः (ब्र० सू० ४।४।३।५)।

४. छान्दोग्योप० ८।७।१

५. छान्दोग्योप० ७।२५-२

६. छान्दोग्योप० ८।१२।३,

७. मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यावायजिहासया॥

(मी० श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार—११०)

८. प्रकरणपञ्चिका, पृ० ३४१

९. आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम् ।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते ॥
(श्लोकवार्तिकम्, सं० आ० परि १०३)

१०. गीता—९।२७

११. प्रकरणपञ्चिका, पृ० ३४१,

१२. यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते (शास्त्रदीपिका)।

१३. तस्माद् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः (शास्त्रदीपिका, पृ० १२५-३०)।

१४. दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः ।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः ॥
(मानमेयोदयः, प्रमेयप्रकरणम्)

१५. सर्वदर्शन-संग्रहः, अक्षपाददर्शनप्रकरणम् ।

१६. न च मोक्षस्यापुरुषार्थता, सासांरिकविविधदुःखोपरमत्वान्मोक्षस्य। दुःखोपरमो हि पुरुषैरर्थ्यते। (प्रकरणपञ्चिका, तत्त्वालोकप्रकरणम)

१७. द्र० प्रकरणपञ्चिका, (श्रीसुब्रह्मण्यशास्त्रिकृत टिप्पणी, पृ० ४३६-३७)

१८. फलाय विहितं कर्म, क्षणिकं चिरभाविने ।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येतदपूर्वमपि कल्प्यते ॥
(प्रशस्तपादभाष्यस्य गुणनिरूपणान्तर्गतधर्मनिरूपणप्रकरणे न्यायकन्दली-टीका पृ० ६६२)

क्रिया हि क्षणिकत्वेन न कालान्तरभाविनः ।
स्वर्गादेः काम्यमानस्य समर्था जननं प्रति ॥
इष्टस्याजनिका सा च नियोज्येन फलार्थिना ।
कार्यत्वेन न सम्बन्धमर्हति क्षणभङ्गिनी ॥
तस्मान्नियोज्यसम्बन्धसमर्थं विधिवाचिभिः ।
कार्यं कालान्तरस्थायि क्रियातो भिन्नमुच्यते ॥
(प्रकरणपञ्चिका, मूलश्लोकसंख्या—२७४-७६)।

१९. शब्दमात्रं देवता (भाट्टादीपिका)।

२०. निरुक्तम् ७।१।१

२१. मीमांसादर्शनम्, शाबरभाष्यम् ६।१।४।६-९

२२. विग्रहो हविषां भोग, ऐश्वर्यं च प्रसन्नता। फलदातृत्वमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम् ॥

२३. मीमांसादर्शनम्—८।१।१७।३४ शाबरभाष्यम्,

२४. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—इत्यतो देवतासंप्रदानको द्रव्यत्यागो द्रव्ययज्ञः इति सिद्धयति। संप्रदानं च नाम कर्मणोभीप्सिततमादभिप्रेततरं भवति, तस्मादग्न्यर्थो यागः, इति समायाति।

२५. मीमांसादर्शनम्, ६।१।४।६, शाबरभाष्यम्।

——:०:——

# पूर्वमीमांसा का 'नियम' एवं वैयाकरणों के 'परिभाषासूत्र'

—डॉ० वसन्तकुमार म० भट्ट

**भूमिका**—पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' में षड्विध सूत्र प्राप्त होते हैं—संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार।[1] इनमें से परिभाषासूत्र के लिए कहा गया है कि—लिङ्गवती परिभाषा। अर्थात् परिभाषा लिङ्गवती होती है।[2] इसको एक उदाहरण से देखें तो—तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य। (पा०सू० १।१।६६) इस परिभाषासूत्र से "सूत्र में जहाँ जहाँ सप्तमी विभक्ति का निर्देश होता है वहाँ अव्यवहित पूर्व को कार्य होता है"—ऐसी व्यवस्था सूचित की गई है। अतः 'इको यणचि' (पा०सू० ६।१।७७) सूत्र में 'अचि' ऐसा लिङ्ग, अर्थात् सप्तम्यन्त पद को देखकर वहाँ 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (पा०सू० १।१।६६) सूत्र की उपस्थिति होती है। इस चर्चा से ऐसी ध्वनि निकलती है कि 'परिभाषा-सूत्र परार्थ हैं'। भाष्यकार पतञ्जलि ने परिभाषासूत्रों का परार्थत्व देखकर कहा है कि—परिभाषा एकदेश में रहती हुई भी समग्र शास्त्र को अभिज्वलित करती हैं; जिस तरह से गृह के एक कोने में रखा हुआ प्रदीप पूरे गृह में प्रकाश फैलाता है।[3]

परन्तु भाष्यकार से भी पूर्व वार्त्तिककार ने परिभाषासूत्रों का नियमार्थत्व भी देखा था। अतः उन्होंने 'षष्ठी स्थानेयोगा' (पा०सू० १।१।४९) सूत्र पर "षष्ठ्याः स्थाने योगवचनं नियमार्थम्। (वा० १)" ऐसा एक वार्त्तिक प्रस्तुत किया है। इसके समर्थन में 'नियमादिको गुणावृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन।' (१।१।३

---

१. संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते ।। (कस्यापि)

२. तद्यथा—इको गुणवृद्धी। १।१।३ लिङ्गवती चेयं परिभाषा, लिङ्गञ्चास्याः गुणवृद्धि-ग्रहणं, तत्रोपतिष्ठते ।। —न्यासः (पृ० ७१) (द्रष्टव्या—काशिकावृत्तिः (न्यास-पद-मञ्जरी सहिता) प्रथमो भागः, सं० स्वामी द्वारिकादासः शास्त्री एवं पं० कालिकाप्रसादः शुक्लः, प्रका० प्राच्यभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, १९६५, पृ० ७१।

३. परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्। तद्यथा—प्रदीपः सुप्रज्वलित एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति ।। (२।१।१ इत्यत्र भाष्यम्)—द्रष्टव्यम्: व्याकरण-महाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्) प्रथमः खण्डः, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७, पृ० ३५७।

सूत्रभाष्यम्) इस भाष्यवचन[४] पर भाष्यप्रदीपोद्योत में नागेश ने भी लिखा है कि अलोऽन्त्यस्य (पा०सू० १।१।५२) जैसे परिभाषासूत्रों की पूर्वाचार्यों ने "नियम" ऐसी संज्ञा रखी है।[५] अतः वैयाकरणपरंपरा में परिभाषासूत्र नियमार्थ होते हैं ऐसा प्रचलित हुआ है। इसी तरह न्यासकार ने भी लिखा है कि—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। (पा०सू० १।१।६९) संज्ञासूत्र है; परिभाषासूत्र नहीं है। क्योंकि जो परिभाषा होती है, वह तो नियमार्थ होती है।[६] (और यह अणुदित्० सूत्र किसी का भी नियमन तो नहीं करता है।)

अब प्रश्न होता है कि यदि परिभाषासूत्र नियमार्थ होते हैं, तो अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (पा०सू० १।३।१२) सूत्र को भी परिभाषासूत्र कहा जाय या नहीं? क्योंकि इस सूत्र पर 'आत्मनेपदवचनं—नियमार्थम्। (वा० -१) ऐसा वार्त्तिक मिलता है। तथा भाष्यकार भी बताते हैं कि इस सूत्र का प्रारम्भ नियमार्थ किया गया है। अतः इस प्रश्न की चर्चा के द्वारा—"परिभाषासूत्र में किस प्रकार का नियमार्थत्व होता है, जो परिभाषासूत्र को नियमसूत्र से पृथक् करने में कारणभूत होता है?" इस विषय की गवेषणा करना प्रस्तुत लेख का ईप्सिततम कार्य है।

१ : ०

भाष्यकार ने 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' एवं 'तस्मादित्युत्तरस्य' (पा०सू० १।१।६६, ६७) परिभाषासूत्र के सन्दर्भ में कहा है कि—सप्तमी विभक्ति एवं पञ्चमी विभक्ति का अविशेष रूप से पूर्व के साथ भी योग है तथा पर के साथ भी योग है। अतः नियमार्थ इस सूत्र का प्रारम्भ किया गया है। "ग्रामे देवदत्तः।" ऐसा कहने पर देवदत्त का ग्राम के साथ पूर्व में योग है या पर में योग है? इस विषय में सन्देह होता है। इसी तरह से, यहाँ इको यणचि। (पा०सू० ६।१।७७) की प्रवृत्ति के विषय में सन्देह होता है। दधि + उदकम् = दध्युदकम्। इस उदाहरण में (इ और उ) दोनों ही 'इक्' है और दोनों ही अच् है। अतः सन्देह होता है कि—'अचि पूर्वस्य?' या 'अचि परस्य?'। इसी तरह, तिङ्ङतिङः। (पा०सू० ८।१।२८) सूत्र में भी 'अतिङः पूर्वस्य?' या 'अतिङः परस्य?'। ऐसा सन्देह रहता है। यहाँ इष्ट तो यही है कि—'अचि पूर्वस्य' और 'अतिङ परस्य' ऐसा सूत्रार्थ हो। लेकिन बिना कोई प्रयत्न यह सिद्ध होनेवाला नहीं है। अतः कहा गया है कि—

---

४ प्रदीपोद्योत सहित के महाभाष्य की आवृत्तियों में यह वार्त्तिकवचन है। किन्तु BORI, Poona की कीलहोर्न सम्पादित महाभाष्य में यह वचन केवल भाष्यवचन के रूप में लिया गया है॥

५. अलोऽन्त्यपरिभाषायाः पूर्वाचार्यसंज्ञा नियम इति। (उद्योतः, पृ० १२२)

६. संज्ञासूत्रमिदम् न परिभाषा। सा हि नियमार्था भवति। (न्यासः, पृ २४३)

'नियमार्थ इस सूत्र का प्रारम्भ—प्रणयन—किया जा रहा है।'[७] इस भाष्योक्ति से विदित होता है कि जहाँ संदेह होता है, अर्थात् अनियम की स्थिति होती है वहाँ परिभाषासूत्र से नियम किया जाता है। हरदत्त ने इसी विचार को विशद करते हुए लिखा है कि लोक में जिस तरह अनियम के प्रसंग में नियम किया जाता है, उसी तरह शास्त्र में भी अनियम के प्रसंग में नियम करना चाहिए। जैसे कि—लोक में ग्रामान्तर में जाने का इच्छुक पुरुष किसी को कहता है कि कृपया मुझे मार्ग दिखाइए। अब जहाँ दो दिशाओं का मार्ग एकत्र सम्मिलित होता होगा, वहीं सन्देह होगा—ऐसे स्थान पर ही मार्गोपदेश किया जाता है कि अमुक मार्ग से जाने पर इष्ट ग्रामान्तर में जाया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ अस्तेर्भूः। (पा०सू० २-४-५२) सूत्र उपस्थित होने पर संदेह होता है कि—'अस्' धातु के स्थान में 'भू' आदेश किया जाय, या अनन्तर स्थित वर्ण को? तब षष्ठी स्थानेयोगा। (पा०सू० १।१।४९) सूत्र से नियम किया जाता है कि 'स्थाने' का योग करके ही। अर्थात् 'अस्' धातु के स्थान में ही 'भू' का आदेश किया जाय।[८]

इससे स्पष्ट होता है कि—अनियम की स्थिति में जो सूत्र प्रस्तुत किये जाते हैं वह नियमार्थ बन जाते हैं, और इसी प्रकार के नियमार्थसूत्र को ही 'परिभाषा-सूत्र' कहते हैं। इसी सन्दर्भ में ही "अनियमे नियमकारिणी परिभाषा" ऐसा लक्षण दिया गया है।।

## १ : १

अब यह प्रश्न उठता है कि—पाणिनि के नियमसूत्रों में किस प्रकार का नियमार्थत्व होता है? अथवा, पाणिनि का अमुक सूत्र नियमसूत्र है या नहीं? इसका निर्णय कैसे किया जाय। 'अष्टाध्यायी' का पर्य्यालोचन करने से विदित होता है कि कतिपय सूत्र में 'एव' कार का ग्रहण किया गया है।[९] इस 'एव' कार

---

७. तस्मिंस्तस्मादिति पूर्वोत्तरयोर्योगयोरविशेषान्नियमार्थोऽयमारम्भः। ग्रामे देवदत्तः। पूर्वः पर इति सन्देहः। एवम् इहापीको यणचि। दध्युदकं पचत्योदनम्। उभाविकावुभावचौ। अचि पूर्वस्याचि परस्येति संदेहः। तिङ्ङतिङः (८।१।२८) इत्यतिङः पूर्वस्यातिङः परस्येति संदेहः। इष्यते चात्रापि पूर्वस्य स्यादतिङः परस्येति, तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति नियमार्थं वचनम्। एवमर्थमिदमुच्यते।। (पा०सू० १।१।६६, ६७ इत्यत्र भाष्यम्। पृ० १७२)

८. अनियमप्रसंगे नियमः कर्तव्यो लोकवत्। तद्यथा—लोके ग्रामान्तरं जिगमिषु कश्चित् कञ्चिदाह—पन्थानं मे भवान् उपदिशत्विति। स यत्र संदेहः पथि द्वैविध्यात् तत्रैवोपदिशति अमुष्मिन्नवकाशेऽनेन यथा गच्छेति; एवमिहापि अस्तेर्भूः अस्तेः स्थानेऽनन्तरो वेति संदेहे नियमः क्रियते—स्थानेयोगैवेति ॥ (१।१।४९ इत्यत्र पदमञ्जरी, पृ० १६८)।

९. अमैवाप्ययेन। पा०सू० २।२।२०; अजादी गुणवचनादेव। पा०सू० ५।३।५८।

ग्रहण सामर्थ्य से ही अमुक सूत्र 'नियमसूत्र' है ऐसा निर्णय हो जाता है। विशेष में भाष्यकार कहते हैं कि जो स्थिति सिद्ध ही होती है, उसका पुनः विधान करने के लिए जो विधि का प्रारम्भ किया जाता है, वह विधि 'एव' कार ग्रहण के अभाव में भी नियमार्थ बन जाता है।[१०] इस भाष्यवचन के आधार पर वैयाकरणों ने "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" ऐसा न्याय प्रचलित किया है। अब इस न्याय के मानदण्ड पर 'अमुक सूत्र नियमसूत्र है या नहीं ?' इसका निर्णय किया जा सकता है।

यहाँ पर अनियम की स्थिति नहीं होती है; परन्तु इससे विपरीत कोई एक स्थिति सिद्ध ही होती है। अतः पुनः विधान के सामर्थ्य से ही वह विधि नियमार्थ बन जाती है, और वह 'नियमसूत्र' कहलाता है॥

## २ : ०

यहाँ पर, पूर्वमीमांसा के 'नियम' और 'परिसंख्या' में जिस प्रकार का नियमार्थत्व रहता है उसका विनियोग करके पाणिनि के परिभाषासूत्रों और नियम-सूत्रों में रहने वाले नियमार्थत्व को विशद किया जा सकता है। तद्यथा—'व्रीहीन् अवहन्ति'। ऐसा एक वाक्य है। यहाँ वैतुष्यार्थ नखविदलन की भी प्राप्ति है और अवहनन की भी। इस स्थिति में 'अवहन्ति' कहने से नखविदलन का निषेध हो जाता है। इसी को पूर्वमीमांसा में 'नियम' कहा गया है। इस प्रकार का नियम हमें व्याकरणशास्त्र के परिभाषासूत्र में प्राप्त होता है। जैसे कि—दधि+उदकम्। इस स्थिति में इको यणचि। (पा०सू० ६।१।७७) सूत्र से 'यण्' की प्राप्ति है। लेकिन इ एवं उ दोनों ही 'इक्' है तथा 'अच्' भी है। अतः सन्देह होता है कि किसको यण् आदेश किया जाय ? यहाँ पर 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (पा०सू० १।१।६६) परिभाषासूत्र से नियम प्रस्तुत किया जाता है कि 'अच्' से अव्यवहित पूर्व को ही 'यण्' आदेश होता है। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमीमांसा का जो नियम है, वह वैयाकरणों का परिभाषासूत्र है॥

## २ : १

इसी तरह से मीमांसक लोग जिसको परिसंख्याविधि के रूप में पहचानते हैं, उसी को वैयाकरण लोग नियम कहते हैं। निम्नोक्त भाष्यवचन से इसका समर्थन किया जाता है॥

"(शब्द या अपशब्द) दो में से किसी भी एक का उपदेश करने से कार्य सिद्धि

---

१०. अथ एवकारः किमर्थः। नियमार्थः। नैतदस्ति प्रयोजनम्। सिद्धे विधिरारभ्यमाणोऽन्त-रेणाप्येवकारं नियमार्थो भविष्यति। —उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव। पा०सू० ६।२।८० इत्यत्र भाष्यम्, पृ० १३१।

हो जायेगी। तद्यथा—भक्ष्य का नियम करने से अभक्ष्य का प्रतिषेध गम्य रहता है—अवगत हो जाता है। उदाहरण रूप से कहें तो—"पाँच नखवाले पाँच प्राणी भक्ष्य हैं" ऐसा कहने पर यह समझा जाता है कि इससे भिन्न जो भी प्राणी है वे सभी अभक्ष्य हैं। अथवा—अभक्ष्य का प्रतिषेध करने से भक्ष्य का नियम हो जाता है। उदाहरण रूप से कहें तो—"ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य है और ग्राम्य सूकर (भी) अभक्ष्य है।" ऐसा कहने पर यह अवगत हो जाता है कि आरण्य कुक्कुट या आरण्य सूकर भक्ष्य है।[11]

'भाष्यप्रदीपोद्योत' में इसको स्पष्ट करते हुए नागेश भट्ट ने लिखा है कि—यह उदाहरण तो परिसङ्ख्या का दिया गया है। उसका 'नियम' के स्वरूप में कैसे व्यवहार किया गया है? परिसङ्ख्या एवं नियम में तो भेद है। जैसे कि पाक्षिक अप्राप्तिपूर्वक अप्राप्तांशपूरकविधि को (ही) नियमविधि कहा जाता है। जबकि परिसङ्ख्याविधि तो अन्यनिवृत्तिफला होती है। इसका समाधान यह है कि नियमविधि में भी अप्राप्तांश परिपूरणरूप फलबोधन के द्वारा आर्थी अन्य-निवृत्ति होतो है।[12] अत: नियम एवं परिसङ्ख्या के बीच अभेद मानकर उपर्युक्त भाष्यचर्चा की गई है।[13]

३ : ०

पूर्वोक्त चर्चा में पाणिनि के परिभाषासूत्र और नियमसूत्र के बीच में जो भेद है, वह बताने के लिए पूर्वमीमांसा के नियम और परिसंख्या का उपयोग किया गया है। अत: किसी को भी जिज्ञासा हो सकती है कि पूर्वमीमांसा के 'विधिवाक्य' का लक्षण पाणिनि के विधिसूत्रों के साथ क्या सुसंगत हो सकता है? तो इसका प्रत्युत्तर है—हाँ। पूर्वमीमांसा में अत्यन्त अप्राप्त कार्य का विधान करते हुए वाक्य

---

११. अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा—भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते गम्यत एतद्—अतोऽन्येऽभक्ष्या इति ।। अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा—अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकर इत्युक्ते गम्यत एतद्—आरण्यो भक्ष्य इति ।। (व्याकरण-महाभाष्ये प्रथममाह्निकम्, पृ० ५)।

१२. 'व्रीहीनवहन्ति'। वाक्य में अवघातविधि से अर्थतः नखविदलन की निवृत्ति होती है—इसी को "आर्थी अन्यनिवृत्ति" कहते हैं।

१३. ननु अस्य परिसङ्ख्यात्वात् कथं नियमत्वेन व्यवहारः। अस्ति च नियमपरिभाषयोः भेदः। पाक्षिकाप्राप्तिकाप्राप्तांशपरिपूरणफलो नियमः। अन्यनिवृत्तिफला च परिसङ्ख्येति चेन्न, नियमेऽप्यप्राप्तांशपरिपूरणरूपफलबोधनद्वारार्थान्यनिवृत्तेः सत्त्वेन अभेदमाश्रित्योक्तेः।। (भाष्यप्रदीपोद्योते प्रथममाह्निकम्, पृ० ४१-४२)

को 'विधि' (अपूर्वविधि) कहते हैं।[१४]

उदाहरण रूप से—यजेत स्वर्गकामः। 'स्वर्ग की कामना वाले को यज्ञ करना चाहिए।' यहाँ पर स्वर्गार्थक याग की प्रमाणान्तर से अप्राप्ति थी। ऐसी स्थिति में यह 'विधिवाक्य' (अपूर्वविधि) बनता है। इसी तरह से—सुधी+उपास्य में 'इको यणचि' (पा०सू० ६।१।७७) सूत्र से इतर किसी भी सूत्र से यण् आदेश की प्राप्ति नहीं थी। अतः वह सूत्र (पा०सू० ६।१।७७) पूर्वमीमांसा के 'विधिवाक्य' जैसा ही विधिसूत्र कहा जायेगा।

हम जब वैयाकरणों के परिभाषासूत्र को पूर्वमोमांसा के 'नियम' के साथ तुलना करते हैं तब एक दूसरी बात स्पष्ट करने की भी आवश्यकता है। जैसे कि—पूर्वमीमांसा में 'नियम' का जो उदाहरण है—'व्रीहीन् अवहन्ति।' वहाँ अवहनन क्रिया से नखविदलन की निवृत्ति होती है। इसी तरह से पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में 'दधि+उदकम्' इस स्थिति में 'इ' एवं 'उ' दोनों को 'यण्' आदेश (६।१।७७ सूत्र से) प्राप्त होता है, तब तस्मिन्० (पा०सू० १।१।६६) परिभाषासूत्र से 'उ' कार को प्राप्त होनेवाले यण् आदेश की निवृत्ति की जाती है। किन्तु अब प्रश्न होगा कि परिभाषासूत्र से क्या केवल 'अन्य निवत्ति' ही होती है या और कुछ विशेष कार्य भी होता है ?। तो नागेश भट्ट ने एक स्थान पर बताया है कि परिभाषा लिङ्गवती होती है और साथ में फलवती भी होती है। यहाँ पर 'फल' का अर्थ इतर-व्यावृत्ति के साथ इतरसङ्ग्रह भी समझना है।[१५] अतः 'इ' कार को यण् आदेश की प्राप्ति भी सम्पन्न होती है। इसो प्रकार पूर्वमोमांसा के 'नियम' (व्रीहीन् अवहन्ति) के साथ पाणिनि के परिभाषासूत्रों की निःसंदेह तुलना की जा सकती है।[१६]

---

१४. विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते ॥ —अर्थसङ्ग्रहे तृतीयो भागः
यहाँ पर अपूर्व का अर्थात् प्रमाणान्तर से जो अप्राप्त है उस कार्य का विधान करने वाला 'विधि' होता है। दो या अधिक विकल्पों की प्राप्ति होने पर किसी भी एक के लिए मर्यादित (सीमित) करने वाला वाक्य 'नियम' कहलाता है। और दो में से एक विकल्प की जो निवृत्ति कर देता है वह 'परिसंख्या' है। अर्थात् injunction को विधि, restriction को नियम और exclusion को परिसंख्या कहते हैं॥

१५. अनियमे नियमकारिणीत्वात् परिभाषाया इति भावः। अन्ये त्विति। अयं भावः—न ह्यनियम इति श्रुतिः स्मृतिर्वा, किन्तु परिभाषा लिङ्गवती फलवती चेति नियमः, फलं चेतरव्यावृत्तिवद् इतरसङ्ग्रहोऽपि इति……। (पा०सू० १।१।३ वा० -५ इत्यत्र भाष्य-प्रदीपोद्योतः, पृ० १२१)।

१६. काशी की वैयाकरणपरम्परा में भी यह स्वीकृत है कि पाणिनि के परिभाषासूत्र सदृश पूर्वमीमांसा का 'नियम' है। हरिदीक्षित ने 'प्रोढमनोरमा'— की टीका 'शब्दरत्न' में

अन्त में, पूर्वमीमांसा की 'परिसङ्ख्या' को पाणिनि के नियमसूत्रों के साथ कहाँ तक संतुलित किया जा सकता हैं ? उसकी भी चर्चा की जाती है—पूर्वमीमांसा में 'परिसङ्ख्या' को विशद करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है—एकादश्यां फलाहारं कुर्यात्।' यहाँ पर परिसङ्ख्या को इतरव्यावृत्तिपरक माना गया है, किन्तु उसका स्वांश में चारितार्थ्य नहीं है। अर्थात् 'एकादशी के दिन फलाहार करना चाहिए' ऐसा जब विधान होता है वहाँ फल से भिन्न आहार का प्रतिषेध (व्यावृत्ति) किया जाता है। किन्तु फलों का आहार करना चाहिए या नहीं ? इस विषय में कुछ भी स्पष्ट (विधेयात्मक) विधान नहीं हुआ है—क्योंकि एकादशी के दिन निराहार भी रह सकते हैं ! अब, यदि पाणिनि के नियमसूत्र ही पूर्वमीमांसकों की परिसङ्ख्या है ऐसा स्वीकार किया जाय तो एक आपत्ति होगी। जैसे कि—पाणिनि के नियमसूत्रों से अन्य की निवृत्ति जरूर होगी, परन्तु वे स्वांश में चरितार्थ नहीं रहेंगे। उदाहरण रूप से कृत्तद्धितसमासाश्च। (पा०सू० १।२।४६) सूत्रस्थ 'समास' ग्रहण नियमार्थ है ऐसा माना गया है।[१७] अतः (१) वाक्य की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी—यह हुई अन्यनिवृत्ति। किन्तु (२) उसका स्वांश में चारितार्थ्य नहीं रहेगा। अर्थात् समास की इष्ट 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं हो सकेगी। यदि समास की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो पायेगी तो राजन्+ङस्+पुरुष+सु। इस स्थिति में सुपो धातुप्रातिपदिकयोः। (पा०सू० २।४।७१) सूत्र से विभक्तिप्रत्ययों का लुक् नहीं होगा (और परिणाम स्वरूप एकपदत्व भी प्राप्त नहीं होगा)। परन्तु इस आपत्ति को दूर हटाने के लिए वैयाकरणों ने अपने नियमसूत्रों में परिसङ्ख्या से प्राप्त अन्यनिवृत्ति रूप नियमार्थत्व का स्वीकार करने के साथ-साथ वह नियमसूत्र स्वांश में चरितार्थ भी रहे इसके लिए एक दूसरा सिद्धान्त भी कार्यान्वित किया है। "उद्देश्यता को व्याप्त करके रहने वाली व्यापकता विधेय में (भी) रहती है।"[१८] यहाँ समास उद्देश्य (Subject) है

---

लिखा है कि—

अत एव भाष्ये परिभाषाणां नियमतया व्यवहारः कृतः। परिभाषाणां न परिसंख्याविधिरूपनियमत्वम्। अपि तु व्रीहीनवहन्ति इतिवद् आर्थनियमत्वम्। —प्रौढमनोरमायां शब्दरत्ने परिभाषाप्रकरणम् (पृ० ७६) द्रष्टव्या—शब्दरत्नसहिता प्रौढमनोरमा, सं० व्यंकटेश लक्ष्मण जोशी, डेक्कन कोलेज, पूना, १९६६।

१७. कृत्तद्धितसमासाश्च। १।२।४६……समासग्रहणस्य नियमार्थत्वाद् वाक्यस्यार्थवतः संज्ञा न भवति। —काशिकावृत्तिः, पृ० ३४५।

१८. उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकत्वं विधेये भासते। अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदकनिष्ठ व्याप्यतानिरूपिता व्यापकता विधेये भासते इति वैयाकरणपुरन्दराः अस्मद्गुरवः श्रीबालकृष्णपञ्चोलिनः ॥

और 'प्रातिपदिक' संज्ञा विधेय (Predicate) है। प्रातिपदिकसंज्ञा व्यापक है और समास व्याप्य है। अत: व्याप्याधिकरण (समास) में व्यापकीभूत प्रातिपदिकत्व की उपस्थिति नहीं रहेगी तो प्रातिपदिक संज्ञा में रहने वाला व्यापकत्व ही ख-पुष्पायमान बन जायेगा! इस तरह उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर 'वाक्य' की प्रातिपदिकसंज्ञा निवृत्त होने के साथ ही, 'समास' में (अर्थात् स्वांश में) वह प्रातिपदिकसंज्ञा चरितार्थ भी रहती है॥

× × ×

स्वयं भाष्यकार ने ही पाणिनि के नियमसूत्रों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः।' ऐसा पूर्वमीमांसोक्त परिसङ्ख्या का उदाहरण (द्रष्टव्या पादटिप-११) प्रस्तुत किया है। और इस सन्दर्भ में नागेश भट्ट ने भी स्पष्ट किया है कि भाष्यकार ने नियम एवं परिसङ्ख्या का अभेद मानकर व्यवहार किया है।[१६]

## ३ : १

**उपसंहार**—इस तरह से भाष्य में परिभाषाओं का नियम रूप से व्यवहार किया गया है। हमने देखा है (१ : २) कि यह नियमार्थत्व अनियम की स्थिति में प्रवृत्त होता है। दूसरा, परिभाषासूत्रों में परिसङ्ख्या रूप नियमार्थत्व नहीं है। केवल 'व्रीहीनवहन्ति' की तरह आर्थनियमत्व है। अर्थात् पूर्वमीमांसा का जो नियम है वह वैयाकरणों की परिभाषा है। दूसरी ओर, भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि जिस सूत्र में 'एव' कार का ग्रहण होता है वह नियमसूत्र है। तथा 'एव' कार ग्रहण के अभाव में अमुक स्थिति सिद्ध होने पर जो पुनः विधान किया जाता है वह भी नियमार्थ होता है। इस तरह 'एव' कार गर्भित-नियमार्थत्व जिस सूत्र में रहता है, वह भी नियमसूत्र कहलाते हैं। इस सन्दर्भ में भाष्यकार ने सूचित किया है कि पूर्वमीमांसा की परिसङ्ख्या ही वैयाकरणों के नियमसूत्र है॥

इस तरह पाणिनि के परिभाषासूत्रों में नियमसूत्रों से भिन्न प्रकार का नियमार्थत्व (अर्थात् व्रीहीनवहन्ति। जैसा आर्थनियमार्थत्व) रहता है; इस लिए ही—"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।" इस कारिका में 'परिभाषा' पद को 'नियम' से पृथक् रखा गया है॥

## ग्रन्थसूची

१. अर्थसङ्ग्रहः of लौगाक्षिभास्करः, Ed. A.B. Gajendragadkar & R.D. Karmarkar, Bombay, 1934.

१६. द्रष्टव्य है : २ : १ की चर्चा।

२. काशिकावृत्तिः (न्यास-पदमञ्जरीसहिता), सं० स्वामी द्वारकादासः एवं कालिकाप्रसादः शुक्लः, प्रथमोभागः, प्रका० प्राच्यभारतीप्रकाशन, वाराणसी, १९६५ ।
३। प्रौढमनोरमा (शब्दरत्नसहिता), सं० वेंकटेश लक्ष्मण जोशी, डेक्कन कॉलेज, पूना, (भाग-१), १९६६ ।
४. व्याकरण-महाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्), (प्रथमखण्डः), प्रका० : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७ ।
५. *The Vyakarana Mahabhasya of Patanjali*, Ed., F. Kielhorn and K.V. Abhyankar, (Vol. I, III), B‌O R Institute, Poona, 1962, 1972.

—o—

# सृष्टौ शंकासमाधिः

—विश्वनाथशास्त्री दातारः

चतुरास्यं चतुर्बाहुं पद्मस्थं परमेश्वरम् ।
सरस्वत्या समाश्लिष्टपार्श्वं परमपूरुषम् ।।
अक्षमालाऽभयाभीष्टकमण्डलुधरं प्रभुम् ।
सर्वविद्याधिपं देवं ब्रह्माणं सततं स्मरेत् ।।

इत्यस्मिन् मंगलपद्ये सरस्वत्या समाश्लिष्टपार्श्वो देवः सर्वविद्याधिपो वेधाः कविना स्मर्यते । तमधिकृत्य आक्षेपचतुरस्रा ब्रह्मणि जुगुप्सितत्वं आसादयितुं यदाशंकन्ते तन्निरासाय कृतो बौद्धिको नीत्यधिष्ठितो व्यापारः देवस्य वागधिपस्य ब्रह्मणस्तुष्ट्यै भवेदित्याशास्य कश्चन विषयः प्रस्तूयते । तत्रादौ शंकाविषयत्वं अधिगमयितुं ब्रह्मणो देवस्य वास्तविकं स्वरूपं कीदृगिति चिन्तापि कर्तव्या भवति । तां विना ब्रह्माणं प्रति उदितशंकायाः निरासस्य कृते अपेक्षितं चिन्तनं सुप्रकाशं न भवेत् । अतः शंकोत्थापनात् पूर्वं ब्रह्मस्वरूपं निवेद्यते । तच्चेत्थम् सरस्वती निरूपितं पतित्वं, विद्यापालकत्वं परमेश्वरत्वं सेव्यत्वं च इति । तदेतत् मंगलपद्ये निरूपिते गीतमेव ।

तेषु सरस्वतीनिरूपितं पतित्वं ब्रह्मणि 'सरस्वत्या समाश्लिष्टपार्श्वं' इत्यनेन सुस्पष्टमेव तत्र नास्ति शंकाविषयता ।

द्वितीयं विद्याधिपत्वं मंगलपद्योक्तं तदेव प्रकाशमायाति यदा समये-समये विद्यारक्षणोपेक्षामालोक्य अपेक्षानुसारेण कर्मविद्याः कर्मकाण्डोक्ताः अपराः, उपनिषन्मात्रवेद्या ब्रह्मविद्या परा च तत्तदधिकारिषु अधीतिबोधाचरणप्रचारैः स्थाप्येरन् आद्रियेरंश्च । तदेतत् ब्रह्मसृष्टजगद्वैचित्र्येण ज्ञातुमर्हं श्रीमद्भागवतीय-द्वितीयतृतीयचतुर्थस्कन्धैः । ब्रह्मणो भगवतः परमेश्वरत्वं परमपूरुषत्वं च भागवतस्य चतुर्थस्कन्धगतपद्येन—

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानैः मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः ।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोस्म्यहं वः तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः ।।
(श्रीमद्भागवतम् ४।१।२७)

इत्यनेन स्फुटतरमेव ।

ब्रह्मणः सेव्यत्वमपि तस्य पितामहत्वात् वृद्धत्वाच्चाशंक्यमेव ।

तत्स्फुटं वामनपुराणे—

> ये वृद्धवाक्यानि समाचरन्ति श्रुत्वा दुरुक्तान्यपि पूर्वतस्तु।
> स्निग्धानि पश्चान्नवनीतशुद्धा मोदन्ति ते नात्र विचार्यमस्ति ॥
>
> इति ६५।७८

उक्त मंगलपद्ये यानि स्वरूपाणि अवशिष्टानि अन्यान्युक्तानि तानि सेव्यतांगत्वात् समुचितान्येव।

अथ तेषु स्वरूपेषु सरस्वत्या समाश्लिष्टपार्श्वत्वविद्याधिपत्वसेव्यत्वेषु श्रुतेषु आक्षेप्तारः आशंकन्ते जुगुप्सन्ति च तस्याः शंकायाः स्वरूपमादौ-विमृशामः। सर्वज्ञः सन्नपि ब्रह्मा पितामहोऽज्ञ इव दुहितरं वाचं कथं चकमे ?

अथ एतच्छंकाबोधनावसरे कासौ दुहिता ? को वावसरः कामस्य ? ब्रह्मा किंवा कुर्वन्नासीत् ? इत्यादयोऽनेके प्रश्नाः उपतिष्ठन्ति। तेषां समाधानं ब्रह्मदेवस्य देवस्य इतिहासनिरूपणेन भवितेत्यालोच्य तदितिहासो विव्रियते। तद्यथा—

सृष्टेरादौ नारायणस्य नाभिनाले संलग्ने कमले अवतीर्णो ब्रह्मा तप आचरन् जनकं भगवन्तं ददर्श। ततः पित्रादिष्टो देवः ब्रह्मणो वेदात् मूलतत्वं लब्ध्वापि सृष्टिकर्मणि न प्रववृते। मायाबन्धभयात्। तदा नारायणः तस्मै वरं ददौ। तदुक्तं—

> भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः।
> नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥ इत्यादिना
>
> (श्रीमद्भागवतम् २।९।२८)

ततः स सृष्टिं कुर्वाणो वाराहकल्पादौ पृथ्वीं संस्थाप्य स्वाभिमतायाः प्रजायाः अपेक्षापूरणोद्देश्येन अबोधसृष्टिं कल्पयामास। तदर्थमबोधसृष्टिमूलत्वेन अविद्या-मुपादानीकृत्य तन्मयत्वं यथासृष्टौ भवेत् तथा अस्मितारागादिवैशिष्टचकौशलं च चिन्तयित्वादौ स भगवान् पंचपर्वाविद्यां कल्पयामास।

तदाहुः— ससर्जाग्रेन्धतामिस्रमथतामिस्रमादिकृत् ।
महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ॥ इति

(श्रीमद्भागवतम् ३।१२।२)

ततः तमोवृत्तिमती बोधशून्या सृष्टिः प्रादुरभूत्। तत्र अनेकविधजातिः समुल्ललास। तासु यक्ष राक्षस भेदेन केचिद् जीवा अपि क्षुत्तृडर्दिताः दृष्टिपथं प्राप्ताः। ते च जाती ब्रह्माणं खाद्यं मत्वा 'जक्षध्वं मा रक्षत' इति प्रोचाते।

वर्णयन्ति तथा शुकाचार्याः—

> क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः।
> मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः ॥
>
> (श्रीमद्भागवतम् ३।२०।२०)

इत्ययमेकोऽबोधसृष्टेरितिहासः। यद्येवमेव सृष्टिरभविष्यत् तर्हि सर्वत्र पुत्रेषु कर्कट-सधर्मत्वं व्यापादयिष्यत्। तन्मा भवतु इति विचिन्त्य भगवान् पितामहो बोधसर्ष्टि कल्पयामास, यत्रमंगलपद्योक्तं सर्वविद्याधिपत्वं विद्यापालनमुखेन सिद्धं भवति। अयं ब्रह्मणो द्वितीयेतिहासः।

अस्मिन् इतिहासे ब्रह्मणो मानसस्य द्वेधागतिर्दृश्यते एका पराविद्यासंबद्धा एका अपराविद्यासंबद्धा। तत्रापि पराविद्यासंबद्धायां बोधसृष्टौ तमोवृत्तिः सर्वथा नास्ति। अपरस्यां बोधसृष्टौ तु पित्राद्यादेशपालननियंत्रिता तमोवृत्तिः सत्यपि सा लोकयात्रां निर्वहन्ती वर्तते। इति बोधसृष्टेर्वैचित्र्यं ब्रह्मकृतं आदरपात्रतां भजते। अतएव विद्यापालकत्वात् विद्याधिपत्वमपि ब्रह्मणि विराजते। कथमेतदिति इतिहासमुखेनैव प्रमाणीभवति।

तत्रादौ पराविद्यारक्षणार्थं ब्रह्मा सनकादीन् चतुरः ससर्ज, यत्र ब्रह्मविद्यायाः परायाः अवस्थितिः चिराय समभूत्। अत्र ध्यानपूतं मनः उपादानत्वेन स्मर्तव्यम्। तदाहुः—

भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यान्ततोऽसृजत्।
सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः॥ इत्यादिना

(श्रीमद्भागवतम् ३।१२।३)

सनातनादिभ्रातृसृष्टौ पराविद्यासंरक्षणे जातेपि अपराविद्या रक्षिता न भवति सनकादि सृष्ट्युपादाने मनसि भगवद्ध्यानपूतत्वमात्रस्य ३।१२।६ पद्येन उक्तत्वात्, तदानीं—

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भागवतम् २।९।३६)

इत्यादिना श्रीमन्नारायेणन ब्रह्मणे दत्तस्य वरस्यातिप्रावल्याच्च।

अत्र सृष्टौ भगवद्ध्यानपूतत्वोक्त्या ब्रह्मणि, वर्तमानाया क्रमेणोत्तरोत्तरम-भीप्सितसृष्टिपरंपरासंपादिकाया जगत्सिसृक्षायाः संक्रमणं सनन्दनादिभ्रातृषु नाभूदिति शुकाचार्यैः संबोध्यते। सोयं बोधसृष्टेः पराविद्यापालिकाया इतिहासः।

अथ अपराविद्यापालकत्वबोधकः ब्रह्मण इतिहासः स्मार्यते। तस्यायमुप-क्रमः—बोधमयान् सनकादीन् अधिकारिणः पुत्रान् दृष्ट्वा तेषां पुरतः जनकोब्रह्मा जगत्सृष्ट्यादेशं प्राकाशयत्। तदाकर्ण्य निवृत्तिधर्मनिरता आत्मजा भगवद्-ध्यानपूतान्तःकरणाः प्रत्याचख्युः। तदा ब्रह्मा 'काम एव प्रतिहतः क्रोधो भवति' इति न्यायेन चुक्रोध। स्पष्टं चैतत्—

**'क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे'** (श्रीमद्भागवतम् ३।१२।६) इत्यादिना।

क्रोधप्रादुर्भावपरे स्मिन् इतिहासे एकं गूढं तत्त्वमस्ति। तद्यथा—ब्रह्मणि क्रोधोदयमात्रेण तमः प्राबल्यात् भगवान् रुद्रः पुत्रभावं प्राप्तः। अत्र यक्षरक्षः सृष्ट्योरन्तरमस्ति। रुद्रेकर्कटसधर्मत्वाभावात् पित्राज्ञापालकत्वाच्च। रुद्रसृष्ट्यनन्तरं ब्रह्मणः क्रोधो नियन्त्रितोऽभूत्।

रुद्रसृष्टावपि अपराविद्यापालनं नाभूदिति तद्रक्षितुकामः जगद्रिरक्षुः कामानुबन्धिनीं बोधसृष्टिं अपराविद्यामयीं पित्रादेशनियन्त्रितां संपादयितुमैच्छत्। तदा तन्मुखादेव वाक् सृष्टा पुरोवर्तिनी बभूव इति अनुमीयते। अत एव तामाश्रित्य यन्मिथुनं स प्राप तच्च मनुदंपतीरूपम्। इत्ययं बोधसृष्टेः अपर इतिहासः। अत्र श्रीशुकाचार्याः वाचं दुहितृत्वेन तथा तां विलोक्य ब्रह्मणः कामप्रसक्तिं च वर्णयन्ति। तदाहुः—

> **वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।**
> **अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम्॥** इति
>
> (श्रीमद्भागवतम् ३।१२।२८)

अन्यत्रापि—

> **रोहिद्भूतां सोऽन्वधावत् ऋक्षरूपो हतत्रपः॥** इति च
>
> (श्रीमद्भागवतम् ३।३१।३६)

अत्रैव एवंविधमितिहासं श्रुत्वा आक्षेपकाः शंकन्ते। ब्रह्मा भगवान् कथं वाचं दुहितरं सकामो भूत्वा चकमे, तां मृगरूपिणीं कथं वा मृगो भूत्वा अधावत् इति।

न चात्रैवं जनकचरितं जुगुप्सितं सन्निरीक्ष्य मुनयो योगीश्वराः एव तं बोधयामासुः इति शुकवाक्यादेव अवगच्छामः—

> **तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।**
> **मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात् प्रत्यबोधयन्॥**
> **नैतत् पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे।**
> **यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्यांगजं प्रभुः॥**
> **तेजीयसामपी ह्येतत् न सुश्लोक्यं जगद्गुरो॥**इति॥
>
> (श्रीमद्भागवतम् ३।१२।२९, ३०)

इति वाच्यम्। पराविद्यादृष्टया उत्तरितत्वेपि अपरादृष्टयानुत्तरितत्वात्।

सा च अपराविद्यादृष्टिरित्थं निवेद्यते। तथाहि—

उत्तरप्रजायाः बोधसृष्टौ पित्रादेशनियन्त्रितत्वे सति सर्जनशीलत्वं तिष्ठापयिषुर्ब्रह्मा कामशमनोपायं जिज्ञासति स्म। तदैव कामना पूरिकां कर्मविद्यां ऋगादिरूपां पुरतो मुखान्निसृतां ददर्श। तत्र पुत्रकामेष्टिप्रभृत्यनेकयागान्

सोऽजानात् । तैः सर्वविधफललाभमपि अवागच्छत् । तदा स तां प्रति अधावत् नत्वभ्यध्यायत् । ध्यानेन सर्जने अभिमतफलप्राप्त्यदर्शनात् । तदिदं ब्रह्मधावनं बोधसृष्टौ स्वाभिमतप्रजाप्राप्तिसाधनत्वान्न विफलमिति तदीयचरित्रेणानुमीयते इति न काप्यनुपपत्तिः । एतेन ब्रह्मणः नीतिरियं सुनीतिरिति वक्तुं शक्नुमः । यतः अत्र ब्रह्मनीतौ सफलत्वेन निर्णीतायां जुगुप्सितत्वं लोकयात्रादृष्ट्या नास्ति।

अपि च यदि ब्रह्मणः तन्वीं प्रति धावने जुगुप्सितत्वाग्रहः तर्हि नारदं प्रति ब्रह्मणोक्तस्य 'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते' इत्यादि वचनस्यायाथार्थ्यमेव स्यात् ।

**न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।**
**न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठचवताधृतोहरिः ।।**

(श्रीमद्भागवतम् २।६।३३)

यद्यपि 'वाचं दुहितरं' पद्ये वाचः स्वरूपं अत्रास्तिरोहितमेव तथापि २८ पद्यानन्तरं तस्मिन्नेव १२ अध्याये ३७ श्लोक एव ऋग्यजुरित्यादिभिः पद्यैः ४७ श्लोकपर्यन्तं वाणीस्वरूपं आचार्यैः निरूपितं कर्मविद्याप्रकाशिकात्वं मे वाचि दुहितरि स्पष्टं भवति । अपि च 'वाचं दुहितरमि'ति पद्ये चकमे इत्यनेन अकामायाः दुहितुः पश्चात् कामुकस्यैव ब्रह्मणः धावनं ज्ञापयन्ति शुकाचार्याः । तस्यायमाशयः—जनकादेशपरतन्त्रतासहितस्य सर्जनकामनान्वितस्य नैरन्तर्येण अवस्थानं ब्रह्मणा यत्कल्पितं बोधसृष्टौ तस्यैव फलं मनुवंशपरंपरा । यत्र सर्वविधमौन्नत्यंदरीदृश्यते ।

सोयं ब्रह्मकृतः बोधसृष्टेः वैचित्र्यभेदः तेषु योगीश्वरेषु मरीच्यादिष्वपि अनुभूयते न केवलं मनुपरंपरायामेव ।

तथोक्तं भागवते तत्रैव—

**तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना ।**
**ऋषीन् ऋषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमता प्रजाः ।। (३।२०।५२)**

ननु वाचो दुहितुरकामात्वे किं रहस्यमितिचेदेवम्—

यथा ज्ञानवैराग्ये ग्राहकाभावाद्वृद्धभावं प्राप्ते भक्तिस्तु मधुरायां तरुणी जाता इति यथा भागवतमाहात्म्ये (१।४५) उच्यते तथैव ऋगादिवाग्यदा ब्रह्ममुखात् प्रादुर्बभूव तदा तां न मुनीन्द्राः सिद्धाश्च न चकमिरे कर्मबोधिकां वाचमिति साऽकामैवाभूत् । "न स्वैरी स्वैरिणी कुतः" इति न्यायात् । इत्येव दुहितुर्वाचो कामात्वरहस्यम् ।

ननु पूर्वोक्तं मनुसमवेतं सकामं सत् पित्रादेशपारतन्त्र्यं मध्यात्वा मरीच्यादिभिः कथं ब्रह्मदेवः आक्षिप्त इति चेत् सत्यम् । निर्गुणत्वबोधकश्रुत्यनुगामिनः सन्तोब्रह्मज्ञाः यं कमपि सकामं उपहसन्त्येव प्रपंचस्य सत्यतयाभासमानस्य उपनिषद्दृष्ट्या मृगमरीचिकातुल्यत्वात् । एतदेव ज्ञापयितुं 'रोहिद्भूतां, इत्यु-

पर्योद्धृतोक्तिः सुसंगता भवति।

अन्यच्च ब्रह्मणा परमेश्वरेण प्रदर्शिते चरित्रे काचन साहित्यसरणिः संभाव्यते इत्यपि वक्तुं शक्यम्। तथाहि—

एतत्सिद्धान्ते यत्र भावपदार्थनिरुक्तिः कृता, तत्र निर्विकारस्य मनसः यः आद्यः स्पन्दः स एव भावः अव्यभिचारी भवति इति निरूप्यते। तथाच निर्विकारस्य ब्रह्मणो यो मानसो व्यापारः वाचमधिकृत्याभूत् यतः स सफलः सन् मनसि कामं प्रापय्य कामयुक्तेन मनसा मनोरुत्पत्तिरूपं समीचीनं फलं समभूदिति नात्र ब्रह्मणो-विकृति वैय्यर्थ्यं वक्तुं शक्यम्।

एवं सत्यपि ब्रह्मणा प्रदर्शितेन चरित्रेण नीतेः कुत्र प्रावल्यं कुत्र च धर्म-प्रधानायास्त्रय्याः इति तु अवश्यं स्मरणीयतामर्हति। अधोनिर्दिष्टेन विवेचनेन। तद्यथा—

लोकयात्रामधिकृत्य यावत्पर्यन्तं बोधसृष्टौ काचनापि त्रुटिर्नोपलभ्यते ताव-त्पर्यन्तं धर्मप्रधानायास्त्रय्या एव प्रबल्यम्। अतएव तदनुरुध्य ब्रह्मणं मुनीन्द्राः उपजहुः विगीतत्वं चप्रकाशयामासुः। 'न सुश्लोक्यं जगद्गुरो' इत्युक्त्वा दुहितुर्वाचः काम-नायामधर्मत्वं व्याचख्युः। तच्छ्रुत्वा ब्रह्मा व्रीडितो भूत्वा देहत्यागरूपं प्रायश्चित्तं व्यदधात्। यदा तु जगत्सृष्टेः पूर्णता नाभूत् तदा वर्णाश्रमसृष्टिः कर्तव्येति निश्चयो-ऽभूत् तदा तस्य जगद् यात्रायाः सुचारुत्वार्थं नीतेः प्राधान्यं भवति यत तन्मुखेनैव त्रय्यपि रक्षिता भवति। तदानीं कर्मकाण्डमयी वागेव पुरतः उदिता इति तद्-व्याजेन ब्रह्मणो मनसः काममयत्वं संजातम्। तेनैव लोकयात्रारक्षको मनुः सृष्टि-कामनावान् पित्रादेशपरतन्त्रो बभूव। त्रयी च प्रसन्ना सति सनकादिमुखद्वारेण आत्मनस्तोषं प्राकाशयत्। तथा चोक्तं—

> तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान्।
> तान् दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम्॥
> अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम्।
> प्रतिष्ठिता क्रिया यस्मिन् साकमन्नमदाम हे॥ इति
>
> (श्रीमद्भागवतम् ३।२०।५०-५१)

इत्थं च दण्डनीतिप्रधानतामनुलक्ष्य ब्रह्मणो वाचः पश्चाद्धावनेन अनुमितं काम-विशिष्टं चेतो यत्संपन्नं तथाविधेन मनसा उपादानभूतेन पित्रादेशपरतन्त्रः मनुवंशोत्पत्तिर्जाता। तेन ब्रह्माणं अधिकृत्य संभूता आक्षेपकाणां शंका जुगुप्सितता च समाहिता भवति भवति च ब्रह्मचरित्रप्रतिपादकानां वचनानां सर्वेषाम-विरोधोऽपि।

एवं रीत्या ब्रह्मसंपादितचरित्रे या शंका प्रादुरभूत् तत् समाध्यर्थंकृतेन व्यापारेण नीत्यधिष्ठितेन बौद्धिकेन सरस्वतीसमाश्लिष्टः परमपुरुषः परमेश्वरः अक्षमालाभयाभीष्टकमण्डलुधरः वेधास्तुष्यतु। इति शम्॥

# भारतीया दर्शनविद्या

—डॉ० बलजिन्नाथपण्डितः

पाश्चात्येषु देशेषु या दर्शनविद्याः प्रचलिताः सन्ति, तास्तावन्मानवबुद्धि-परिस्पन्दमात्रफलभूताः सत्यो जनकल्याणप्रयोजना, जनजीवनं प्रति स्नेहतः प्रवृत्ताः, मानवीय-लौकिकानुभूति-जाल-प्रतिष्ठिताः, तर्कवितर्कमय्या शैल्या प्रचारिताः सन्ति। भारतीयाः दर्शनविद्या यद्यपि भूयसा तथा भूता एव, तथापि तासां मुख्यं स्रोतो नैव लौकिकानुभूतिमात्रनिष्ठम्। ताः अनुभूतयस्तत्रावश्यमुपयोगिन्यः सत्योऽपि नैव दर्शनविद्यासारभूतस्य तत्त्वस्य मुख्यं प्रतिष्ठास्थानम्। तर्कवितर्काश्च तत्-प्रतिपादनसहायभूता अपि नैव वास्तविकदर्शनतत्त्वाङ्गभूताः। मुख्यं यद् भारतीय-दर्शनविद्यानां स्रोतस्तत्तु योगजसाक्षात्कारनिष्ठमेव। तत एवोक्तं महामुनिना यास्केन—'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' इति।

लोके तावदनुभवो द्विप्रकारको मुख्यतया प्रचलति। स च प्रत्यक्षपरोक्षात्मकः। प्रत्यक्षानुभूतिस्तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्या, मानसप्रत्यक्षात्मिका च। परोक्षा चानुमानादिप्रमाणजा। परमृषीणां या योगजा दार्शनिक्यनुभूतिरसौ नैव प्रत्यक्षात्मिका, तस्यामिन्द्रियोपयोगस्याभावात्। नाप्यसौ परोक्षात्मिका, तस्याः साक्षादुपजायमानत्वात्। न हि किमपि साक्षात्प्रकाशमानं ज्ञानं परोक्षमिति वक्तुं मन्तुं वा शक्यम्। ततोऽसावनुभूतिः परोक्ष-प्रत्यक्षोभयभिन्ना सती विद्वद्भिर-परोक्षेति कथ्यते सिद्ध-सम्प्रदाये। एतस्यामपरोक्षायामनुभूतौ स्वात्मा स्वात्मानं स्वयं स्वेनैव साक्षात्करोति। उक्तं ह्यनेनैवाभिप्रायेण महाकविना कालिदासेन कुमारसम्भवे—

'यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तं स्वात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्।' इति। इत्थं भारतीयं यद् दर्शनं तन्मूलतः स्वात्मसाक्षात्कारनिष्ठम्। तत्रापरोक्षे साक्षात्कारे स्वात्मा स्वयमेव प्रकाशते, प्रकाशमानं च स्वात्मानं स्वयमेव विमृशति 'अहम्' इति। न तत्र किमपीन्द्रियमन्तःकरणं वा कमपि सहयोगं ददाति। स्वात्मैव स्वात्मानं स्वेनैवप्रकाशेन प्रकाशमानं साक्षात् पश्यन् विमृशति 'अहम्' इति।

अत्र कश्चिदेवं शङ्केत—यदि भारते स्वात्मसाक्षात्कार एवास्ति दर्शनं, तर्हि केन कारणेन भारतीयदर्शनविद्यासु पारस्परिकवैमत्यकृतो भेद इति। न हि स्वात्मा जनानां भिन्नभिन्नस्वरूपः। अत्रोच्यते—प्राणिनां स्वात्मात्र लोके चतसृष्ववस्थासु भिन्नभिन्नप्रकारतया प्रकाशमानः संस्तथा तथैव विमृश्यते, वर्ण्यते च। ताश्चा-वस्थाः जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुर्याख्याः। तत्र जाग्रदवस्थायां प्राणी शरीरमेवात्मानं

मन्यते। शरीरात्मवादिनो ह्यत्र चार्वाकाः। स्थूलतममेतद्दर्शनम्। सूक्ष्मं च स्वाप्नं दर्शनम्। स्वप्नावस्थायामन्तःकरणमेव जनः स्वात्मानं मन्यते। वर्तते च तदनुकूलोऽपि संसारो यत्र सूक्ष्मशरीरभाजो देवगन्धर्वादयो निवसन्ति। तदेतत् सूक्ष्मप्रपञ्चदर्शनं स्वर्गनरकादिवादिनां पौराणिकमीमांसकादीनाम्। संसारेऽत्र अन्येष्वपि राष्ट्रेषु लोकाः स्वाप्नदर्शननिष्ठाः सन्तस्तत्तत्स्वर्गलोकसुखाप्तये स्वयं यतमानास्तदर्थं चोपदेशजातं कुर्वन्तो लभ्यन्ते। किञ्चिन्मात्रसूक्ष्ममेतद् दर्शनम्। ततोऽपि सूक्ष्मतरदर्शिनो नैयायिकवैशेषिकाः। तैः पाशुपतयोगाभ्यासतः प्राप्ता स्वात्मनः सौषुप्ती स्थितिरेव परमोपादेयतया मन्यते उपदिश्यते च। सा तावत् स्थूला सुषुप्तिस्तैरपवर्गनाम्नोक्ता। तामवस्थां प्राप्तः प्राणी स्वात्मनो ज्ञानसुखादीनां विशेषगुणानां स्वामीसन्नपि न तेषु प्रवर्तते। विषयोन्मुखे ज्ञानसुखादावप्रवर्तमानः आकाशवच्छून्यतयातिष्ठन्नाधिभौतिकादिदुःखेभ्यो मुक्ति लभते। परं नैव स्वात्मनो भावात्मिकामानन्दमयतां रसयति, न चापि स्वात्मन ऐश्वर्यस्यानन्दमास्वादयति। सैषा तेषामपवर्गाख्या दशा सर्वथा प्रवृत्तिशून्यतामयी स्थितिराकाशकल्पा। तत एवोक्तं हैमे कोषे—'अपवर्गस्त्यागमोक्षयोः क्रियावसाने साफल्ये' इति। अस्यां स्थूलायां सुषुप्तौ प्राणी प्रवृत्ति परित्यजति, आधिभौतिकादिदुःखेभ्यो मुक्ति लभते, तस्य क्रियाणामन्तो भवति, जीवनं च दुःखनिवृत्तिरूपं साफल्यमवाप्नोति। सैषा स्थितिः सुषुप्तेः सोपानरूपाऽऽकाशकल्पा स्वभावतः।

अपवर्गवाद्यपेक्षया सूक्ष्मतरं सौषुप्तदर्शनं सांख्ययोगदर्शनोपासकानाम्। ते पातञ्जलयोगोपायतो निर्विकल्पां समाधिमभ्यस्य जीवनान्ते तां सुषुप्ति लभन्ते यस्यां ते बाह्यान्तः करणैरपि परित्यक्ताः सन्तः केवलत्वं भजन्ते। संसारावस्थायां ते बुद्धयोपगूढाः सन्तोऽन्तर्बहिरिन्द्रियैः सुखदुःखादिभोगान् भुञ्जते, परं तस्य कारणमविवेकः। ते हि स्वात्मानं बुद्धितत्त्वसम्मिश्रमेवाभिमन्यमानाः बुद्धिपरिणामभूतान् तांस्तान् भोगान् साक्षात्कुर्वन्तः सन्तः सुखदुःखादिभोगभाजो भवन्तोऽपि यदा स्वात्मानं बुद्धितत्त्वाद् विविक्तं पश्यन्ति, तद्विवेकं च भूयोभूयोऽभ्यस्यन्ति, तदा शरीरपातावसरे तेषां बुद्धिः सर्वैरपि बाह्यान्तःकरणैः सह तांस्त्यक्त्वा मूलप्रकृतौ विलीयते। तदा ते सर्वथा केवलत्वं लभन्ते। केवलस्य तादृशं भावं सांख्ययोगनिष्ठा दार्शनिकाः कैवल्यं कथयन्ति। सैषा कैवल्यात्मिका मुक्तिरपि कापि सूक्ष्मा सुषुप्तिरेव। अत एवाचार्याभिनवगुप्तपादैः समाधिदशापि सुषुप्तिप्रकारमध्ये गणितास्ति। परमेषा सुषुप्तिरपवर्गापेक्षया सूक्ष्मा। अस्यां सुषप्तौ निष्ठाभाजो ह्यस्माकं सांख्ययोगशास्त्रोपासकाः।

बौद्धानां राद्धान्ते सूक्ष्मस्थूलशरीरोत्तीर्णा आलयविज्ञानपरम्परैवाहमित्याकारतयावभासते। तच्चालयविज्ञानं क्षणिकविज्ञानप्रवाहात्मकमहमित्याकारतयावभासते, प्राक्तनक्लेशसंस्कारपरम्परा प्रभावतः। परं यदा क्लेशानां क्षयो जायते, तदाऽसावालयविज्ञानपरम्परापि लुप्तैव भवति। असावालयविज्ञान-

परम्परोच्छेद एव निर्वाणम्। निर्वाणं हि तावदुच्छेद एव। स च तथाविधो—मोक्षोऽभावे लयः इति। तत एवोक्तं सौन्दरानन्देऽश्वघोषेण—

'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
एवं कृतीनिर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥' इति

सैषा परा सुषुप्तिर्यस्यामालयविज्ञानात्मकस्याहमिति विमर्शस्यादि लय इव जायते।

एतदुत्तीर्णा च सुषुप्तेरसौ स्थितिर्यस्यां तुर्यदशाया अपि मनागुन्मेषो जायते। तद्वशात् तस्या अभ्यासिनः स्वात्मानमन्तर्बहिष्करणशून्यमभावतुल्यमिव दृश्यन्तोऽपि स्वात्मनः सच्चिदानन्दमयीं सत्तामवश्यमनुभवन्ति। एतत् फलं तुर्यदशोन्मेषस्य। परमुन्मिषितमात्राऽसौ तुर्या स्थितिरात्मनः स्वभावभूतं पारमैश्वर्यं नैव प्रकाशयति। ततस्ते परमेश्वरत्वं मायोपाधिकृतमसत्यमेव प्रतिपादयन्ति, न स्वात्मनः स्वभावभूतम्। स एष सुषुप्तेः प्रभावः। सच्चिदानन्दतानुभवश्च तुर्यदशोन्मेषस्य फलम्। इत्थमेता अपवर्ग-कैवल्य-निर्वाण-ब्रह्मनिर्वाणाद्या—परिभाषाः मूलतो भिन्नभिन्नानभिप्रायानभिप्रेत्यैव पूर्वगुरुभिः प्रवर्तिताः सत्योऽपि कालचक्रे प्रवहमाणे विदुषां शाब्दे प्रयोगे, ग्रन्थकाराणां च लेखनकलायां चिरादेव समानार्थकतां प्राप्ताः सन्ति भाषाविज्ञाननियमानुसारम्। परं मूलत एताः परिभाषाः सुषुप्तेः सोपानभेदेष्वाभासमानस्यात्मनः स्वरूपस्य स्वभावस्य च विचारेण भिन्नभिन्नार्थप्रतिपादकतयैव प्रयुक्ता अभवन्निति सिद्ध्यति परिभाषाणामेतासां यौगिकव्याख्यानुसारम्। रूढिर्हि योगापहारिणी। तत एव चिरादेताः समानार्थकतयैव ग्रन्थकृद्भिः प्रयुक्ताः सन्ति। तदेतद् विम्रष्टव्यं सुधीभिः। समाधेरभ्यासभाजो दार्शनिकगुरवो यतः सुषुप्तेर्भिन्नभिन्नान्येव सोपानान्याश्रितस्यैव स्वात्मनो दर्शनमवाप्तवन्तस्ततस्तेषामुपदेशा अपि भिन्नभिन्नप्रकारकाः इति नात्र दोषदर्शनस्यावकाशः। ततोऽपरोक्षमात्मदर्शनमेव हि भारतीयं दर्शनं बहुशाखाविभिन्नमपि तद्दर्शननिष्ठमेवेति विदाङ्कुर्वन्तु सुधियः।

तत्र वास्तविकतया शुद्धा या तुर्यदशोचिता दार्शनिकी दृष्टिरसौ पराद्वैतशैव-दर्शन-गुरूणामेव। तैः पातञ्जलयोगापेक्षयोत्कृष्टतरस्यागमिकस्य शाक्तशाम्भवादिरूपस्य साक्षात् स्वात्मदर्शनोपायभूतस्य शैवयोगस्याभ्यासतः तुर्यतदतीतदशयोरवस्थितस्य स्वात्मनः स्वरूपस्य साक्षात्कारमवाप्य तदनुसारमेव तस्यैव पराद्वैतसिद्धान्तस्योपदेशनं प्रतिपादनं च कृतं यदनुसारं बन्धो मोक्ष इत्युभयं पारमेश्वरलीलाविलासात्मकमेव। परमेश्वरः स्वयं जीवरूपतया जगद्रूपतया च स्वात्मानं नटवदवभासयति। तस्यैषा नाट्यलीला निग्रहानुग्रहात्मकतया द्विरूपा।

निग्रहकृत्यमभिनयन् स्वयमेवानन्तप्रकारकबद्धजीवनिकायरूपतयाऽऽत्मानमव-भासयञ्जगल्लीलामभिनयति, अनुग्रहकृत्यं चाभिनयञ्जीवान् स्वात्मनो वास्तवि-कस्य परमेश्वरतात्मकस्य स्वभावस्य प्रत्यभिज्ञां प्रति प्रेरयति। स्वात्मरूपस्य जगतः स्वतो भिन्नतयावभासं कुर्वन् सृष्टिकृत्यं करोति। सृष्टं जगन्नियतिकृत-नियमानुसारं सञ्चालयन् स्थितिकृत्यमभिनयति। काले काले च तं तं सृष्टं स्थापितं च प्रपञ्चं लयं नयन् संहारकृत्यं करोति नटवदेव। सृष्टान् जीवान् मोहान्धकारगर्त्तेष्वधोऽधो नयन् विलयकृत्यं निग्रहापरपर्यायमभिनयति, गुरुशास्त्रा-द्युपासनोपायेन केषामपि जीवानामुद्धरणं कुर्वंस्तान् भक्तिज्ञान-योगाभ्यासतो सद्गुरूपदेशानुसारं स्वात्मनो वास्तविकस्य परमेश्वरात्मकस्य स्वरूपस्य प्रत्यभिज्ञां प्रत्युन्मुखयँस्तेष्वनुग्रहकृत्यं करोति। सैषा सृष्टि-स्थिति-संहार-निग्रहानुग्रहकृत्य-पञ्चकात्मिका पारमेश्वरी स्वभावभूता लीला, यदाश्रितं सत् सर्वमपि सदसद्रूपं जगत् सदा प्रवाहरूपतया संसरति। एतस्य वास्तविकस्य सत्यस्य साक्षादनुभूत्या स्वात्मनः परमेश्वरतायाः साक्षात् प्रत्यभिज्ञैवास्य पारमेश्वरलीलाविलासस्य चरमं फलम्। तथाविधं तज्जीवनफलमास्वादयन्नेव साधको वस्तुतः कृतकृत्यो भवति, शरीरपातानन्तरं च परिपूर्णां परमेश्वरतां रसयति परमेश्वरेण साकं पूर्णमभेदमवाप्नुवन्। इत्येषास्त्युत्कृष्टतमा दार्शनिकी दृष्टिर्भारतीयानां दर्शन-गुरूणाम्। एतदनुसारं संसारस्यावभासकारिणी याऽसौ माया नासौ परमेश्वरस्य कापि बाह्या उपाधिः। किञ्च बाह्या वाऽबाह्या वा, सद्रूपावाऽसद्रूपा वा निर्वचनीया वाऽनिर्वचनीया वा, कथमसौ ब्रह्मतत्त्वं स्वभावतः शुद्धं सज्जीवेश्वर-जगद्रूपतयाऽवभासयितुं क्षमेत। चेत्तथा कर्तुं समर्थाऽभविष्यत्, तदा तस्या एवोत्-कृष्टत्वं सिद्धयेदकिञ्चित् करस्य ब्रह्मतत्त्वस्यापेक्षया। किञ्च सद्रूपा वाऽसद्रूपा वा। निर्वचनीया वाऽनिर्वचनीया वा यदि सा ब्रह्मणो भिन्ना माया क्वाप्यभविष्यत् तदा द्वैतवाद आपतेत्। एतैः कारणैरसौ मायावादो नैव यथार्थदर्शनवादः। केवलं कलहायमानैर्विज्ञानवादिभिः साकं कलहकरणसाधनभूत एवासौ वादो न तुर्य-दर्शनानुभूतिनिष्ठ इति वेद्यं सुधीभिः। तत एव गौडपादाचार्येण सुभगोदयस्तुतौ, शङ्कराचार्येण च सौन्दर्यलहर्यां शैवस्य पारमैश्वर्यवादस्यैव माहात्म्यं गीतमस्ति। शाङ्करेषु मठेष्वद्यापि शैव्याः श्रीविद्योपासनायाः परम्परा प्रचलति। भासुरानन्द-नाथतुल्यैर्वेदान्तगुरुभिरपि प्रकर्षं प्रापिताऽऽगमिकी परमेश्वरता स्वग्रन्थेषु। माया-वादश्च केवलं विज्ञानवादिभिः साकं कलहप्रपञ्चे एवोपयोगी, न स्वात्मविज्ञानो-पार्जने। ततो नासौ माया ब्रह्मणो बाह्या काप्युपाधिरपितु तस्य स्वात्मभूता-ऽसम्भवस्य सम्भवत्वकारिणी स्वातन्त्र्यात्मिका शक्तिरेवेति हि सैद्धदर्शन-सिद्धान्तः।

इत्थं सर्वास्वपि दर्शनविद्यासूत्कृष्टैषा परा दर्शनविद्या यदनुसारं परमेश्वर एव हि सर्वं जगत्, किञ्च यदनुसारं विश्वमपि जगत् परमेश्वरे शुद्ध चिद्रूपतया,

पारमैश्वर्यशक्तिरूपतया च सदा विद्यमानमेव सत् तदैश्वर्यलीलयैव सृष्टि-स्थिति-संहार-विधानानुग्रहलीलाविषयतामुपयाति। एवं विधानस्य दर्शनतत्त्वस्य ज्ञानं विज्ञानं च पुराकाले ऋषीणां सकाशेऽविद्यत। प्राप्ते च कलिकाले यदा ते ऋषयः कलापिग्रामप्रमुखानि मानवदृष्ट्या अदृश्यानि स्थानानि प्रति प्रयातास्त-दाऽस्याः शैव्याःदर्शनविद्याया उच्छेद इव जातः पृथिव्याम्। विरलविरला अधिकारिजनास्तेषामृषीणामनुग्रहतोऽस्याः प्रयोगप्रक्रियां यदा कदाचिदवाप्त-वन्तः। तैश्च तत्र तत्र स्वकीयेषु स्तोत्रादिषु मनाक् प्रतिपादिता परमरहस्यात्मिक-यैव शैल्या। तत्र तत्र मनाक् समुन्मेषं प्राप्तवत्येषा पराऽऽध्यात्मविद्याऽस्मादृशैर्जनैः सैद्धदर्शनमिति नाम्ना क्वचित् क्वचित् स्मृताऽस्ति। एतेषां सैद्धदर्शनग्रन्थानां मध्ये महाकवि श्रीवत्स-कृता चिद्गगनचन्द्रिका, श्रीसिद्धनाथापरपर्याय-श्रीशम्भुनाथकृतं क्रमस्तोत्रं, श्रीस्वतन्त्रानन्दनाथविरचितो मातृकाचक्रविवेकः, श्रीविरूपाक्षनाथविरचिता विरुपाक्षपञ्चाशिका इत्यादीनि ग्रन्थरत्नानि लोके-ऽद्यापि लभ्यन्ते। सर्वाण्यप्येवंविधानि शास्त्राणि रहस्यमय्या शैल्या विरचितानि रहस्यसाधनोपायपरैरेव सम्यगवबोध्यानि सन्ति।

कश्मीरेषु कैश्चन वसुगुप्तादिसिद्धैः शिवसूत्रादय आगम ग्रन्थाः शिवाद-वाप्ताः। तत्रैव निवसता श्रीभट्टकल्लटाख्येन सिद्धेनास्य सैद्धदर्शनस्य मनाक् स्फुटं प्रतिपादनं स्वकीयेषु ग्रन्थेषु कृतं नवम्यां शताब्द्याम्। परं तस्य ते ग्रन्था इदानीं नैव लभ्यन्ते क्वापि। एकमात्रा सवृत्तिका स्पन्दकारिकैव लभ्यास्तीदानीम्। स्पन्दात्मकस्य स्वात्मनः स्वभावस्यानुशीलनं प्रकुर्वता श्रीसोमानन्देनास्य सैद्ध-दर्शनस्य प्रतिपादनं तर्कात्मिकया शैल्या स्वकृतायां शिवदृष्टौ कृतं सविस्तरम्। तस्य शिष्येण श्रीमदुत्पलदेवेनास्योत्कृष्टोत्कृष्टतरस्य सैद्धदर्शनस्य स्फुटतरं सविस्तरं च प्रतिपादनं स्वकीयेषु ग्रन्थेषु कृतं न्यायदर्शनप्रतिपादितया शैल्या। तस्य ग्रन्थेषु मुख्यं ग्रन्थद्वयम्। तच्चेश्वरप्रत्यभिज्ञाख्यं सिद्धित्रयीसमाख्यं च। उत्पलदेवाचार्यस्य प्रशिष्येणैषा सैद्धदर्शनस्य विद्या परिपूर्णं विकासं प्रापिता स्वकीयेषु ग्रन्थेषु टीकासु च। तत्र सिद्धान्तपक्षे ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तद्विवृतिविमर्शिनी चेति मुख्यं ग्रन्थद्वयमद्यापि लभ्यते, प्रयोगपक्षे च तन्त्रालोक-तन्त्रसारौ, मालिनी विजयवार्तिकं, परात्रीशिका विवरणं चेति मुख्यं ग्रन्थचतुष्टयमद्यापि सुलभमस्ति।

श्रीमदभिनवगुप्तशिष्येण क्षेमराजेन स्वकीयं प्रकृष्टं बुद्धिवैभवं तथा वैदुष्यं, ग्रन्थविरचननैपुण्यं च प्रख्यापयितुं द्रविडप्राणायामकल्पां नीतिमुपादायाभिनवया स्वकल्पितया दृष्टया केषामपि शिवसूत्रादिग्रन्थानां पुरातन—गुरुपरम्पराविप-रीतया नीत्या व्याख्याः विरचयता प्रचारयता चेदं परमोत्कृष्टं सैद्धदर्शनं विकास-मार्गादपनीय विकारमार्गे प्रवाहितं मनाक्। तदनन्तरं बहुभिराचार्यैस्तस्यैव सरणिः समाश्रिता। इदानीन्तनाः शोधकार्यविचक्षणा विद्वांसोऽपि तस्यैव सरणिमनुसरन्तो दृश्यन्ते भारतेऽपि पाश्चात्यदेशेष्वपि। सैषा कलिकालोचिता सरणिः।

वर्तमानशतकस्यारम्भे शिवशिष्यभूतेन महामुनिना श्रीदुर्वाससा प्रत्यक्षं दर्शनं प्रदायास्य सैद्धदर्शनस्य मुख्यायाः साधनप्रक्रियायाः साङ्गोपाङ्ग उपायो वाराणस्यां श्रीवैद्यनाथवरकले नाम्ने शास्त्रज्ञाय यूने प्रदत्तः। तस्योत्कृष्टतरस्य शाम्भवोपायस्याभ्यासेन वैद्यनाथशास्त्री सैद्धदर्शनस्य परमरहस्यात्मकानामुत्कृष्टतराणां सिद्धान्तानामपरोक्षामनुभूतिमवाप्य कृतकृत्यो भूत्वा केनापि कालेनात्मविलासादिनामकान् ग्रन्थान् अमृतवाग्भवेति निजनाम्ना निर्माय व्याख्याय च सन् १९८२ तमे खृस्ते वर्षे शिवलोकं प्रति समुत्क्रान्तवान्। स एष संक्षिप्त इतिहासोऽस्य सैद्धदर्शनविकासस्य। वर्तमानं शतकं यावदभूवन्नस्य सैद्धदर्शनस्य विद्वांसः कश्मीरमण्डले। परं ते क्रमशः परलोकं गताः। ये च शोधविद्वांसो दृश्यन्तेऽन्यत्र वा भारतवर्षे पाश्चात्यदेशेषु वा, ते प्रायशः सर्वेऽपि क्षेमराजक्षुण्णामसत्सरणिमनुसरन्ति; पथप्रदर्शकत्वेन च वर्तमानयुगे शोधकार्यप्रवृत्तानां श्रीच्याटुर्जी डाक्टर-पाण्डेय प्रभृतीनां क्षेमराजीयमार्गानुसारिणां विदुषां ग्रन्थानाश्रयन्ति। तेन कारणेनासत्सरणौ प्रवाह्यते सुसमुत्कृष्टमेतत् सैद्धदर्शनम्।

एवं विधायां स्थितौ भगवतः शिवस्य प्रेरणया डा० श्रीमण्डनमिश्रमहाभागाः कञ्चित् कालं जम्मूपुरस्थे संस्कृतविद्यापीठे प्रधानाचार्यपदं निर्वोढुमागताः गतस्य-दशकस्यान्ते। तेषां स्वभावभूतया समुचिततत्तत्कर्तव्यपरायणतया तैरेवं सङ्कल्पितं यज्जम्मूकश्मीरराज्ये सर्वोत्कृष्टतया प्रसिद्धायाः काश्मीरशैवदर्शनाख्यायाः सैद्धदर्शनविद्यायाः कापि सुविशिष्टा प्रचारप्रसारसेवा विधेया तत्रस्थे विद्यापीठे इति। तदर्थं तैरनेकेषु विद्याकेन्द्रेष्वन्वेषणं विधायान्ततो गत्वा शिमलायां हिमाचलविश्वविद्यालयेऽध्यापककार्यरतेन वर्तमानलेखरचयित्रा साकं सम्पर्कः स्थापितः। परस्परविचारविमर्शानन्तरं विशेषपरियोजनानुसारं तेषां सततसाहाय्येन जम्मूविद्यापीठे दशभिर्वर्षैः शब्दकल्पद्रुमशैलीमनुसृत्य काश्मीरशैवदर्शनस्य बृहत्कोषस्य निर्माणं पूर्णतां यातम् १९९० तमे वर्षे। मध्ये मध्ये यदाकदापि काचन बाधा समुपस्थिता, तदा तदा तैः स्वकीयया कार्यपटुतया प्रशासनप्रवीणतया चाल्पेनैव यत्नेन तस्या निवारणं कृतं यावत्ते राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य निदेशकपदमलमकुर्वन्। कियतः खेदस्यायं विषयो यदद्यापि तस्य बृहत्कोषस्य मुद्रणं नैव पूर्णतां यातम्। मुद्रितेन तेन कोषेणैकतो दुर्बोधानां विषयाणां सुष्ठु ज्ञानं सुलभमभविष्यत्, अपरतश्च भट्टकल्लटादारभ्याभिनवगुप्तमहोदयान्तं येऽस्य समुत्कृष्टतरस्य सैद्धदर्शनस्य महागुरवस्तेषां विचारैः साकं विपरीता ये विचाराः क्षेमराजेन प्रवर्तिताः, वर्तमानकालिकैश्च शोधकार्यविद्वद्भिरनुसृतास्तेषां क्रमशो निवारणमभविष्यत्।

भारतीयदर्शनविद्यासु समुत्कृष्टतमायाः एतस्याः काश्मीरशैवदर्शनेतिनाम्ना सुप्रसिद्धायाः, सुविशिष्टायाः, सिद्धान्तपक्षे प्रयोगपक्षे चोभयत्र सुसमृद्धायाः सुविकासं च प्राप्तायाः सैद्धदर्शनविद्यायाः माहात्म्यं कियद् गीयेत, सुजनैः। वर्तमाने युगे ताव-

देषा सैद्धविद्या श्रीकृष्णादीनां गुरूणामपिगुरुणा महामुनिना श्रीदुर्वाससाऽस्मद्गुरु-वर्येभ्यस्तदा वितीर्णा यदा ते षोडशवर्षीया एवासन्। महामुनिनोपदिष्टस्य शाम्भ-वस्य योगस्याभ्यासेन तैरस्या विद्यायाः सिद्धान्ताः साक्षादनुभवविषयतामुपनीताः। आत्मविलासः, विंशतिकाशास्त्रम्, सिद्धमहारहस्यम्, महानुभवशक्तिस्तवः, मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, इत्याद्याः तैर्विरचिता ग्रन्थाः प्रकाशिता लभ्यन्ते। तत् प्रकाशन-कर्मण्यपि श्रीमद्भिर्मण्डनमिश्रमहोदयैः प्रोत्साहनं कृतम्। राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान-निदेशकपदस्थैश्च तैः श्रीनगर्यां शैवदर्शनविषयमधिकृत्यैका विद्वत्सङ्गोष्ठ्यपि-सहोत्साहमायोजिताऽभूत्। एकं शोधकेन्द्रमपि तत्र स्थापितम्। विविधं सुप्रभूतं च वाङ्मयं सैद्धदर्शनस्योपहरन्ती भारतीया दर्शनविद्यैषा सदैव वन्द्या सर्वैः सुजनैः।

# मध्वसिद्धान्त का संक्षिप्त सर्वेक्षण*

**—विद्याकलानिधि श्रीचन्द्रकान्त दवे 'दार्शनिक'**

श्रीमन्मध्वाचार्य का जन्म विजयादशमी (आश्विनसाम) के दिन हुआ था। श्री मध्वाचार्य ने ७९ वर्ष की आयु प्राप्त कर अपनी इह लोक लीला का संवरण किया। उनका काल तेरहवीं शती (१२३८-१३१८) था। उपर्युक्त जीवन काल में उन्होंने उडुपी में आठ मठों की स्थापना की तथा अपने आठ बाल संन्यासी शिष्यों को दिन में ९ बार श्रीभगवान् श्रीकृष्ण की उपासना तथा पूजन का आदेश दिया। यह पूजन ७५० वर्षों से आज भी निरन्तर उसी प्रकार व्यवधान रहित अव्यवहित रूप से चल रहा है जैसा कि आचार्यपाद ने अपने समय में चलाया था। श्री मध्वाचार्य जी ने भागवत को लोकप्रिय बनाया तथा एकादशी व्रत के महत्त्व एवं परम पावनत्व पर जोर दिया। इसी प्रकार यज्ञों में प्रत्यक्ष पशु बलि का निषेध कर पुस्त या पिष्ट पशु (आटे का बनाया हुआ पशु प्रतिरूप) की बलि का विधान किया। कहा जाता है कि आचार्य को शरीर छोड़ते किसी ने नहीं देखा। अपने शिष्यों को ऐतरेय उपनिषद् का उपदेश करते-करते आचार्य अन्तर्हित हो गये, गायब हो गये। प्रसिद्धि है कि आचार्य मध्व श्री हनुमान् जी तथा भीम के अवतार थे। रामावतार के समय श्री हनुमान् के रूप में तथा कृष्णावतार के समय भीम के रूप में आचार्य मध्व ही भगवान् नारायण चरणारविन्द सेवा परायण थे। श्री मध्वाचार्य का ही नाम आनन्द तीर्थ तथा पूर्णबोध या पूर्णप्रज्ञ भी है। आचार्य का यह सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाता है। सर्वप्रथम वायुदेव ने श्री हनुमान् जी को इस मत का उपदेश किया। हनुमान् जी ने भीम को तथा भीम ने आनन्द तीर्थ को उपदेश किया, ऐसी प्रसिद्धि है।

आचार्यपाद ने लगभग ३७ ग्रन्थों की रचना की। उनमें सर्व प्रमुख—ब्रह्मसूत्र भाष्य अनुव्याख्यान (सूत्रों की अल्पाक्षरावृत्ति) तथा उसकी टीका न्यायविवरण। ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य, गीता भाष्य, भागवत तात्पर्य निर्णय गीता तात्पर्य निर्णय, महाभारत तात्पर्य निर्णय, विष्णु-तत्त्व निर्णय, प्रपञ्चमिथ्यात्व निर्णय तथा तन्त्रसार संग्रह हैं। आचार्य के जीवन वृत्त को जानने के लिए नारायण पण्डित विरचित, मध्वविजय तथा मणिमञ्जरी नामक ग्रन्थ देखने चाहिए।

---

*इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कलाकेन्द्र कलाकोश विभाग नयी दिल्ली के प्रतिष्ठा दिवस व्यास पूर्णिमा २२ जुलाई १९९४ के समारोह के अवसर पर प्रदत्त प्रमुख व्याख्यान।

इस मत के अन्य प्रमुख सिद्धान्त प्रतिपादक आचार्य जयतीर्थ (१४वीं शती) —तत्त्वप्रकाशिका, तत्त्वोद्योत, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान, प्रमाणलक्षण, न्यायदीपिका (गीताभाष्यटीका) टीका आदि, टीका ग्रन्थ तथा प्रमाण पद्धति (जिस पर आठ टीकाएँ बाद में लिखी गयीं) तथा वादावली नामक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचनाएँ हैं।

**व्यासतीर्थ** (१५वीं शती)—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायामृतम् है जिसके खण्डन में मधसूदन सरस्वती द्वारा अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ लिखा गया। कतिपय अन्य ग्रन्थ यथा तर्कताण्डव तात्पर्य चन्द्रिका (तत्त्वप्रकाशिका की टीका) मन्दारमञ्जरी भेदोज्जीवन, मायावाद खण्डन टीका प्रसिद्ध है। न्यायामृतम् पर सम्प्रदायाचार्यों की १० टीकाएं हैं।

**रघूत्तमतीर्थ** (१५५७-१५९६ ई)—इन्हें भाववोधाचार्य भी कहा जाता है। क्योंकि विष्णुतत्त्व निर्णय तथा जयतीर्थ कृत तत्त्वप्रकाशिका पर भावबोध नामक टीकाएँ इन्होंने लिखी हैं।

**वनमाली मिश्र** (१७वीं शती)—इन्होंने अप्पयदीक्षित कृत माध्वमुखमर्दन का खण्डन माध्वमुखालङ्कार लिखकर किया है। तथा न्यायमृत सौगन्ध्य नाम से अद्वैतसिद्धि का खण्डन तथा तरंगिणी सौरभ नामक ग्रन्थ द्वारा गौड़ ब्रह्मानन्दी का खण्डन लिखा है।

**सिद्धान्त**—मध्व सिद्धान्त अपने आप में एक विशेष अनूठा अलग प्रकार का सिद्धान्त है। यह द्वैतवादी होने के साथ-साथ ही ईश्वरवादी अस्तिक वास्तववादी तथा बहुतत्त्ववादी दर्शन भी है (Theistic Realistic and Pluralistic)। यह दर्शन उन सभी पदार्थ, द्रव्य या गुण के प्रकारों को स्वीकार करता है, जिनकी सत्ता तर्क तथा शास्त्र से प्रमाणित की जा सकती है। तदनुसार माध्व पदार्थ मीमांसा में दस पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य, तथा अभाव मान्य हैं। यद्यपि मूलत: पदार्थों के न्यायदर्शनानुसारी व्याख्या को मानते हुए भी माध्वमत की अपनी विशेषता प्रत्येक पदार्थ के व्याख्यान में झलकती है। सर्वथा साम्य नहीं है। न्यायवैशेषिक केवल मात्र द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव सात ही पदार्थ मानता है। जबकि इस दर्शन में समवाय का कोई स्थान नहीं तथा विशिष्ट, अंशी ये दो पदार्थ इस दर्शन की अपनी विशेषता है। शक्ति तथा सादृश्य ये दो पदार्थ मीमांसा आदि कतिपय अन्य दर्शन भी मानते हैं, न्यायवैशेषिक में द्रव्य नौ प्रकार का है परन्तु यहां द्रव्य के बीस प्रकार हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहङ्कार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल, और प्रतिबिम्ब।

इसी प्रकार गुण भी वैशेषिकोक्त चौबीस के अतिरिक्त हैं। गुणों में साधनोपयोगी शम दम तितिक्षा उपरति सौन्दर्य आदि का भी समावेश कर लिया गया है।

कर्म के भी मुख्यतः तीन भेद—विहित, निषिद्ध, उदासीन किये गये हैं। वस्तुतः अन्यत्र ये तीन प्रकार, शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड या क्रियाकलाप को दर्शाते हैं और धर्मशास्त्रानुसारी कर्म भेद कहे जा सकते हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण से वैशेषिकोक्त उत्क्षेपण अपक्षेपण, आकुञ्चन प्रसारण, गमन ही युक्ति युक्त प्रतीत होते हैं। यह मध्वसिद्धान्त की विशिष्ट दृष्टि है जिसमें केवल दार्शनिकता नहीं, अपितु धार्मिक और भक्त दृष्टि का मिश्रण भी झलकता है। उदासीन कर्म को परिस्पन्दात्मक मानकर उपर्युक्त उत्क्षेपण अपक्षेपण आदि अनेक वैशेषिकोक्त कर्मों का अन्तर्भाव उसी में किया गया है।

इसी प्रकार सामान्य के दो प्रकार नित्यानित्य जाति उपाधि रूप दो वर्गों के रूप में किये गये हैं। भेद रहे या न रहे परन्तु भेद व्यवहार निर्वाहक पदार्थ विशेष कहलाता है। ये विशेष अनन्त हैं। "भेदाऽभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः।" परमात्मा में भी विशेष की सत्ता माननी पड़ती है। इस विशेष के कारण ही विज्ञानानन्द रूप परमात्मा का भेद दिखायी पड़ता है। विशेष जगत् के सभी पदार्थों में रहता है। अनन्त है। विशेषण युक्त पदार्थ विशिष्ट कहलाता है। अवयवों से भिन्न किन्तु अवयव विशिष्ट पदार्थ अंशी कहलाता है। अन्य दर्शनों में इसे अवयवी कहा गया है। परन्तु पृथक् पदार्थ के रूप में इसकी सत्ता नहीं मानी गयी। अवयव विशिष्ट द्रव्य ही अवयवी है।

सादृश्य—"तद्भिन्नत्वे सति तद्गत भूयो धर्मवत्त्व रूप" ही यहाँ भी माना गया है।

अभाव की व्याख्या अन्य दर्शनों के समान ही है। शक्ति पदार्थ, मीमांसकोक्त शक्ति नहीं, अपितु भक्ति की दृष्टि से, भगवान् विष्णु नारायण, परमात्मा आदि के सामर्थ्य की व्याख्या के दृष्टिकोण से स्वीकार किया गया है। इसी कारण शक्ति के चार भेद किये गये हैं। अचिन्त्य शक्ति, आधेय शक्ति, सहज शक्ति, पद-शक्ति। अचिन्त्य शक्ति भगवान् विष्णु के अलावा और कहीं नहीं रहती। यह अघटन घटनापटीयसी है। क्योंकि श्री विष्णु में ही विचित्र विलक्षण कार्य करने का अलौकिक सामर्थ्य होता है। इस शक्ति के कारण ही परमात्मा में विषम गुणों की सर्वदा सर्वकालीन सत्ता की व्याख्या सम्भव है। लक्ष्मी वायु आदि की शक्तियाँ परमात्मा की अपेक्षा कोटिशः न्यून होती हैं।

अन्य द्वारा अन्य में स्थापित शक्ति आधेय-शक्ति कहलाती है। "अन्याहित-शक्तिराधेयशक्तिः।" जैसे प्रतिमा में विधिवत् प्राण प्रतिष्ठा के अनन्तर देवत्व का आधान। यह देव सान्निध्य ही प्रतिमागत, आधेय शक्ति है। लौकिक उदाहरण जैसे कामिनी कमनीय पादाघात से अशोक वृक्ष का पुष्पित होना। औषध या

स्वच्छताधायक पदार्थों के घर्षण या लेप से कांस्य आदि धातुपात्र का स्वच्छ होना।

प्रत्येक कार्य के अनुकूल कार्य स्वभावरूपा शक्ति सहज शक्ति कहलाती है। यह सभी पदार्थों में समान रूप से उनकी अपनी-अपनी स्वाभाविक शक्ति के रूप में रहती है। यह नित्य पदार्थ में नित्य और अनित्य पदार्थ में अनित्य होती है।

पद और पदार्थ का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध ही पद शक्ति है। इसके दो भेद हैं मुख्या और परम मुख्या। जैसे इन्द्र शब्द का देवराज रूप अर्थ मुख्यावृत्ति से तथा परमेश्वर रूप अर्थ परम मुख्या वृत्ति से होता है।

परमात्मा—भगवान् श्री विष्णु ही परमात्मा हैं। वे अनन्त गुण परिपूर्ण हैं। भगवान् में गुणों की स तिशयता नहीं अपितु निरतिशयता है, निरवधित्व है। उत्पत्ति स्थिति, संहार, नियन्त्रण, ज्ञान, आवरण, बन्ध, मोक्ष, ये आठों श्री विष्णु के अधीन हैं। श्री विष्णु ही इनके कर्ता हैं। उनकी कृपा के बिना मोक्ष आदि नहीं हो सकते। वे ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् हैं। सर्वज्ञत्व श्री भगवान् में परममुख्या वृत्ति से ही माना जाता है। वे जीव, जड़ तथा प्रकृति से सर्वथा भिन्न हैं। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही उनका शरीर है। इसीलिए निखिल कल्याण गुण-गण निलय कहलाते हैं। शरीरधारी होने पर भी नित्य तथा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। एक होते हुए भी अनेक रूपधारी हैं। उनके सभी रूप मत्स्य कूर्म आदि अवतार स्वयम् में परिपूर्ण हैं। श्री भगवान् सर्वदा अपने अवतारों से अभिन्न हैं। मध्व दृष्टि में भगवान् तथा उनके अवतारों में भेद नहीं किया जा सकता। साथ ही भगवान् निर्गुण निराकार भो नहीं। इस मत में भगवान् सगुण हैं। अकर्ता नहीं प्रत्युत बन्ध मोक्ष आदि के कर्ता हैं। श्रीमद्भागवत के निम्न श्लोक को इस विषय में आचार्य प्रमाण मानते हैं।

**द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।**
**यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥**

द्रव्य, गुण, कर्म, काल, स्वभाव, जोव इन सबकी स्थिति तथा सत्ता भगवान् की कृपा पर निर्भर है। यदि भगवान् की कृपा है तो ये सब हैं और यदि भगवान् की ओर से उपेक्षा है तो ये नहीं हो सकते। अवत।र आदि के विषय में निम्न श्लोक आचार्यपाद ने कहा है—

**"अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तितताः।"**
**पूर्णं च तत् परं पूर्णं पूर्णात् पूर्णाः समुद्गताः।**
**न देशकाल सामर्थ्यैः पारावर्यं कथञ्चन॥**

भगवान् के सभी अवतार पूर्णावतार हैं। अंशावतार नहीं। अंशावतार के पौराणिक उद्धरणों को आचार्य स्वीकार करते प्रतीत नहीं होते। क्योंकि भगवान् में या उनके अवतारों में देश काल की सामर्थ्य या शक्ति का प्रभाव नहीं हो सकता अतः देशकाल भेद से या शक्ति से उनमें न्यूनाधिकभाव (पारावर्य) कैसे सम्भव है।

समग्र उपनिषदों का प्रमुख उद्देश्य और महत्त्व केवल मात्र श्रीमन्नारायण के ही एक मात्र स्वरूप का प्रतिपादन करना है। श्री विष्णु परमात्मा सकल दोषाशङ्का विनिर्मुक्त हैं। आचार्य मध्व ने अनेक उपनिषदों के स्वरचित भाष्यों में यही निष्कर्ष निकाला है। न केवल उपनिषद् व्याख्यान अपितु श्रीमद्भगवद् गीता एवं ब्रह्मसूत्रों की चार व्याख्याओं का भी यही निष्कर्ष है। महाभारत तात्पर्य, भागवत तात्पर्य निर्णय तथा श्री विष्णु तत्त्व निर्णय भी इसी ओर इंगित करते हैं।

आचार्य मध्व इस बात से किञ्चित् भी चिन्तित नहीं थे कि शास्त्रों में भगवान् का विभिन्न रूपों में विभिन्न प्रकार से प्रदिपादन है। इसे उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया। महत्त्व केवल इसी बात में है कि शास्त्रों का उद्देश्य और मूल अभिप्राय तथा निष्कर्ष क्या है। विभिन्न प्रकार से विभिन्न रूपों में भगवान् के वर्णन करने का एकमात्र उद्देश्य आचार्य यही मानते हैं कि, इसके द्वारा भगवान् नारायण श्री विष्णु ही एकमात्र सर्वोपरि, सर्वोच्च (Supreme) सर्वोत्तम पुरुषोत्तम रूप परम तत्त्व हैं। शास्त्रों में कहीं भगवान् परमात्मा सकल गुणगण निलय तो कहीं क्लेश कर्म विपाक आशय, समग्र भूतभौतिक प्राकृतिक गुणदोष से सर्वथा सर्वदा शाश्वत विनिर्मुक्त, तो कहीं वाङ्मनसातीत, तो कहीं अनिर्वर्ण्य अचिन्त्य-स्वरूप (परमात्मा का) वर्णित हैं जिससे परमात्म स्वरूप को पहचानना एक रहस्य हो जाता है। परन्तु आचार्य मध्व के अनुसार इसका यह तात्पर्य बिलकुल नहीं कि परमात्म स्वरूप अनिश्चित है अथवा निर्णीत नहीं किया जा सकता सर्वथा अनिर्णीत ही है। जैसा कि आचार्य शङ्कर कहते हैं परमात्म स्वरूप अप्रतर्क्य अनिर्वर्ण्य अवाङ्मनोगोचर अद्वितीय है। मध्व मत में अद्वितीय का तात्पर्य द्वितीय का अभाव नहीं परन्तु अनुपमेय परम तत्त्व के रूप में ही भगवान् की स्थिति है। जगत् प्रपञ्च की वास्तविकता के निषेध में उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य नहीं। विभिन्न प्रकार से अद्वितीयता का प्रतिपादन अथवा वस्तुजगत् के निषेध का तात्पर्य केवल मात्र यही है कि समग्र जगत्प्रपञ्च ईश्वर के आश्रित है। अधीन है। उसकी सृष्टि, स्थिति, लय ईश्वर के अनुग्रह पर निर्भर है। संसार के सभी पदार्थ सर्वथा पूर्ण रूप से ईश्वर पर निर्भर (utter dependence) या आश्रित हैं। परमात्मा की कृपा के अभाव में उनकी कोई सत्ता कोई स्थिति नहीं। जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में श्रीमद्भागवत के उद्धरण से स्पष्ट किया जा चुका है। जगत्प्रपञ्च ही क्या सांसारिक जीवों की स्थिति भी ईश्वराधीन है। काल, कर्म,

प्रकृति, पदार्थ, जीव सब की सत्ता ईश्वर की इच्छा के अधीन है। भगवान् श्रीमन्-नारायण चाहते हैं इसीलिए इन सबकी सत्ता है। यदि वे उपेक्षा कर दें और न चाहें तो समग्र जगत्प्रपञ्च या उपर्युक्त काल कर्मादि जागतिक पदार्थों की सत्ता विलीन हो जायेगी। आचार्य मध्व के द्वैत दर्शन का सर्वोत्तम सर्वोच्च वैशिष्टय यह है कि उनके मत में ईश्वर सर्वोत्कृष्ट पुरुषोत्तम पूर्ण पुरुष है। उनका मानना है कि इस प्रकार के पुरुषोत्तम तत्त्व या परब्रह्म तत्त्व को अनिर्वण्य कहना वैसा ही है जैसा उसकी असत्ता कहना या ईश्वर को असत् पदार्थ की कोटि में रखना या असत् के समकक्ष कहना। आचार्य का कहना है कि निर्गुण निराकार तत्त्व पर अध्यास या अध्यारोप कैसे सम्भव है (Super imposition on the entity which is attributeless)। आचार्य के मत में अद्वैतवादियों की यह स्थिति बड़ी विचित्र और शोचनीय है। आचार्य मध्व द्वैतवादी हैं, अतः उनके अनुसार दो तत्त्व (categories) हैं एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नित्य (Independent Real) नारायण तत्त्व और दूसरा उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ। किन्तु यह द्वितीय तत्त्व अवास्तविक नहीं अपितु वास्तविक (Real) है। परन्तु भेद यही है कि यह 'तदधीन' है। नारायण पर निर्भर (Dependent Real) है आश्रित है। जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का वर्णन मुण्डकोपनिषद् के—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। मन्त्र द्वारा भलीभांति किया गया है। एक पक्षी जीवात्मा भिन्न-भिन्न स्वाद वाले फलों (कर्मफलों) का भोक्ता है तथा अन्य केवल साक्षी है द्रष्टा है। वह कर्मफल नहीं भोगता। जीवात्मा संसार में भटका हुआ है। भूला हुआ है, दुःख से संत्रस्त है। संसार सागर में निमग्न है। परन्तु जब ईश्वर के परम अनुग्रह से जीव, जगत्कर्ता, सर्वकर्ता सर्वभर्ता हैमवर्ण (रुक्म वर्णं कर्तारं पुरुषमीशम्) पुरुष ईश्वर की एक झलक पा जाता है तो वह पापमुक्त होकर, मुक्ति की ओर बढ़ जाता है।

उपर्युक्त तथा इस प्रकार के अन्यान्य वैदिक मन्त्र प्रमाणों के द्वारा आचार्य मध्व यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रत्येक जीवात्मा (Individual Soul) सदा सर्वदा ईश्वर से भिन्न रहता है तथा ईश्वर के अधीन आश्रित या निर्भर रहता है। ईश्वर जीव का स्वामी है, और जीव एक प्रिय स्वामिभक्त सेवक के समान है। ईश्वर ही मुक्ति या मोक्ष प्रदान करने वाला है। जो जीव पूर्णतः ईश्वर की शरण में जाते हैं, उन पर दयाकर ईश्वर उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं। मुक्ति के अनन्तर भी जीव ईश्वर के समान या समकक्ष नहीं हो जाते भिन्न ही रहते हैं। वे किसी भी प्रकार से ईश्वर कोटिक नहीं बन पाते। मुक्त जीवों द्वारा अनुभूयमान आनन्द आह्लाद में मात्रा भेद (gradation) है। यद्यपि सभी जीव आनन्द की मात्रा का अनुभव करते हैं तथा दुःख के लेश से भी सम्पृक्त नहीं होते। और साथ ही संसार में उनका पुनरावर्तन भी नहीं होता। भगवान् नारायण की कृपा के बिना मोक्ष

प्राप्ति नहीं होती और ज्ञान के बिना नारायण तत्त्व को उपलब्धि नहीं हो सकती— कहा भी है—

यतो नारायणप्रसादमृते न मोक्षः। न च ज्ञानं विनाऽत्यर्थप्रसादः, अतो ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या।" "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।"

आचार्य मध्व के अनुसार ब्रह्मपद भगवान् श्री विष्णु के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इसमें प्रमाण प्रस्तुत करते हुए आचार्य ऋग्वेद के मन्त्र पर स्कन्द पुराण की टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं—

**अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वा भुवनानि तस्थुः।**
**अजस्य नाभाविति यस्य नाभेरभूच्छ्रुतेः पुष्करं लोकसारम्॥**
**तस्मै नमो व्यस्तसमस्तविश्वविभूतये विष्णवे लोककर्त्रे।**

और कहते हैं—"न च प्रसिद्धार्थं विनाऽन्योऽर्थोयुज्यते।"

**यमन्तस्समुद्रे कवयोऽवयन्ति तदक्षरे परमे प्रजाः।**
**यतः प्रसूता जगतः प्रसूतीतोयेन जीवान्व्यससर्ज भूम्याम्॥**

तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् "तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्"।

**नामानि विश्वाभि न सन्ति लोके यदाविरासीदनृतस्य सर्वम्।**
**नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति तं वै विष्णुं परममुदाहरन्ति॥**

"यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवनान्त्यन्या।"

श्री विष्णु के अतिरिक्त और किसी के सभी नाम नहीं हो सकते। "एव शब्दान्नान्येषां सर्वनामता" ऊपर के मन्त्र में "अन्तःसमुद्रे" पद की व्याख्या में कहा गया—"समुद्रेऽन्तर्नारायणः।" अतः निष्कर्ष रूप में—

**वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।**
**आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते॥**

और—

**उत्पत्तिस्थिति संहाराः नियतिर्ज्ञानमावृतिः।**
**बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यस्मात्स हरिरेकराट्॥**

'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र के अभिप्राय में कहा—"सृष्टि स्थितिसंहार नियमन ज्ञानाऽज्ञान बन्धमोक्षा यतः।"

परमात्मा की शक्ति लक्ष्मी हैं। यह केवल परमात्मा के ही अधीन रहती हैं। इसी कारण लक्ष्मी—परमात्मा से भिन्न है। इस मत में शक्ति और शक्तिमान्

का अभेद संभवतः स्वीकार नहीं। तान्त्रिक मत में दोनों का अभेद मान्य है। "परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः।" म०सि०सा० लक्ष्मी परमात्मा से गुणादिक में अपेक्षाकृत कुछ न्यून ही होती है। भगवान् के समान लक्ष्मी भी नित्य-मुक्ता है। अनेक रूप धारण करने वाली श्री विष्णु की भार्या मानी जाती हैं। परमात्मा श्री भगवान् के समान लक्ष्मी भी अप्राकृत दिव्य देह धारण करने वाली है। श्री मध्वाचार्य के मतानुसार ब्रह्मा, रुद्र आदि अन्य देवगणों के शरीरों का क्षरण होता है अतः वे क्षर कहलाते हैं। "क्षरः सर्वाणि भूतानि अक्षरः पुरुषोत्तमः।" परन्तु लक्ष्मी को अक्षरा माना गया है। परमात्मा देश काल गुण इन तीनों की दृष्टि से अपरिच्छिन्न है व्यापक है। लक्ष्मी भी देश काल की दृष्टि से अपरिच्छिन्न व्यापक है पर गुण दृष्ट्या परमात्मापेक्षया न्यून है। श्री भागवत तात्पर्य निर्णय में इस विषय में निम्न श्लोक है—

द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ ॥

**जीव**—जीवात्मा मध्वमत में अणु है। जीव सुख दुःख का भोक्ता है। यह जीव ही संसार बन्धन में बंधने की योग्यता से सम्पन्न है। तथा इसी बन्धन से जीव को मुक्त होना है। जीव परमात्मा का प्रतिबिम्ब है। परन्तु वह परमात्मा के अधीन है। जीवात्मा एक नहीं अनेक हैं। जीवों में परस्पर तात्त्विक मौलिक भेद (Intrinsic diversity in the essence of souls) है और यह भिन्नता जीवों का अपना पृथक् पृथक् स्वरूप है। तात्पर्य यह हुआ कि संसार में प्रत्येक जीव का अपना पृथक् व्यक्तित्व है। प्रत्येक जीव अन्य जीवों से भिन्न है। साथ ही सर्वज्ञ परमात्मा से पूर्णतया भिन्न है। जीवों की यह भिन्नता तथा न्यूनाधिकभावेन परस्पर तारतम्य संसारावस्था में ही नहीं अपितु मुक्त अवस्था में भी रहता है। यह भिन्नता कभी बदलती नहीं (Never altered)। जीव परमात्मा का प्रतिबिम्ब है इसका यह तात्पर्य नहीं कि जीव में भी परमात्मा के सभी गुण हों। प्रतिबिम्ब में वास्तविक बिम्ब या मूलस्वरूप के गुण होना आवश्यक नहीं। बिम्ब प्रतिबिम्ब में आंशिक साम्य ही हुआ करता है। वह समान चैतन्यांश तथा आनन्द को लेकर ही है। प्रत्येक जीव चैतन्न है तथा आनन्द का अनुभव करता है। जीवों के आनन्द में उनकी पूर्णता के तारतम्य या अंशों के अनुसार तारतम्य होता है। साथ ही प्रतिबिम्ब होने का तात्पर्य यह भी नहीं कि वह भ्रमात्मक या मायिक है (Illusory)। तथा परमात्मा ही केवल सत्य, वास्तविक है तथा जीवात्मा अविद्या रूप उपाधि के कारण परमात्मा के प्रतिबिम्ब रूप से प्रतीत होता हो और वस्तुतः न हो। आचार्य मध्व के अनुसार प्रतिबिम्ब अपने मूलरूप की अपेक्षया तीन दशाओं में ही अवास्तविक हो सकता है। प्रथम—मूल रूप के, प्रतिबिम्ब से दूर

होने या पृथक् अलग हो जाने पर। अर्थात् मूलस्वरूप प्रतिबिम्ब से सर्वथा पृथक् हो जाये अथवा मूलस्वरूप का प्रतिबिम्बित होना रुक जाये। दूसरा उपाधि की निवृत्ति होने पर। तथा तीसरा मूलस्वरूप तथा प्रतिबिम्ब में सम्बन्ध टूट जाने पर या सम्बन्ध निवृत्ति या सम्बन्ध समाप्ति के कारण। परन्तु आचार्य के अनुसार परमात्मा, जीव तथा जीवात्मा परमात्मा दोनों का भेद—तीनों नित्य हों। परिच्छिन्नता (finitude) तथा भेद जीवस्वभाव की आधारभूत (foundational) और मौलिक, मूलभत (fundamental) विशेषताएं हैं। अत: जीव अवास्तविक भी नहीं तथा परमात्मा के समान (Identical) भी नहीं। परमात्मा नित्य तथा सर्वव्यापक है परन्तु उपाधि नित्य नहीं हो सकती, उपाधि जीव के स्वभाव में है।

मोक्ष अवस्था में भी यद्यपि जीव आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु इस अनुभूति में भी मुक्त पुरुषों में परस्पर तारतम्य होता है। इसी प्रकार मुक्त जीवों के ज्ञान आदि गुणों में भी भेद माना जाता है। यह माध्व सिद्धान्त की महती विशेषता है। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" का तात्पर्य परमात्मा के पूर्ण समान या पूर्णत: साम्य एकाकारता को प्राप्त करना कथमपि नहीं। श्रुति का तात्पर्य अभेद बोधन में नहीं अपितु प्राचुर्य ज्ञापन में है। यह साम्य चैतन्यांश को लेकर है। मुक्त अवस्था में अधिकांश सादृश्य प्रतीत होने पर भी जीव परमात्मा से सर्वथा भिन्न हो रहेगा। और यह भिन्नता गुणों पर दृष्टि डालने से प्रमाणित हो जाती है। कहा भी है—

"मानुषादि विरिञ्चान्त तारतम्यं विमुक्तिगम्।"
मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अपि। ईश भाष्य
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः॥ गी०म० भाष्य
दुःखाभावः परानन्दो लिङ्गभेदः समा मताः।
तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात्तु भिद्यते॥ म०सि०सा०
जीवस्य तादृशत्वं च चित्त्वमात्रं न चापरम्।
तावन्मात्रेण चाभासो रूपमेषां चिदात्मनाम्॥ अनुव्याख्यान

जीव संसार दशा में अज्ञान, मोह, दुःख, भय आदि दोषों से मुक्त होते हैं। मध्वमत में जीवों के मुख्यत: तीन प्रकार माने गये हैं। मोक्ष योग्य, नित्य संसारी तथा तमो योग्य। देव ऋषि पितर चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य ये पाँच प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं। नित्यसंसारी जीव सर्वदा सुख दुःख भोगमार्ग और स्व स्व कर्मानुसार उच्च नीच गति को पाकर स्वर्ग नरक या पृथ्वी पर निवास करते हैं। ये मध्यम कोटि के जीव होते हैं। इनमें मोक्ष की योग्यता नहीं होती और न ही ये कभी मुक्त हो सकते हैं। इसी प्रकार दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य—ये चार प्रकार के प्राणी तमो योग्य कहे जाते हैं। जीवों का

यह तीन भेदों में वर्गीकरण उनके गुणों के तारतम्य के कारण ही किया गया है। "मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः सदैव हि।" भा०ता०नि० अधिकारी भेद से भी यह भेद भागवत तन्त्र के अनुसार आचार्य को अभिप्रेत है—

मन्द मध्योत्तमत्वेन त्रिविधाह्यधिकारिणः।
तत्र मन्दा मनुष्येषु य उत्तम गणा मताः।
मध्यमा ऋषिगन्धर्वा देवास्तत्रोत्तमा मताः।
इति जातिकृतो भेदस्तथाऽन्यो गुणपूर्वकः।
भक्तिमान् परमे विष्णौ यस्त्वध्ययनवान्नरः।
अधमश्शमादिसंयुक्तो मध्यमस्समुदाहृतः।
आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्तमसार चाप्यनित्यकम्।
विज्ञाय जातवैराग्यः विष्णुपादैकसंश्रयः।
स उत्तमोऽधिकारी स्यात्सन्यस्ताखिलकर्मवान्।

**अव्याकृत आकाश**

माध्व मत में न्यायवैशेषिक सम्मत दिक् पदार्थ को अव्याकृत आकाश कहा गया है। यह सृष्टि और प्रलय दोनों अवस्थाओं में विकार रहित ही रहता है। यह नित्य एक तथा व्यापक या विभु है। लक्ष्मी इसकी अभिमानिनी देवता है। अव्याकृत आकाश के अतिरिक्त एक भूताकाश भी इस मत में स्वीकार्य है। भूताकाश अव्यापक अनित्य माना जाता है। इनके अनुसार यदि अव्याकृत आकाश की सत्ता न मानें तो भूत भौतिक पिण्डों की पृथक् पृथक् स्थिति नहीं रह पायेगी सभी एक दूसरे से मिल जायेंगे और समग्र जगत् एक एकाकार सघन पिण्ड के रूप में परिवर्तित हो जायेगा।

कारणता—माध्व मतानुसार प्रकृति ही साक्षात् या परम्परया जगत् का उपादान कारण है। यह प्रकृति जड़ नित्य व्यापक तथा सभी जीवों के लिङ्ग शरीरों की निर्मात्री है। यहाँ माध्व मत सांख्यसिद्धान्त से समत्व प्रदर्शित करता प्रतीत हो रहा है। सांख्य में भी जड़ त्रिगुणात्मिका प्रकृति विश्व का कारण तथा समस्त जीवों के लिङ्ग शरीरों को बनाने वाली मानी गयी है। मध्व मत में प्रकृत्यभिमानिनो देवता का नाम रमा दिया गया है। गुणत्रय इन्हें सांख्य के समान ही स्वीकार्य है। इस मत में जगत् के जन्म आदि क्रियाओं में परमात्मा केवल निमित्त कारण है। प्रकृति ही उपादान कारण है। प्रायः सभी वैष्णव शुद्धसत्व को स्वीकार करते हैं। माध्व मत में भी मुक्त जीवों के लीलामय शरीर की निर्मिति शुद्ध सत्त्व से मानी जाती है। अतः शुद्ध सत्त्व की कल्पना की गयी है। महत्तत्त्व आदि अन्य कतिपय द्रव्यों को कल्पना सांख्यदर्शन और पुराणों के अनुसार प्रतिपादित है। श्री देवी सत्त्वाभिमानिनी, भू देवी रजोऽभिमानिनो तथा दुर्गा देवी तमोऽभिमानिनी

मानी गयी हैं।

**भेद विचार**

माध्वमत में पाँच प्रकार के मूल अनिवार्य भेद माने गये हैं।
प्रथम—ईश्वर का जड़ पदार्थ से भेद।
द्वितीय—एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद।
तृतीय—एक जीव का अन्य जीवों से भेद। परस्पर भेद।
चतुर्थ—जड़ और जीव का भेद।
पञ्चम—ईश्वर का जीवों से भेद या जीवात्मा परमात्मा का भेद।

शांकरवेदान्त मत में भी जीव और ईश्वर का भेद तथा अविद्या और चैतन्य का भेद मान्य है।

**प्रमाण**

माध्व सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही प्रमाण है। परमात्मा या ईश्वर की सत्ता में अपौरुषेय वेद शास्त्र ही प्रमाण हैं। और शास्त्रों की व्याख्या, व्याख्या के जो निर्धारित नियम हैं उन्हीं के अनुसार की जा सकती है। केवल विशुद्ध तर्क और अनुमान के आधार पर शास्त्रों की व्याख्या नहीं की जानी चाहिए। केवल परमात्मा ही सर्वतन्त्र स्वतन्त्र (Independent) है। ईश्वर या भगवान् की अलौकिक दिव्य महिमा (transcendent majesty) और प्रियतमत्व और आनन्द की समता किसी से भी नहीं की जा सकती। परमात्मा का दिव्य श्री विग्रह केवल मात्र चैतन्य, चिद्रूप या अचिद्रूप नहीं, जैसा कि रामानुज सकल जीवमय शरीर कहकर करते हैं। मध्व के मत में ईश्वर के साथ जीव की किसी प्रकार की भी एकाकारता मान्य नहीं। ईश्वर सर्वोच्च (Supreme) है। ईश्वर की सर्वोत्तमता या परमत्व पर मध्व सिद्धान्त में बहुत जोर दिया गया है। परमात्मा ही विश्व तथा प्राणियों के जीवन का धारक है (Sustainer)।

परमात्मा की सत्ता में प्रमाणभूत वेद अनादि शाश्वत हैं। समग्र हैं, पूर्ण है। और यह समग्र वेद राशि एक ही परमात्म विषयक दर्शन की प्रतिष्ठापक है, और वह वैसा ही है जैसा इस ब्रह्म सम्प्रदाय में व्याख्यात है। आचार्य मध्व के अनुसार वेद अनादि अपौरुषेय होने के साथ-साथ अखण्ड भी हैं। ऐसा नहीं किया जा सकता कि उपनिषद् भाग को मन्त्र भाग से पृथक् रूप से देखा जाये और उनमें पृथक् सिद्धान्त के वर्णन का प्रतिपादन किया जाये। मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद के अतिरिक्त आचार्य मध्व ने अन्य शास्त्रों को भी प्रमाण माना है। जैसे महाभारत, मूल रामायण, पाञ्चरात्र, पुराण, ब्रह्मसूत्र। आचार्य का मानना है कि ये सभी

शास्त्र, एकमात्र भगवान् नारायण के निरूपण में ही तत्पर हैं। श्रीमन्नारायण ही शास्त्रों के प्रतिपाद्य केन्द्र बिन्दु हैं। श्रीमन्नारायण की महिमा का वर्णन ही वेदादिशास्त्रों का परम और चरम उद्देश्य है।

ऋग्यजुः सामाथर्वांश्च भारतं पाञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥
यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्।
अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्॥
साङ्ख्यं योगः पाशुपतम् वेदारण्यकमेव च।

इन वाक्यों से प्रारम्भ कर आचार्य ने वेद और पाञ्चरात्र की एकता प्रदर्शित करते हुए, अन्यों को भिन्न मत कहा है। "शास्त्रयोनित्वात्" इस ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान में यही स्वीकार किया गया प्रतीत होता है। और यह भी कहा है कि "अनुमानतोऽन्ये न कल्पनीयाः।" यद्यपि अनुमान को भी प्रमाण माना है। पर श्रुति स्मृति सहाय अनुमान ही प्रमाण है। अनुमान सब जगह हो सकता है, अतः सर्वतोभावेन अनुमान का स्वतन्त्र प्रमाण होना नहीं माना जा सकता। अतः "अनुमानस्य नियतप्रामाण्यं न।" यही कहा गया है—

श्रुतिसाहाय्यरहितमनुमानं न कुत्रचित्।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव च।
श्रुतिस्मृतिसहायं यत्प्रमाणान्तरमुत्तमम्।
प्रमाणपदवीं गच्छेत् नात्र कार्या विचारणा।
पूर्वोत्तराऽविरोधेन कोऽत्रार्थोऽभिमतो भवेत्।
इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्कतर्कन्तु वर्जयेत्।
सर्वत्र शक्यते कर्तुमागमं हि विनाऽनुमा।
तस्मान्न सा शक्तिमती विनागममुदीक्षितम्।

उपर्युक्त वाक्यों का यही निष्कर्ष है कि आगम प्रमाण सर्वोपरि हैं। तथा श्रुति स्मृति सहायक जो भी उत्तम प्रमाणान्तर हो, जो श्रुतिस्मृति विपरीत न हों, उनके अनुकूल हों वे सब प्रमाण कोटि में आते हैं। तथा शुष्क तर्क वेदशास्त्र विरुद्ध सर्वथा वर्जित है। और अनुमान भी श्रुतिस्मृति सहायक हो तभी प्रमाण माना जा सकता है। अन्यथा नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष अनुमान, आगम तीन ही प्रमाण मान्य हैं।

**मोक्ष**— जीव का जो स्वाभाविक मौलिक स्वरूप (Intrinsic nature of the Soul) है, उसमें मोक्षावस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता। श्री भगवान् के अनुग्रह से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह हुआ कि सांसारिक बन्धन

जीव का स्वाभाविक रूप नहीं। मोक्ष होने पर जीव अपने स्वाभाविक स्वरूप में ही रहता है। यह स्वरूप भगवान् की कृपा या अनुग्रह से प्रकट होता है। मनुष्यों में भिन्नता और विषमता का कारण पूर्वकृत कर्म ही माना जाता है। प्रायः हम अपनी वर्तमान दशा का कारण पूर्वजन्म में ढूंढते है। परन्तु यह ढूंढना, कब किस अवस्था में किस दशा में कहाँ जाकर रुकेगा यह कहना अत्यन्त कठिन है। आचार्य मध्व मानव जीवन की इस विषमता और भिन्नता का संबन्ध जीवों के निश्चित आवश्यक स्वभावभेद से मानते हैं। प्रत्येक जीव दूसरे जीव से स्वभावतः भिन्न है और यह स्वभावभेद ही भिन्नता और विषमता का मूल प्रतीत होता है। यह केवल मात्र कर्म के कारण ही नहीं है। इस प्रकार जो यह जीवस्वभावगत तारतम्य है, इस तारतम्य का परिज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार उपर्युक्त पञ्चविध भेद का ज्ञान भी मोक्ष के लिए आवश्यक माना गया है। यह तारतम्य जीवों में ही नहीं अपितु जगत् के सभी पदार्थों में है। सब एक से एक बढ़े चढ़े हैं। ज्ञान सुख आदि सभी का पर्यवसान ईश्वर में ही होता है। आचार्य मध्व के अनुसार संसार वास्तविक है। क्योंकि ईश्वर ऐन्द्रजालिक नहीं कि अवास्तविक प्रतीयमान की सृष्टि करे। अतः प्रत्येक प्रकार से संसार वास्तविक है। संसार को अवास्तविक कहना ईश्वर की पूर्णता और महिमा के विपरीत होगा। अतः प्रत्येक जीव को सदाचारी पाप-मुक्त, दोषमुक्त धार्मिक रूप से पवित्र पावन होने के लिए शास्त्रोक्त नित्य कर्म करना आवश्यक है। कर्म भी एक प्रकार की पूजा ही है। मध्वमत में कर्म का महत्त्व कम नहीं माना जाता। कर्म त्याग का उपदेश आचार्य मध्व नहीं करते। आचार्य मध्व, नैतिक गुणों और धार्मिक जीवन तथा सत्कर्म को साधना का आवश्यक अंग मानते हैं तथा सत्कर्म पर जोर देते हैं। प्रत्येक मुमुक्षु को गुरु तथा शास्त्रों से श्रवण तथा जिज्ञासा करनी चाहिए। इस प्रकार गुरु तथा शास्त्र समस्त संदेह तथा शङ्काओं को निवृत्त कर चित्त को ध्यान के योग्य बनाते हैं। आचार्य के मत में ज्ञान भक्ति से अभिन्न नहीं। ज्ञान भक्ति का सारभूत या मूलभूत तत्त्व (Essence) है। अतः ज्ञान तथा भक्ति दोनों का योग (fusion) या मिश्रण मोक्ष के लिए आवश्यक है। आचार्य के मत में भक्ति परम प्रेम रूपा है। और भगवान् के परम-प्रेम या अतिशय प्रेम की अनुभूति भगवन्महिमा या माहात्म्य के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। उपासना से भक्ति में निरन्तर अभिवृद्धि होती है। और भक्ति का परिपाक होने पर भगवान् के दर्शन होते हैं। मध्व के मत में भक्ति साधन नहीं अपितु अपने आप में एक साध्य है। आचार्य के अनुसार भगवान् का पूजन आराधना अपने आप में एक शुद्ध अमिश्र आनन्द है।

और यह आराधन भी केवलमात्र साधन नहीं, अपितु अपने आप में एक साध्य है। और जीव के आत्मत्व की परिपूर्णता ईश्वराराधन में ही है। आव-श्यकता ईश्वर के प्रति दृढ़ भावना या दृढ़ अत्यधिक लगाव की है। और उसके

साथ ईश्वर की कृपा प्राप्त करने की या केवल मात्र अनुग्रह प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की इच्छा का न होना परम आवश्यक है। क्योंकि ईश्वर के अनुग्रह के बिना मोक्ष होना सम्भव नहीं। क्योंकि जीवमात्र परमात्मा के अधोन रहता है। वह मोक्ष के लिए भी परमात्मा के आश्रित है। परमात्मा पर निर्भर है। जीव परतन्त्र है ईश्वर के अनुग्रह के बिना दैनन्दिन साधारण कार्य भी नहीं कर सकता। फिर मोक्ष की तो बात ही क्या है। ईश्वरानुग्रहार्थं उपासना आवश्यक है। और वह उपासना-सतत शास्त्राभ्यास रूपा तथा ध्यान रूपा भेद से द्विविधा है। ध्यान का अर्थ, मध्व मत में अन्य विषयों के परित्याग पूर्वक भगवद्विषयक अखण्ड स्मृति है। "ध्यानं च इतरतिरस्कारपूर्वकभगवद्विषयकाऽखण्डस्मृतिः।" ध्यान से ईश्वर का अपरोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान से परमभक्ति और तदनन्तर परम अनुग्रह। आचार्य के अनुसार ज्ञान, भक्ति और वैराग्य तीनों ही मोक्ष प्राप्ति के अनिवार्य सोपान हैं। मोक्ष, कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादिमार्ग भोग भेद से चार प्रकार का है। भोग भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, तथा सायुज्य भेद से चतुर्विध है। भगवान् में प्रवेश कर भगवद् विग्रह से आनन्द का भोग करना सायुज्य कहलाता है। —"सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः।" मोक्ष नारायण प्रसाद से होता है और प्रसाद के लिए कर्म आदि भी आवश्यक माने गये हैं। इस विषय में आचार्यगण पुराण प्रमाणभूत निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं।

कर्मणात्वधमः प्रोक्तः प्रसादः श्रवणादिभिः।
मध्यमो ज्ञानसम्पत्या प्रसादस्तूत्तमो मतः।
प्रसादात्वधमाद्विष्णोः स्वर्गलोके प्रकीर्तितः।
मध्यमाज्जन लोकादिरुत्तमस्त्वेव मुक्तिदः।
श्रवणं मननं चैव ध्यानं भक्तिस्तथैव च।
साधनं ज्ञानसम्पत्तौ प्रधानं नान्यदिष्यते।
न चैतानि विना कश्चिद् ज्ञानमाप कुतश्चन।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार ईश्वर प्रसाद में भी उत्तम मध्यम अधम तीन कोटियाँ हैं।

आचार्य मध्व का दर्शन ईश्वरवादी वेदान्त दर्शन है। यह आशावादी दृष्टि-कोण का दर्शन है। मध्वमत संसार त्याग तथा उससे निराश निर्विण्ण विरक्त होने पर जोर नहीं देता। साथ ही यह भी नहीं कहता कि सांसारिक सुखों से घृणा की जाये। माध्वमत में ईश्वर ही सब कुछ है, सर्वस्व है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई स्वतन्त्र शक्ति युक्त संसार में नहीं। ईश्वर ही विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों तथा जीवों का संचालन नियमन निर्देशन करता है। ईश्वर की इच्छा के बिना

संसार में कहीं भी कुछ भी घटित नहीं हो सकता। मध्व मत में ईश्वर और ईश्वर भक्ति दो तत्त्व सर्वप्रमुख हैं। अतएव आचार्य मध्व अपने एक स्तोत्र (द्वादश स्तोत्र) में उपदेश करते हुए आदेश देते हैं कि—अपने-अपने वर्णाश्रमोचित शास्त्रोक्त कर्म करना चाहिए तथा उन कर्मों के फल को भी भोगना है। परन्तु यह सब कर्म करना और कर्मफल भोग ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना से किया जाना चाहिए। सब कुछ भगवान् के श्री चरणों में अर्पित करना चाहिए। श्री हरि ही एकमात्र महान् परात्पर परम गुरु माता पिता तथा विश्व के परम साध्य हैं। क्षर अक्षर हरि के अतिरिक्त विश्व में कुछ नहीं। अतः सांसारिक वस्तु विचारणा का परित्याग कर ईश्वर की प्रार्थना स्तुति करनी चाहिए। क्योंकि भगवन्नाम-स्मरण का प्रयास भी सकल पापों को शीघ्र नष्ट करने वाला है। अतः यह ध्रुव सत्य है कि वस्तुतः जो भगवदाराधन पूजन करता है वह निश्चित ही मुक्ति पाता है। आचार्य ऊर्ध्व बाहु होकर घोषणा करते हैं कि, श्री हरि से अधिक कुछ भी नहीं। उनसे बड़ा कोई नहीं। श्री हरि सर्वोच्च हैं। उनके समान भी कोई नहीं। यदि श्री हरि की सत्ता नहीं मानेंगे तो संसार के सृजन और उद्गम की व्याख्या करना सम्भव नहीं हो पायेगा। यदि कहा जाये कि मानवकृत संसार है तो फिर चिन्तनशील मानव द्वारा इस संसार को अपने लिए बनाने के कारण इसे सर्वथा सर्वदा सुरक्षित और सुखी क्यों नहीं बनाया। परन्तु ऐसा नहीं है। ईश्वर ने संसार बनाया है और सारे जीव अपनी विभिन्नताओं के कारण सुख दुःख भोग कर्मानुसार करते हैं। मध्व मत के अनुसार भक्त किसी भी जाति का हो भगवन्नाम और ज्ञान का अधिकारी होता है। उक्त विषय में व्योमसंहिता का निम्न उद्धरण है।

अन्त्यजा अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिणः।
स्त्रीशूद्रब्रह्मबन्धूनां तन्त्रज्ञानेऽधिकारिता।
एकदेशे परोक्ते तु न तु ग्रन्थपुरस्सरे।
त्रैवर्णिकानां वेदोक्ते सम्यग्भक्तिमतां हरौ।
आहुरप्युत्तमस्त्रीणामधिकारं तु वैदिके।
यथोर्वशी यमी चैव शच्याद्याश्च तथा पराः।

उत्तम स्त्रियों का वेद और वैदिक-ज्ञान कर्मादि में अधिकार माना गया है। समग्र मध्व-मत के सार वर्णन के रूप में निम्न श्लोक बहुत प्रसिद्ध है।

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत्तत्त्वतो-
भेदो, जीवगणा हरेरनुचराः, नीचोच्चभावङ्गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं-
मक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

—०—

# Navya-Nyāya Theory of Knowledge

—**Chandra Shekhar Shukla**

Gangeśa Upādhyāya (1200 A.D.) born in Mithilā, now in Bihar state of India, brought a renaissance in the field of Philosophical learning when he wrote the masterpiece named as Tattvacintāmaṇi which was a culmination of thoughts that emanated from his deep insight into four instruments of valid knowledge mentioned by Gautama (400 B.C.) in his Nyāya-Sūtra, the first book of Nyāya Philosophy. From Gangeśa started the new school of Logic (Navya-Nyāya) which by its virtue of technical expressions and stunning ability of analytical approach to every thought became very popular in different fields of Sanskrit learning like Philosophy, Grammar, Literary criticism etc. The Tattvacintāmaṇi was enriched by the commentaries and subcommentaries written by such a galaxy of scholars like Raghunātha Śiromaṇi, Pakṣadhara Miśra, Sārvabhauma, Mathurānātha, Jagadīśa, Gadādhara Bhaṭṭācārya, Rucidatta and so many others.

Time and again, the western trained philosophers have attempted to rewrite the Nyāya theory of knowledge with intention to make the Western World know the excellency of Indian logicians in perfectly analysing each and every aspect of Nyāya philosophy. However, no serious attempt has been made to enlighten the Navya-Nyāya theory of knowledge, which is an amelioration of the thoughts of old school of Nyāya. Although it is not possible to annotate the entire theory of knowledge in this brief paper, a review of some distinctive features of the theory of knowledge put forward by neo-logicians will certainly prove very interesting to those who have not studied the difficult Nyāya texts from traditional pundits.

To begin with, knowledge has been divided into two forms : experience and recollection. Experience, being the first hand knowledge, has been accepted as valid one whereas recollection, depending upon the experience or, in other words, being a cognition which has already been known, is regarded as an invalid knowledge.

There are two opinions that prevail among Naiyāyikas as to whether the recollection is valid or invalid. One section believes that recollection is a valid knowledge because the definition of the valid knowledge

as the cognition which is related to the substantiveness (viśeṣyatā) determined by the adjunctness (prakāratā) very well applies to the recollection. On the other hand, there are some notable Naiyāyikas like Jagadīśa and his followers who, agreeing upon the views of Vedāntins and Mīmāṃsakas that the valid knowledge must be of an unknown thing, have rejected the view that recollection is a valid knowledge. However, to retain the validity of successive perceptions where a known object is perceived again and again, e g. 'this is a pot', this is a pot and so on, the definition of the phrase—'imparter of the known object' (gṛhīta grāhī)—has been suitably changed as 'the knowledge having that generic attribute which is a superstratum of every knowledge that always takes place after the definite knowledge of the same object like pot in the present context. Thus, recollection, being a knowledge that always comes after the definite knowledge of the same object, becomes the 'imparter of the known object' (gṛhītagrāhī) and hence an invalid knowledge. But, in successive perceptions the first perception does not occur after the definite knowledge of the same object, so they are not the imparters of the known object, or in other words; they are 'other than the knowledge having that generic attribute which is a superstratum of every knowledge that always comes after the definite knowledge of the same object'. (Yajjātīya viśiṣṭa-jñanattvāvacchedena samānākārakaniścayottaratvaṁ tajjātīyānyajñānam).

**Kinds of Experience**

Experience has further been divided into four forms—perception, inferential knowledge, analogous knowledge and verbal knowledge.

Perception, the foremost cognition of all the experiences, is of three kinds namely (1) determinate, (2) indeterminate and (3) collective cognition. The determinate perception (savikalpaka) is defined as the cognition of a qualified object (viśiṣṭa jñana), which consists of three kinds of objectness (viṣayatā), e.g. adjunctness (prakāratā), substantiveness (viśeṣyatā) and relationship. The cognition such as 'a pot is on the ground' represents the determinate perception, for it has the three kinds of objectness, as for example the adjunctness exists in pot, the substantiveness is in the ground and the relationship denotes conjunction between pot and ground.

It is to be noted that, according to Navya-Nyāya notion, there may occur a determinate perception which has only two kinds of objectness namely adjunctness and relationship without having substantiveness. For example, the perception like 'a pot exists through the relation of conjunc-

tion' (saṃyogena ghatavān) is also a qualified cognition (viśiṣta jñāna) but, does not have substantive. The absence of substantiveness from some of the qualified cognitions and the permanent presence of adjunctness in them have inclined the neologicians to postulate that the adjunctness alone is fit to be limited by a relation. In other words, substantiveness cannot be accepted as being limited by a relation, for the cognition like 'the pot does not have occupancy through the relation of conjunction' (saṃyogena ghatah avṛttih) is impeded by the cognition that 'the pot exists in the ground through the relation of conjunction' (saṃyogena ghatavad bhūtalam) as well as the cognition that 'the pot exists through the relation of conjuntion' (saṃyogenan ghatavān), but the impediment in the form of second cognition is devoid of substantiveness, hence; as a general rule we may say that the conjuction which has adjunctness limited by the relation of conjunction (saṃyogasaṃbandhāvacchinna prakāratāka jñānam) is an impediment to the cognition like 'the pot does not have occupancy through the relation of conjunction' (saṃyogena ghatah avṛttih).

**Indeterminate Perception**

Indeterminate perception (nirvikalpaka), defined as the knowledge without the three kinds of objectness, is regarded as the cause of determinate perception. For example, the cognition like 'pot and pothood' (ghataghatatve), lacking any connection between the two, is an indeterminate perception. The proof for the acceptance of indeterminate perception, as has been envisaged by the Naiyāyikas, is legitimized by conceiving the cause-effect relationship between qualified knowledge and cognition of qualifier (viśiṣṭabuddhim prati viśeṣaṇa jñānam kāraṇam). Thus, the determinate perception like 'it is a pot' on accounts of its being of qualified knowledge must have followed the cognition of qualifier, i.e. the knowledge of pothood. But the knowledge of pothood cannot be a determinate perception because it would pose the problem of *regressus ad infinitum* inasmuch as the knowledge of qualifier, being a determinate perception, requires another knowledge of qualifier for its own outcome and so on. Therefore to save themselves from this onerous situation the Naiyāyikas assert that the knowledge of qualifier is an indeterminate perception.

From the above discussion one can impeccably draw the conclusion that the indeterminate perception invariably preceds the determinate perception. There is however an exception to this general rule because it does not apply to the determinate perception of negation or inherence, which occurs without indeterminate perception of any of them prior to it. That is to

say, the qualifiers in the determinate-perception of 'negation' or 'inherence' would be the counterpositive and the negationhood or for that matter the inherencehood, but neither of these can be object of perception due to their absence before the perception of 'negation' or 'inherence'. Therefore, the 'Navya-Naiyāyikas' declare that the indeterminate perception, with the exception of the perception of 'negation' and inherence', would be the cause of determinate perception.

The intringuing question that the Navya-Nyāyikas have tried to answer is—What is the rationale behind assuming that the knowledge of qualifier (viśeṣaṇa jñāna) is the cause of qualified knowledge (viśiṣṭa buddhi)? The answer of this question is offered in the form of another question, i.e. why wouldn't be there the perception like 'it is a pot' (ghataḥ) immediately after the connection of the eyes, while there occurs the perception—'it is what is possessed of a universal' (Jātimān) ? In order to avoid the probability of this question, we have to formulate that 'the knowledge of pothood' devoid of adjunctness is the cause of the perception in which the pothood is an adjunct. Since the knowledge of pothood is essentially a knowledge of a qualifier, we must accept as a rule that the knowledge of qualifier is the cause of the qualified knowledge.

The indeterminate perception, according to Naiyāyikas, is not perceptible. The reason is this that if it is accepted as the object of perception, the form of perception would be 'I know the pot' (ghatamahaṃ jānāmi), i.e. 'the cognition of qualified qualification' (viśiṣṭa-vaiśiṣṭyāvagāhi jñāna) which has, as its cause, 'the definite knowledge as determinor of the adjunctness existing in the determinant of the qualifierness' (viśeṣaṇatāvacchedaka-prakāraka niścaya). In other words, the indeterminate perception would itself be the definite knowledge......', if it is believed to be perceptible. But, as has been logically proved that the indeterminate perception is without adjunctness, it cannot have the form of definite knowledge......, and hence; is not perceptible.

Here also the question to ask is why should we admit that there exists a cause-effect-relationship between 'the definite knowledge as determiner of the adjunctness existing in the determinant of the quilifierness' and the cognition of qualified qualification ? The answer is very simple : if this cause-effect relationship is ignored, then one has to assent that there may occur a knowledge like 'it has a red cane' (raktadaṇḍavān) without the prior knowledge like 'the cane is red' (rakto daṇḍah).

It may be argued here that the knowledge such as 'it has a red cane'

is not the cognition of qualified qualification but has the form of 'substantive having a qualification which has another qualification' (viśeṣye viśeṣaṇaṃ tatrāpi viśeṣaṇāntaram), hence the knowledge that 'it has a red cane' will not require the definite knowledge. (viśeṣaṇatāvachhedaka prakāraka niśchaya) as a cause. Nevertheless, there may occur a knowledge like 'there is no pot' (ghato nāsti), which must have the form of 'cognition of qualified qualification' inasmuch as the pothood is assumed to be related to the negation. This knowledge cannot be said to have occurred by way of 'the substantive having a qualification which has another qualification', for despite the existence of pot there would then be the knowledge—'there is no pot'—as the place of pot can equally have 'the absence of pot' in the form of 'the absence of pot and cloth' (ghaṭapaṭau nastah), i.e. the deteminant of the counterpositive being the duality in place of pothood. Therefore, says Gadādhara, the cognition of negation always takes the form of 'the cognition of qualified qualification'. (pratiyogiviśeṣitābhāvajñānaṃ ca viśiṣṭa-vaiśiṣṭyabodhamaryādām nātiśete). (vyutpattivāda).

**The Man-Lion-Form of Indeterminate Perception**

After the cognition of a thing, say pot; there happens an apperception (anuvyavasāya) like 'I know the pot' or 'I am possessed of the cognition of the pot'. The apperception is known as the perception of perception. Thus, in the present example i.e. 'I know the pot' there is the perception of the cognition of pot as well as the perception of cognitionhood. Since the perception of the cognition of pot is not the result of mere contact of mind, for pot is an external object, it has to be confirmed that the perception of the cognition of the pot must have taken place through the 'contact based on knowledge' (Jñāna-lakṣaṇa), hence the perception of the cognition of pot is a determinate perception whereas the perception of knowledgehood is an indeterminate one. This dual nature of apperception makes it the man-lion-form of indeterminate perception.

**The Impeded-Impediment-Relationship**
**(Pratibadhya-Pratibandhaka-Bhāva)**

The theory of knowledge is never complete unless the impeded-impediment-relationship in respect of all kinds of valid knowledge is taken into account, for it is that inseparable part which has made the Navya-Nyāya theory of knowledge as totally distinguished one from all other theories of knowledge. Though there is no systematic work on the relationship between the impeded and the impediment, almost all the books of Navya-Nyāya have occasionally illuminated this relationship whenever it

was essential from the point of view of the theory of knowledge.

Some of them are listed below :

1. The totality of causes of experience is an impediment to the recollection. Thus, when there is conjunction of the eye with a pot, then there would be perception of the pot instead of its recollection. Similarly, if there is the knowledge that the hill is possessed of smoke which is concomitant of fire, then there would occur the inferential knowledge of fire, hampering the recollection of it.

2. The non-adventitious, not known to be invalid knowledge such as 'it has the absence of a thing' is an impediment to the knowledge that 'the thing exists in it', provided the knowledge is not the result of normal connection of sense organs, nor is it caused by the defect in the organs. For example, the knowledge that a pot exists in the ground is obstructed by the knowledge that no pot exists in the ground.

   On the side of 'the impediment' the knowledge has been prescribed as being non-adventitious (anāhārya) because an adventitious (āhārya) knowledge like 'the lake, having the absence of fire, also has the fire' is not an impediment to the knowledge that 'the lake has fire'. The same side also consists of the attribute to the knowledge such as 'not known to be invalid' because the knowledge that 'the lake has the absence of fire' combined with the knowledge that it (the knowledge : the lake has the absence of fire) is invalid is not an impediment to the knowledge like 'the lake has fire'.

   The side of the impeded, on the other hand, has attribute to the knowledge as not being an outcome of the contact of the sense-organs, because despite the perception of 'the absence of a pot' 'through the connection in the form of knowledge' (jñānalakṣaṇa), the perception like 'it has a pot', through normal connection, can smoothly take place. The knowledge, on the side of the impeded, is also specified as not being borne by the defect in the sense-organ, because inspite of the knowledge that a conch has the absence of yellow colour, there may occur the knowledge that the conch is yellow, if there is bile in the eye due to jaundice.

3. Knowledge, not known to be invalid, like 'it has the concomitant of the absence of a thing' is an impediment to the knowledge that 'it has the thing', provided the knowledge is neither an outcome of

the normal contact of the sense-organs, nor is it the product of the defect in the sense-organ. For example, the knowledge that 'the lake has the concomitant of the absence of fire' thwarts the knowledge that 'the lake has fire'.

4. The knowledge that it has the property (dharma) which is known to be the determinant of the absence of a thing is an impediment to the knowledge that 'it has the thing'. For instance, the knowledge—'the lake has water'—qualified by the knowledge that 'whatever has water also has the absence of fire' impedes the knowledge that 'the lake has fire'.

5. The knowledge that 'it has the property which is not co-present with a thing' is an impediment to the knowledge that 'it has the thing'. For example, the knowledge that 'the lake has water which is not co-present with the fire' obstructs the knowledge that 'the lake has fire'.

6. The knowledge that it has 'the absence of that 'which is limited (avacchinna) by the property known to be the determinant of the pervasiveness of a thing' is an impediment to the knowledge that 'it has the thing'. For example, the knowledge that 'the lake has the absence of that which is limited by firehood known to be the determinant of the pervasiveness of smoke' obstructs the knowledge that 'the lake has smoke'.

7. The certainty of the thing to be inferred in all subjects is an impediment to the inference of the thing in all subjects. For example, the knowledge that 'all hill have fire' impedes the inference that 'all hills have fire'.

8. The certainty of the thing to inferred in all subjects or in a subject is an impediment to the inference of the thing in a subject. For example, the certainty that 'all hills have fire' or 'a hill has fire' poses an obstacle to the inference that 'a hill has fire'.

9. The definite knowledge of incongruity (bādha) in all subjects or in a subject is an impediment to the inference of a thing in all subjects. For example, the certainty that 'all hills have the absence of fire' or a hill has the absence of fire hinders the inference that 'all hills have fire'.

10. The certainty of incongruity in all subjects, not in a subject, is an

impediment to the inference of a thing in a subject. For example, the definite knowledge that all hills have the absence of fire twarts the inference that 'a hill has fire' whereas a hill has the absence of fire does not obstruct the inference that 'a hill has fire'.

11. The totality of causes of the perception of an identical object is an impediment to the inference of the same object. Therefore, when there is the perception that 'it has hands and legs which are the concomitant of manhood' just after the doubt 'is it a man or not ?' then there would be perception of manhood instead of its inference.

12. The totality of causes of an inference is an impediment to the perception of an unidentical object. Therefore, after the knowledge that 'the hill has smoke which is a concomitant of fire, there would occur the inference that the hill has fire instead of the perception of the hill.

13. The totality of causes of the inference of an identical object is an impediment to the supernormal perception (alaukika-pratyakṣa) of the same object. Therefore, when there is the knowledge that 'the hill has smoke which is a concomitant of fire, then there would occur the inference that 'the hill has fire' instead of the perception of fire through the connection based on knowledge (jñānalakṣaṇa).

14. The totality of causes of verbal knowledge is an impediment to the perception of an unidentical object. For example, when there is verbal testimony in the form of a sentence like 'a pot exists in the ground' along with the totality of causes of the perception of cloth, then there would be verbal knowledge about the existence of pot in the ground instead of the perception of cloth.

    Here the question to ask is—Why is the totality of causes of verbal knowledge more powerful than that of perception ? The answer is this that if it had not been so, there would have always occurred perception in lieu of verbal knowledge, for the knowledge of consistency (yogyatā-jñāna) is always present, as a cause of mental perception (mānasika pratyakṣa), before every verbal knowledge.

15. The totality of causes of verbal knowledge is an impediment to the inference of an identical object. Therefore, after hearing the sentence like 'the hill has fire' one gets the verbal knowledge of the

existence of fire in the hill instead of inference of it, although one has perceived smoke on the hill.

16. The totality of causes of the inference of a thing is an impediment to the verbal knowledge of an unidentical object. It is too simple to demand any explanation.

17. The desire to know about a beautiful woman is an impediment to any other knowledge.

The list does not end here. There are more and more such relationships between the impeded and the impediments, which have been discussed in many a book of Navya-Nyāya, these are, however, very important from the point of view of the theory of knowledge, for which the Navya-Naiyāyikas are distinguished from the rest of philosophers.

**References :**


1. Nyāya Siddhānta Muktāvalī, ed. by Pt. Hari Ram Shukla Chaukhamba, Varanasi.
2. Jāgdīsī Pakṣatā, ed. by Pt. Śivadatta Miśra Chaukhamba, Varanasi, 1935.
3. Prāmāṇyavāda by Gadādhara, ed. by Pt. Rajanarayaṇa Shukla, Śāradā Library, Varanasi.
4. Sāmānya Nirukti, Gadādhara, ed. by Swami Gaṇeśadās, Sādhubelā, Varanasi.
5. Vyutpattivāda by Gadādhara, ed. by Pt. Śivadatta Miśra, Bhāratīya Vidya Prakāśana, Varanasi, 1973.

# समानवचनकत्व-विमर्शः

☐ डॉ० पीयूषकान्तदीक्षितः

न्यायदर्शने चत्वारि प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदेन प्रसिद्धानि। एषु प्रमाणेषु शब्दनामधेयं प्रमाणं प्रामुख्यं भजते। मानवजीवने प्रतिपदं शब्दप्रयोगो दृश्यते। संसारेऽस्मिन् शब्दप्रमाणमुपेक्ष्य एकोऽपि व्यवहारो दुःशकः। अस्माकं संस्कृतवाङ्मये शब्दस्वरूपं संरक्षितुं शब्दसाधुत्वञ्च व्यवस्थापयितुं व्याकरण-शास्त्रं प्रादुर्भूतमिति निर्विवादम्। शास्त्रेऽस्मिन् शब्दस्य ब्रह्मस्वरूपत्वं युक्तियुक्तं प्रतिष्ठापितम्। न्यायदर्शनेऽपि शब्दप्रमाणमधिकृत्य गदाधरभट्टाचार्यप्रमुखैरा-चार्यैर्बहुधा सूक्ष्मं विवेचितम्। श्रीमान् जगदीशतर्कालङ्कारः शब्दशक्तिप्रकाशिकायां शब्दात्मिकां सरस्वतीदेवीमन्या देवता अपेक्ष्य प्रशस्तां झटिति फलप्रदायिकाञ्च मनुते—

अनुभवहेतुः सकले सद्यः समुपासिता मनुजे।
साकाङ्क्षाऽसन्ना च स्वार्थे योग्या सरस्वती देवी॥

वस्तुतः शब्दस्यैवैतादृशं निरतिशयं महत्त्वं यदयं साधु प्रयुक्तः सर्वेषु मानवेषु निष्पक्षं बोधात्मकं फलञ्जनयत्येव। कश्चन पुरुषः 'नीलो घटः' इत्येवं वाक्यं यदा प्रयुङ्क्ते तदा नीलपदेन नीलरूपवतो बोधः, विभक्त्यात्मकेन सुपदेनैकत्वसङ्ख्याया बोधः, घटपदेन कम्बुग्रीवादिमतो घटस्य बोधः; विभक्त्यात्मकसुपदेनैकत्व-सङ्ख्यायाश्च बोधो जायते। इमे सर्वेऽपि बोधाः स्मरणात्मका एवेत्यवधेयम्। नील-वतोऽर्थस्य बोधो नीलपदेन, एकत्वार्थस्य बोधः सुपदेन भवतीति तु सुस्पष्टम्परं नीलवत एकत्वसङ्ख्यायाश्च सम्बन्धः—समवायः कथं ज्ञायत इति प्रश्नोऽवतरति। एवं नीलपदार्थस्य नीलवतो घटपदार्थस्य कम्बुग्रीवादिमतो घटस्य च परस्परम-भेदः कथं ज्ञायत इयमपि जिज्ञासा सहजतयोदेति। समाधानन्तावदेवं विधानां सम्बन्धानामाकाङ्क्षाभास्यत्वमभ्युपेत्य सुकरमिति स्फीतम्।

शाब्दबोधे न्यायदर्शनानुसारं द्वयोः पदार्थयोरेतादृशः संसर्ग एव विशिष्टो भासतेऽत एव शाब्दबोधस्यापरन्नामान्वयबोध इत्यपि प्रथितमेव। द्वयोः पदार्थयोः संसर्गः शाब्दबोध आकाङ्क्षाभास्यो भवतीति न्यायदर्शनविदामाकूतम्। शाब्द-बोधाऽऽकाङ्क्षाज्ञानयोः कार्यकारणभावज्ञानात्मिकां व्युत्पत्तिं शिष्येष्वाविष्कर्त्तुं-गदाधरभट्टाचार्येण व्युत्पत्तिवादो निरमायि। गदाधरेणापि व्युत्पत्तिवादस्यारम्भे "शाब्दबोधे चैकपदार्थे, अपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते" इत्येवं द्वयोः पदार्थयोः संसर्गस्याकाङ्क्षाभास्यत्वमेव स्वीकृतम्। वाक्येऽस्मिन् शाब्दबोध-पदोत्तरं विद्यमानायाः सप्तम्या निरूपितत्वमर्थः स्वीक्रियते। एकपदार्थपदोत्तरं

विद्यमानायाः सप्तम्याश्चानुयोगित्वमर्थं ऊरीक्रियते। अपरपदार्थपदोत्तरं विद्यमानायाः षष्ठीविभक्तेरर्थस्तु प्रतियोगित्वमभ्युपेयते। संसर्गमर्यादाशब्दार्थस्तु आकाङ्क्षेत्यवधेयम्। संसर्गमर्यादाशब्दोत्तरं विद्यमानायास्तृतीयायास्तावत् प्रयोज्यत्वार्थकत्वं मन्यते। भासधात्वर्थस्तु विषयता। भासधातूत्तरं विद्यमानस्य 'त' इत्याख्यातस्य तावदाश्रत्वमर्थः स्वीक्रियते। शाब्दबोधस्तु वाक्येनानेनैवं सम्पद्यते—"एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपकोऽपरपदार्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकः संसर्ग आकाङ्क्षाप्रयोज्यसंसर्गताऽभिन्नशाब्दबोधनिरूपितविषयताश्रयः"। शाब्दबोधेऽस्मिन् सप्तम्यर्थानुयोगितायामेकपदार्थपदार्थस्यैकपदार्थस्य निष्ठत्वसंसर्गेणान्वयो भवति। सप्तम्यर्थस्यानुयोगित्वस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन संसर्गपदार्थे संसर्गेऽन्वयो बोध्यः। अपरपदार्थपदोत्तरं विद्यमानायाः षष्ठोविभक्तेरर्थे प्रतियोगितायां अपरपदार्थपदार्थस्यापरपदार्थस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः। प्रतियोगितायाश्च निरूपकत्वसम्बन्धेन संसर्गपदार्थे संसर्गेऽन्वय इति बोध्यम्। संसर्गमर्यादाशब्दार्थं आकाङ्क्षेति पूर्वम्प्रतिपादितमेव। अस्याकाङ्क्षापदार्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन संसर्गमर्यादापदोत्तरविद्यमानतृतीयाविभक्त्यर्थे प्रयोज्यत्वेऽन्वयः। तृतीयार्थस्यास्य प्रयोज्यत्वस्य भासधात्वर्थे विषयतायां संसर्गताऽभिन्नायामाश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः। अत्रैव भासधात्वर्थभूतायां विषयतायां शाब्दबोधपदोत्तरविद्यमानसप्तमीविभक्त्यर्थस्य निरूपितत्वस्याप्याश्रयत्वसंसर्गेणान्वयः। सप्तम्यर्थे निरूपितत्वे च शाब्दबोधस्य स्वनिष्ठविषयिताप्रतियोगिकत्वसम्बन्धेनान्वयः। भासधात्यर्थस्य विषयतायाश्च स्वनिष्ठाधेयतानिरूपितत्वसम्बन्धेनाख्यातार्थं आश्रयत्वेऽन्वय आश्रयत्वस्य च संसर्गे प्रथमान्तार्थे स्वरूपेणान्वय इत्यवधेयम्।

शाब्दबोध आकाङ्क्षाभास्योऽयमेकपदार्थानुयोगिकोऽपरपदार्थप्रतियोगिकः संसर्गः केषुचित्स्थलेष्वभेदः केषुचित् स्थलेषु चाभेदभिन्न आधाराधेयभावः प्रतियोग्यनुयोगिभावो विषयविषयिभावादिः।

"नीलो घट" इत्यादिस्थलेषु घटानुयोगिको नीलप्रतियोगिकः संसर्गोऽभेद एव। घटमित्यादिस्थलेषु घटपदार्थः कम्बुग्रीवादिमान् घटः, अस्याधेयत्वसम्बन्धेन अम्पदार्थे कर्मत्वेऽन्वयः। एवञ्च घटमिति श्रवणानन्तरं घटनिष्ठं कर्मत्वमिति शाब्दबोध उदेति। शाब्दबोधेऽस्मिन् कर्मत्वानुयोगिको घटप्रतियोगिकः संसर्ग आधेयत्वरूपो निष्ठत्वरूपो वा आकाङ्क्षाभास्यत्वेन स्वीक्रियते। एवं "घटो न" अथवा "घटो नास्ती"ति वाक्यश्रवणानन्तरं घटरूपोऽर्थः घटशब्देनोपस्थितो भवति नशब्दार्थोऽन्योन्याभावः, नास्तिशब्दार्थोऽत्यन्ताभावश्च नशब्देन नास्तिशब्देन चोपस्थितो भवति। आभ्यां वाक्याभ्यां जायमाने शाब्दबोधे घटाभावयोर्मध्ये स्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपितानुयोगिताकत्वरूपः सम्बन्धः प्रतियोग्यनुयोगिभावस्वरूप, आकाङ्क्षाभास्यस्स्वीक्रियते। 'हेत्वाभासाः निरूप्यन्ते' वाक्येऽस्मिन् हेत्वाभासशब्दार्थः पञ्चहेत्वाभासाः सन्ति। 'नि' उपसर्गपूर्वक 'रूप' धात्वर्थो ज्ञानानुकलो व्यापार आख्यातार्थः कृतिः। अस्याख्यातार्थस्य कृतेराश्रयत्वसम्बन्धेन

कर्तर्यन्वयो भवति । वाक्येनानेन शाब्दबोधस्तावद्—हेत्वाभासविषयकज्ञाना-नुकूलव्यापारानुकूलकृत्याश्रयो गङ्गेशोपाध्याय' इत्याकारकोऽनुभवसिद्धः । शाब्द-बोधेऽस्मिन् हेत्वाभासज्ञानयोर्विषयिताऽपरपर्यायो विषयकत्वरूपः सम्बन्धः संसर्ग-मर्यादयैव भासत इत्यवधेयम् ।

एकपदार्थानुयोगिकोऽपरपदार्थप्रतियोगिकोऽभेदात्मकः संसर्गः खलु तत्रैव संसर्गमर्यादया भासते यत्र प्रातिपदिकार्थे स्वसमानविभक्तिकेन स्वाव्यवहितपूर्व-वर्तिना च पदेनार्थं उपस्थितो भवति । 'नीलो घटः' इति वाक्यश्रवणसमनन्तरं घटानुयोगिको नीलप्रतियोगिकोऽभेदसंसर्गः संसर्गमर्यादया शाब्दबोधेऽत एव भासते यतोऽत्र विशेष्यवाचकघटपदोत्तरविद्यमानविभक्तिसमानविभक्तिकेन नीलपदेन नीलरूपोऽर्थं उपस्थितोऽस्ति । 'नीलघटमानय' वाक्येनानेन जायमाने शाब्दबोधे नीलपदार्थघटपदार्थयोरभेदः संसर्गमर्यादयाऽत एव भासते यतो घटपदा-व्यवहितपूर्ववर्तिना नीलपदेन नीलरूपोऽर्थं उपस्थितोऽस्ति । एतावता 'नीलस्य घटः' इति वाक्येन नीलपदार्थघटपदार्थयोरभेदः संसर्गमर्यादया नीलपदार्थस्य स्वसमानविभक्तिकेन नीलपदेनोपस्थाप्यत्वाभावान्न भासत इति सुस्पष्टमेव । फलतः विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तिविरुद्धविभक्तिमत्पदोपस्थाप्यस्यार्थस्याभेदः संसर्गमर्यादया न भासत इति निर्गलति ।

विशेषणवाचकपदे विशेष्यवाचकपदसमानविभक्तिकत्वं स्वीक्रियते । नीलो घट इत्यत्र वाक्ये नीलपदे विद्यमानं विशेष्यवाचकघटपदसमानविभक्तिकत्वं किमिति प्रश्नः सहजमुदेति । स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्तिकत्वमेव स्व-समानविभक्तिकत्वमिति समाधानेन प्रश्नोऽयमाञ्जस्येन समाधीयते । स्वोत्तर-विभक्तिवृत्तिजातिमद्विभक्तिप्रकृतित्वमेव स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्ति-कत्वमित्यनुसन्धेयम् । अत्र स्वपदेन विशेष्यवाचकं पदं गृह्यते । 'नीलो घट' इत्यत्र स्वपदेन ग्रहीतं विशेष्यवाचकं पदं 'घट' इति पदम् । स्वोत्तरं विद्यमाना विभक्तिः प्रथमाविभक्तिः । अत्र प्रथमाविभक्तौ विद्यमाना जातिः प्रथमात्वम् । अनया प्रथमात्वजात्या विशिष्टा विभक्तिर्नीलपदोत्तरं विद्यमाना प्रथमाविभक्तिः । एता-दृशविभक्तिप्रकृतित्वं नीलपदे विद्यमानं स्वसमानविभक्तिकत्वमिति सुस्पष्टम् । विशेष्यवाचकपदोत्तरं विद्यमाना या विभक्तिः विशेषणवाचकपदोत्तरञ्च विद्यमाना या विभक्तिरनयोर्द्वयोः साजात्यं तावद्विभक्तिविभाजकप्रथमात्वादिना ग्राह्यम् । एतावता 'नीलस्य घटः' इति वाक्येन सुप्त्वजात्या विशेष्यविशेषण-वाचकपदयोर्घटनीलपदयोरुत्तरं विद्यमानायोः प्रथमाषष्ठीविभक्त्योः साजात्य-स्याक्षुण्णत्वेऽपि न नीलघटयोरभेदान्वयबोधः, विभक्तिविभाजकप्रथमात्वद्वितीया-त्वादिना प्रथमाषष्ठीविभक्त्योः साजात्यस्यासम्भवात् ।

विशेष्यविशेषणवाचकपदयोरुत्तरं विद्यमानयोर्विभक्त्योः साजात्यं न समानानुपूर्वीकत्वेन स्वीकर्त्तव्यम्, 'नीलस्य घटः' इत्यत्र समानानुपूर्वीकत्वेन

प्रथमाषष्ठीविभक्त्योः साजात्याभावादभेदान्वयबोधापत्तेर्निरासेऽपि 'वेदाः प्रमाणं' 'शतं ब्राह्मणाः' इत्यादिस्थलेषु विशेष्यविशेषणवाचकपदयोरुत्तरं विद्यमानासु विभक्तिषु सामानानुपूर्वीकत्वेन साजात्यस्यासत्त्वादभेदान्वयबोधानुपपत्तेर्वज्र-लेपायमानत्वात् । फलतः विशेष्यविशेषणवाचकपदयोरुत्तरं विद्यमानयोर्विभक्त्योः साजात्यं विभक्तिविभाजकप्रथमात्वादिनैव ग्राह्यमिति निर्गलति ।

असति विशेषानुशासने विशेष्यविशेषणवाचकपदयोः समानवचनकत्व-नियमः स्वीक्रियते । 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे' इति विशेषानुशासनप्रभावात् 'शतं ब्रह्मणाः' इत्यत्र स्थले विशेषणवाचकशतपदोत्तरं बहुवचनं प्रबाध्यैकवचनमेव सञ्जातमिति सर्वमवदातम् । 'वेदाः प्रमाणम्' इत्यत्र विशिष्टस्य कस्याप्यनुशासन-स्याभावाद् 'वेदाः प्रमाणानि' इत्येवं समानवचनकत्वनियमानुरोधेन प्रयोगः कथन्नोरीक्रियते कथं वा 'वेदाः प्रमाणम्' इत्यस्य प्रयोगस्य साधुत्वं सङ्गच्छत इति सहजतया प्रश्नमुस्सदेति ।

विशेष्यविशेषणवाचकपदयोः समानवचनकत्वनियमस्तावत् सर्वथा तिर-स्करणीय एवेति तु न समाधेयम् 'घटा नील' इत्यसमानवचनकस्यापि प्रयोगस्य साधुतापातात् । एतावता विशेष्यविशेषणवाचकपदयोरसति विशेषानुशासने समानवचनकत्वनियमः स्वीकरणीय इति सुनिश्चीयते । तथा च वेदाः प्रमाणम्' इत्यसमानवचनकस्य प्रयोगस्य साधत्वं कथमिति प्रश्नोऽसमाधेय एव तिष्ठति । यदि च समानलिङ्गकस्थल एव समानवचनकत्वनियमं स्वीकृत्य प्रश्नोऽयं समाधीयते तर्हि—

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

इत्यस्याः काव्यप्रकाशोल्लिखितायाः कारिकाया 'इति त्रयः समुदिता हेतुः' इत्येवं प्रसिद्धं प्रामाणिकं व्याख्यानं नितरामसङ्गतं स्यात् । अत्र विशेष्यवाचकस्य समुदितपदस्य विशेषणवाचकस्य हेतुपदस्य पुंलिङ्गकत्वेन समानलिङ्गकत्वादु-पर्युक्तनियमानुरोधेन विशेषणवाचके हेतुपदेऽपि बहुवचनमेव स्वीक्रियेत । तथा च काव्यप्रकाशकारिकाया व्याख्यानं 'इति त्रयः समुदिता हेतवः' इत्येवं विधमेव यथानियमं साधु सिध्येत । एतावता 'समुदिता हेतुः' इत्यत्र समानलिङ्गकत्वरूपस्य हेतोः सत्त्वेऽपि समानवचनकत्वरूपस्य कार्यस्यादर्शनेनान्वयव्यभिचारात् समान-लिङ्गकस्थलेऽसतिविशेषानुशासने विशेष्यविशेषणवाचकपदयोः समानवचनकत्व-नियमो निरस्यत इत्यवधेयम् ।

यद्येवं विशेष्यविशेषणवाचकपदयोः समानवचनकत्वनियमोऽनावश्यक

इत्यभ्युपगम्यते, विशेष्यवाचकपदासमानवचनकस्यापि विशेषणवाचकपदस्य साधुत्वञ्च स्वीक्रियते तर्ह्यसमानलिङ्गकस्थले 'वेदाः प्रमाणम्' इत्यत्र समानलिङ्गकस्थले 'इति त्रयः समुदिता हेतुः' इत्यत्र च यथा विशेषणवाचकप्रमाणहेतुपदयोरेकवचनन्तथैव 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' 'पितरो देवताः' इत्यादिषु स्थलेष्वपि विशेषणवाचकप्रमाणदेवतापदयोरुत्तरं स्वाभाविकं प्रथमोपस्थितमेकवचनमेवोपयुक्तं स्यात्। एवञ्च 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणम्' 'पितरो देवता' इदृशाः प्रयोगाः साधुताम्भजेयुः। एतावता विशेष्यवाचकपदसमानवचनकत्वं कुत्र स्वीकर्त्तव्यमिति निर्धारणे महत्काठिन्यम्प्रतीयते।

वस्तुतो यत्र विशेष्य'वाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याया विशेषणवाचकपदोत्तरं विद्यमानया विभक्त्याऽविवक्षितत्वं तत्रैव विशेषणवाचकपदे विशेष्यवाचकपदसमानवचनकत्वमभ्युपेयम् यत्र तु विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्या विशेषणवाचकपदोत्तरं विद्यमानया विभक्त्या विवक्षिता तत्र तावन्न समानवचनकत्वमित्यभ्युपेत्योपर्युक्तेषु सर्वेषु स्थलेषु विशेष्यविशेषणवाचकपदयोः समानासमानवचनकत्वस्य चिन्ताऽपनेया। एवञ्च वेदाः प्रमाणमित्यत्र विशेष्यवाचकवेदपदोत्तरविद्यमाजस्विभक्तितात्पर्यविषयबहुत्वसङ्ख्याविरुद्धाया एकत्वसङ्ख्याया विशेषणवाचकप्रमाणपदोत्तरविद्यमानसुविभक्त्या विवक्षितत्वेन न समानवचनकत्वं वेदप्रमाणशब्दयोरिति सुस्पष्टम्। 'इति त्रयः समुदिता हेतु'रित्यस्यां काव्यप्रकाशव्याख्यायामपि विशेष्यवाचकसमुदितपदोत्तरविद्यमानजस्विभक्तितात्पर्यविषयबहुत्वसङ्ख्याविरुद्धाया एकत्वसङ्ख्याया विशेषणवाचकहेतुपदोत्तरविद्यमानया सुविभक्त्या विवक्षितत्वादेव न समानवचनकत्वमिति विदुषां विज्ञातमेव। 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' स्थलेऽस्मिन् विशेष्यवाचकप्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दपदोत्तरविद्यमानजस्विभक्तितात्पर्यविषयबहुत्वसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याया एकत्वादेर्विशेषणवाचकप्रमाणपदोत्तरविद्यमानजस्विभक्त्याऽविवक्षितत्वेन समानवचनकत्वं सूपपद्यत इति निर्धारणीयम्। एवमेव 'पितरो देवता' इत्यत्र स्थलेऽपि विशेष्यवाचकपितृपदोत्तरविद्यमानजस्विभक्तितात्पर्यविषयबहुत्वसङ्ख्याविरुद्ध-सङ्ख्याया एकत्वादेर्विशेषणवाचकदेवतापदोत्तरविद्यमानजस्विभक्त्याऽविवक्षितत्वेन समानवचनकत्वं युक्तमेवेत्यवधेयम्।

वेदाः प्रमाणमित्यत्र विशेष्यवाचकवेदपदोत्तरविद्यमानजस्विभक्तितात्पर्यविषयबहुत्वसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याया विशेषणवाचकप्रमाणपदोत्तरविद्यमानसुविभक्त्या विवक्षिताया एकत्वरूपाया अन्वयस्तावत् प्रमितिकरणतावच्छेदकप्रमाणत्वावच्छिन्ने प्रमाणे प्रमाणपदार्थे बाधितोऽत एव प्रमाणपदार्थतावच्छेदके प्रमितिकरणत्व एव प्रमाणपदोत्तरविद्यमानसुविभक्तेरर्थस्यैकत्वस्यान्वयः

स्वीक्रियते । शाब्दबोधरूपाया: प्रमाया: करणत्वं यावच्छब्दनिष्ठं शब्दत्वावच्छिन्नमेकमेवेत्येकत्वान्वयो निराबाध एवेति सुनिश्चितम् ।

अत्र विशेषणवाचकप्रमाणपदार्थस्तु प्रमितिकरणत्वावच्छिन्नः। सुविभक्त्यर्थस्यैकत्वस्य प्रमाणपदार्थैकदेशे प्रमितिकरणत्वेऽन्वयेन "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेने"ति व्युत्पत्तिविरोधः कथं निराकरणीय इति प्रश्नः समुदेति।" घटत्वे नित्याभेदान्वयबोधेच्छयोच्चरितस्य 'नित्यो घट' इति वाक्यस्य प्रामाण्यापत्तिन्निरसितुं "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेने'ति व्युत्पत्तेरङ्गीकारस्तु नितान्तमावश्यकः । अस्या व्युत्पत्तेरङ्गीकारादेव नित्यरूपस्य पदार्थस्य घटपदार्थैकदेशे घटत्वेऽनन्वायात् 'नित्यो घट' इति वाक्यस्याप्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते ।

पदार्थान्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रत्यान्वयितावच्छेदकरूपेण पदार्थोपस्थितिः कारणमिति व्युपत्याधारेणैव 'नित्यो घट' इति वाक्यस्य प्रामाण्यापत्तिनिराससम्भवात् कथं "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेने"ति व्युत्पत्तिः स्वीकरणीयेति पुनः प्रश्नः समुदेति। प्रश्नोऽयं जातित्वविशिष्टघटत्वादिजातिमत्तात्पर्यकेण तत्पदघटितेन 'स नित्य' इति जातौ नित्यत्वान्वयतात्पर्यकेण वाक्येन प्रमात्मकबोधापत्तिनिराकरणमेव "पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेने' ति व्युत्पतिस्वीकारे बीजमिति समाधानेन निरवकाशतां नेयः।

गदाधरभट्टाचार्यः 'सम्पन्नो व्रीहिः' इत्यनेकव्रीहितात्पर्यकैकवचनप्रयोगमनुरुध्य "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेने"ति व्युत्पत्तौ सङ्कोचमावश्यकं मनुते। व्युत्पत्तौ सङ्कोचो नाम 'वेदाः प्रमाणम्' 'सम्पन्नो व्रीहिः' इत्येतादृशानि स्थलानि परित्यज्यान्येषु स्थलेष्वेव "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति" व्युत्पत्तेः प्रसरः । यस्य पुरुषस्य पार्श्वे विपुला व्रीहयो भवन्ति तत्रैव 'सम्पन्नो व्रीहिः' इति प्रयोगो दृश्यते। स्थलेऽस्मिन् व्रीहीणां बहुत्वाद् बहुषु व्रीहिषु व्रीहिपदोत्तरविद्यमानसुविभक्त्यर्थस्यैकत्वस्यान्वयः कथं सम्भवदुक्तिक इति सहजः प्रश्नः समुदेति। अत्रैकत्वान्वयं व्रीहिपदार्थतावच्छेदके व्रीहित्वे पदार्थैकदेशे विधातुमेवोपर्युक्तायां व्युत्पत्तौ सङ्कोचो विधीयते । व्रीहिपदार्थतावच्छेदकस्य व्रीहित्वस्य जातिरूपस्यैकत्वेनात्र सुविभक्त्यर्थस्यैकत्वस्यान्वयः सुकरो भवतीति स्पष्टम् । एवमेव 'वेदाः प्रमाणम्' इत्यत्रापि शब्दत्वावच्छिन्ने शाब्दप्रमितिकरणत्वे प्रमाणपदोत्तरं विद्यमानायाः सुविभक्तेरर्थस्यैकत्वस्यान्वयोऽपि निराबाध एवेति सिद्ध्यति। यदि सुविभक्त्यर्थस्यैकत्वस्यान्वयः स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थे व्रीहावेव सम्मतो व्रीहित्वे पदार्थतावच्छेदके च स्वार्थस्यैकत्वस्यान्वय व्रीहित्वस्यान्वयितावच्छेदकरूपेणानुपस्थितत्त्वान्न सम्मतश्चेद् वेदाः

प्रमाणम्' इत्यत्रापि प्रमाणपदोत्तरसुविभक्त्यर्थस्यैकत्वस्य स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदक—प्रमाणत्ववत्त्वसम्बन्धेन प्रमाणेऽन्वयसम्भवात् "पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेने"ति व्युत्पत्तौ सङ्कोचोऽपि नावश्यकः।

यत्तुमतावलम्बिनः केचनाचार्या व्रीहित्वजातावेकत्वभानं निरर्थकं मन्वते। 'सम्पन्नो व्रीहिरि'ति वाक्यघटकेन सुविभक्त्यात्मकेन प्रथमाविभक्तेरेकवचनेन नानैकत्वोपस्थितिमभ्युपेत्य, समुपस्थितानां नानैकत्वानां नानाव्रीहिषु समन्वयञ्च सम्पाद्य इमेऽनेकव्रीहितात्पर्यकस्य "सम्पन्नो व्रीहि"रिति वाक्यस्य साधुतां प्रामाणिकताञ्च प्रतिष्ठापयन्ति। एतावता व्रीहिपदोत्तरसुविभक्त्युपस्थापितस्यैकत्वस्यान्वयो नानाव्रीहिषु न सम्भवतीति पक्षो निरस्यत इति प्रतिभाति।

परमिदं यत्तुमतं न कथमपि श्रद्धेयम्, केवलस्यैकत्वस्य वस्तुमात्रसाधारण्येनार्थल्लाभादनुपयोगाच्चैकवचनार्थं एकत्वमात्रमिति स्वीकर्त्तुमशक्यत्वात्। वस्तुतो व्रीह्यादिपदोत्तरं विद्यमानस्यैकवचनस्यार्थः सजातीयद्वितीयरहितत्वरूपं विशिष्टमेकत्वं स्वीक्रियते। इदं विशिष्टमेकत्वं स्वसाजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वमित्यवधेयम्। एतावता स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वं व्रीह्यादिपदोत्तरं विद्यमानस्यैकवचनस्यार्थ इति स्फीतं भवति।

यत्र समानजातीयः कश्चन पदार्थो न तिष्ठति तत्र तत्पदार्थवाचकपदोत्तरमेकवचनं दृश्यत इति सर्वजनसिद्धोऽनुभवः। फलतः "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इति व्युत्पत्तौ दर्शितदिशा सङ्कोचपुरस्सरं, सुविभक्त्यर्थस्यैकत्वस्य स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वसंसर्गेण व्रीहावन्वयपुरस्सरं वा "सम्पन्नो व्रीहि"रिति वाक्येनान्वयबोधोऽभ्युपेय इति सिद्धान्तः पर्यवस्यति।

### टिप्पणी

१. विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याया अविवक्षितत्वे समानवचनकत्वनिमोऽभ्युपेयते। अत्रैतन्नियमानुरोधेन यत्र-यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याया अविवक्षितत्वं तत्र-तत्र समानवचनकत्वमिति समानवचनकत्वव्याप्यत्वं तादृशाऽविवक्षितत्वे लभ्यते। नियमेऽस्मिन्नञद्वयोपादानं व्यर्थमित्यापाततः प्रतिभाति परं यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्यासमानसङ्ख्याया विवक्षितत्वं तत्र समानवचनकत्वनियमोऽभ्युपगम्यते चेत् 'नीलो घट' इत्यादौ समानवचनकत्वप्रयोजकस्यविशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयैकत्वसङ्ख्यासमानसङ्ख्याया विशेषणवाचकनीलपदोत्तरविभक्त्या विवक्षितत्वस्य, विशेषणवाचकनीलपदोत्तरं प्रथमाविभक्तेरेकवचनस्य साधुत्वार्थकत्वस्वीकारेण, अभावात् समानवचनकत्वं व्याहन्येत। फलतः 'नीलो घट' इत्यादौ समानवचनकत्वमुपपादयितुं नियमेऽस्मिन् नञद्वयोपादानं सार्थकमिति निभालनीयम्, तथा च समानवचनकत्वप्रयोजकस्य विशेष्यवाचकघटपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयैकत्वसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याया विशेषणवाचक-

नीलपदोत्तरविद्यमानविभक्त्या अविवक्षितत्वस्य निराबाधान्नञ्द्वयमुपादेयमेव।

एवं 'नीलो घट' इत्यादौ विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्यासमानसङ्ख्याया एकत्वरूपाया नीलपदोत्तरविभक्त्या विवक्षितत्वं नास्ति प्रत्युत तादृशसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याया अविवक्षितत्वमस्तीति स्पष्टम्। घटगतैकत्वस्य घटपदोत्तरविद्यमानविभक्त्या एव बोधनेन घटगतैकत्वमेव बोधयितुं नीलपदोत्तरविभक्तौ शक्तिकल्पनस्यानावश्यकत्वेन विशेषणनीलपदोत्तरविद्यमानाया विभक्तेः साधुत्वार्थकत्वस्वीकार एव समुचितः।

अत्रेदं विशेषतोऽवधेयम्— "विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याया अविवक्षितत्वे समानवचनकत्वनियमः" इति कथनेन पूर्वोक्तरीत्या यदि समानवचनकत्वव्याप्यत्वं तादृशाऽविवक्षित्वे स्वीक्रियते तर्हि नञ्द्वयानुपादानेऽपि प्रयोजकाभावात् समानवचनकत्वाभावो नीलो घट इत्यादौ दर्शितदिशा नापादयितुं शक्यो व्याप्याभावस्य व्यापकाभावेऽप्रयोजकत्वादिति तु नाशङ्कनीयम् विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्यासमानसङ्ख्याया विविक्षितत्वे-समानवचनकत्वे च परस्परं व्याप्यव्यापकभावस्य सत्त्वेन व्यापकाभावस्य व्याप्याभावप्रयोजकत्वेन च समानवचनकत्वाभावापत्तेः जागरूकत्वात्।

# Vedas : Human Welfare and Universal Peace

—Prof. S.B. Raghunathacharya

No human race can flourish without cultural background. In fact, culture is an integral part of mankind. It is the culture that differentiates man from other beings. It is also the same culture that holds human beings together. The universe has witnessed the rise and fall of several cultures such as Mesapotomion, Greek, Roman. One cannot but consider the Indian Culture to be the noblest of all owing to a number of reasons. Evidences are there to say that it is the earliest of all, broadest of all and deepest of all. Many cultures rose and perished. But the Indian Culture remained unshaken in-spite of several formidable invasions. Perhaps it might be the unneighbourly trend of the other cultures that led them to their downfall. That is the special feature of Indian Culture—"Unity in diversity". It is a confluence of different flows of traditions.

It is in vain to attempt to segregate Vedic Culture and Indian Culture. The Indian Culture minus vedic literature is an ever-blank question. Indeed, we can't imagine India or its culture devoid of vedic literature. This magnificient literature is unparalleled, by virtue of its antiquity, omniparity and omniscience. The very word "*Veda*" itself denotes "the knowledge". It is a cluster of multifarious knowledge. The school of Purvamimamsa defines Veda thus—अपौरुषेयं वाक्यं वेदः. What is meant by the word Apaurusheyam ? That which was not composed by human beings. A literature, that was not composed by human beings : How could it be ? It was already explained that Veda is nothing but scientific knowledge,

which is eternal. The "theory of relativity" was there even before Albert Einstein. He described it and it will continue to be. It was not created by him; but was just discovered and retold. Likewise the Vedic knowledge too has no creator but only seer. The Vedic texts are mainly divided into two—mantras and Brahmanas. The word "Mantrakrit" occurs on countless occasions in alied Vedic texts. This word does not mean—the maker of Mantra—as told by several so called Pandits. Sayana clarifies in his Bhashya on Taittiriya Aranyaka—यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्तारो न सन्ति। तथापि कल्पादौ ईश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृत इति उच्यन्ते। There are no writers of Veda. Only some fortunate and pious sages could get the Mantras due to the grace of the creator. Though they did not compose Mantras, they are just called Mantrakrits. The statement of Sayana is an echo of what Manu says—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञातास्स्वयम्भुवा ॥

## Rigveda

Veda was one before being divided by sage Veda-Vyasa. This name itself means—the divider of Vedas. The division made by him is quite scientific. First he segregated Riks. What is Rk ? Sayana explains—ऋच्यये स्तूयते देवता यया सा ऋक्। Rk means that, by which the deity is praised. There is another definition—तेषां ऋक्। यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। Where the system of (four) quarters is followed, according to sense, it is called "Rk". Thus feels the Mimamsa Darsana. (2-1-85). Shabarasvamin in his Bhasya interprets—यत्र पादकृता व्यवस्था स मन्त्रः ऋङ्नामा। That Mantra which possesses the organization of quarters is called Rk. It is to say that the Mantras with four meaningful quarters are called Rks.

## What is Mantra

It is not out of place to discuss here the meaning of

Mantra. The etymology means that the one which protects the meditator. 'मननात् ज्ञायते इति मन्त्रः'। But the Mimamsa Shastra defines it in a different way. 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारकाः मन्त्राः।' Such Vedic passages which remind you of the sacrificial procedure while performing a ritual are called Mantras.

If the Mantra possesses four quarters bound by metres, it is called Rk and the pile of Riks is called Rgveda. It is a vast one divided into 10 Mandalas with so many subdivisions. This Veda had, once upon a time, 21 branches. But now, only two—Shakala and Bashkala—are existing. Some of the extinct branches are available just in fragments. The commentaries of Sayana, Venkatamadhava and others help us to estimate the glory of Rigveda. It is this Veda that attracted the sharp eye of Western scholars like Max Muller. While a Vedic ritual is performed, the priest called Hotr utters passages of this Veda; invoking and inviting the deities to the sacrifice.

**Yajurveda**

Of all the four Vedas the Yajurveda is the most important one. Sayana, in his introduction to the commentary of Taittiriya Samhita says—तत्र भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः चित्तस्थानीयो इतरौ। The Yajurveda is like the wall and the other Vedas like paintings on the wall. It goes without saying that this Veda enjoys a pre-dominant place in the performance of the rituals. The main priest Adhvaryu officiates with this Veda. The etymology of *Yajus* runs thus—"इज्यन्ते देवता अनेन इति यजुः।" With this the deities are worshipped. The Kathaka-samhita also gives the same meaning 'यजुर्भिः यजन्ति'—(27-1). The sacrifice cannot take place without this Veda and Yajus is another name of Yajna. 'यज्ञो हवै नामैतत् यद्यजुरिति'—(4.6.7.13). The Maitrayanisamhita also reiterates यजुषा चैवाऽऽहुत्या च यज्ञछसन्तनोति (मै० सं० ४-७-७). This Veda is mainly divided into Shukla and Krishna. The former, which had 16 branches is called

after the great sage Yajnavalkya. Presently only 2 branches viz. Madhyandina and Kanva are available. The latter one, Krishna-yajurveda, had 86 branches of which only 4 are now available; viz. Taittiriya, Maitrayaniya, Kathaka and Kapisthalakatha. Among the four, the first one is available with the commentaries of Sayana and Bhattabhaskara.

**Samaveda**

The Samaveda consists of Rks (as Rigveda) which are sung in various tunes. Jaimini says—गीतिषु सामाख्या. Generally we listen three Svaras—Udatta, Anudatta and Svarita in other Vedas. But in Samaveda there are 21 Svaras three times more than those known by classical musicians. "उपांशु व्यतिरिक्ताः सर्वा वाचः मन्द्रमध्यमोत्तमभेदेन त्रिस्थाना भवन्ति। तत्र मन्द्रस्थाना वाक्……क्रुष्टादि सप्तस्वररूपेत्यर्थः। एवं मध्यमोत्तमस्थाने अपि वाचौ वेदितव्ये" Sayana on 1-8 Samavidhanabrahmana). That is why Shabarabhashya says that Sama is a special song. "विशिष्टा काचिद्गीतिः सामेत्युच्यते। प्रगीते हि मन्त्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति।"

The speciality is due to the number of Svaras. This sweet and melodious Samaveda once upon a time had thousand branches. We have to curse upon ourselves that we lost nine hundred and ninty seven branches. The existing ones are 1. Ranayaniya 2. Kauthuma and 3. Jaiminiya. The Samavidhanabrahmana says that Samans are the bread and butter of deities. Just by listening the Samans the celestials and manes forget their hunger and thirst. Even the Rakshasas Pishacas and Asuras bow their heads to the tunes of Samaveda. The invisibly small creatures too desire pleasure by Samans. Not only the number of Svaras but also the entrancing sweetness is three times more in Samaveda than in classical music. Wonder! More than 70% of Samavedic text is borrowed from Rigveda.

**Atharvaveda**

Then comes the Atharvaveda; named after the formida-

ble scientist-sorcerer. This too contains Rks heavily and they are full of scientific theories. Once this Veda had 9 branches out of which just 2 survived. They are Saunaka and Paippalada. The famous Mantric and Tantric text गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषत् belongs to this Veda. Alongwith Atharvan, another sage called Angirah also contributed a great deal to this Veda as seer.

**Vedas : Western Scholars**

Vast is the Vedic literature. Not only Indians; the westerns too have their own contribution to the Vedic literature. Being afraid of the length of my article I mention just the names of some of them. In the early 19th century itself **Friedrich Rosen** rendered wounderful service to Vedas. He was followed by **Eugene Burnouf, F. Max Muller, H. H. Wilson Rudolf Roth, S. Keith, J. Stevenson, W. Caland** and **R.T.H. Griffith**. Of these Max Muller, H.H. Wilson R.T.H. Griffith and some others translated Vedas, into German, English and other languages. W. Caland published several unpublished Vedic texts. I am to say that we Indians should not ignore the contribution of Western scholars while surveying the Vedic literature.

Of course, there are certain remarks passed by Westerners on certain Vedic passages and certain Indian Vedic commentators. These harsh remarks deserve to be ignored since they were made due to lack of sufficient Indian/Vedic traditional back-ground. For example, take F. Max Muller's comments on Sayana—"Those who recollect the history of Vedic Scholarship during the last five and twenty years know best that with all its faults and weaknesses, Sayana's commentary was a *Sine qua non* for a scholar—like study of the Rigveda." I do not wonder that others who have more recently entered on that study are inclined to speak disparagingly of the scholastic interpretation of Sayana. They hardly

know how much we all owe to his guidance in effecting our first entrance into their fortress of Vedic language and Vedic religion, and how much even they; without being aware of it, are indebted to that Indian Eustathices.

**Sayana**

But, had not Sayana written Bhasya none could have ventured to interpret Vedas. This is a fact that should not be forgotten. There is no parallel to him. No one could compose Bhashya on four Vedas. Sayana's scholarship of Kalpasutras, Mimamsa and Vedanta Shastras is clearly visible in his Bhashyas.

**Human Welfare**

The Vedic literature and religion, at every step, cared for human welfare. Protection of health is considered as the first object because unhealthy one can neither perform rituals nor preserve the Vedic knowledge for future generations. Health, to a large extent, depends upon food habits. Excess-eating is prohibited. The limited food should even be pure; because it is the food which turns into various constituents of the body. "अन्नमशितं त्रेधा विभजते । तस्य यस्स्थविष्ठो भागस्तत्पुरीषं, यो मध्यमं तन्मांसम् योऽणिष्ठं तन्मनः ।" Thus says the Upanishad.

**Avoid Non-Veg. Food**

Today, the scientists are rebuking non-vegitarian food, saying that non-vegetarians are more exposable to dreaded diseases like cancer. This fact was revealed by Kaushitaki Brahmana of Rigveda thousands of centuries ago.

"तद्यथा ह वाऽस्मिन् लोके मनुष्याः पशूनश्नन्ति । यथैभिर्भुञ्जते । एवमेवामुष्मि लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति । एवमेवैभिर्भुञ्जते ।" (कौ०ब्रा० ११-२)। Now, we eat the beasts; but after some time in some other place they eat us. It is to warn that you would become prey to your non-veg prey. This wonderful passage contains message of scientific fact and human welfare. Not only wel-

fare of humans but also that of the quadrupeds.

**Acamana**

Every Vedic ritual has to be started with Acaman; sucking water thrice. There are three kinds of Acamanas. श्रौताचमन, स्मार्ताचमन and पुराणाचमन। All these are intended to purify the man. Shatapatha Brahmana says—

तद्यदप उपस्पृशति। अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। 'तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। तस्माद्वा अप उपस्पृशति।

(१.१.१.१)

With our mouth we do many prohibited things such as lieing. Since the water is sacred, it purifies the sins. We can start the ritual with pure mind and body after the Acamana. Thus, we will serve the society with rituals.

**Prominence of Women : Child Welfare**

It is not the policy of Vedic culture to degrade woman. Without wife, according to Vedas, man is not even eligible to perform rituals. He will be full only when he is accompanied by his wife. Without her, he is not unique. Thus says Shatapathabrahmanas—

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया। तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्र जायते। असर्वो हि तावद्भवति। अथ यदैव जायां विन्दते। अथ प्रजायते। तर्हि हि सर्वो भवति। सर्वं एतां गतिं गच्छन्तीति। (५.२.१.१०)

The husband is only a half. The other half is wife. Saying this the Veda emphasizes the right and welfare of woman. Besides, it says that without her he cannot produce a good citizen and contribute to the society. The man will be unique when he is accompanied by his wife and child. This Vedic passage also reminds us of child welfare.

**Encircling Asvatthah and Vedic Medicine**

The vedic religion and science are thus mingled that we cannot segregate them. The Indian woman encircles the

banyan or Asvattha tree to get progeny. The Veda says that Prajapati and Agni stayed in this tree in the shape of a horse, and hence this tree can give Praja or Progeny like Prajapati—

"प्रजापतिर्देवेभ्यो निलायत। अश्वो रूपं कृत्वा सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्। तदश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्। अग्निर्देवेभ्योनिलायत। अश्वो रूपं कृत्वा सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्। तै०ब्रा० ३.८.१२, १.२.१

The Ayurveda also says that the Asvattha is capable of curing certain woman diseases. In rituals, some homas are performed with the leaf of Arka plant. The touch of this leaf cures many skin deseases. The touch of lotus is prescribed by Vedic texts to cure T.B. Even the Ayurvedic physicians prescribe "**Aravindasava**" a bewerage of lotus to cure T.B. Hairdye is mentioned in Taittiriyabrahmana. A mantra is read thus—"नक्तं जातास्योषधे।...किलासं च पलितं च यत्। इदग् रजनि रजय (तै०ब्रा० २.२.४) This mantra addresses a herb called **Nili** to blacken the white patches on the body and grey-hair on the head.

**Earth : The Fire Ball**

There are people who are colour-blind and night-blind. Even those considered to be full in vision lack in something. The earth is called अग्निगर्भा Fire is there under the earth. We cannot see the earth as Agnigarbha. But the birds can says Taittiriya Samhita. सर्वा वा इयं वयोभ्यो नक्तं दृशे दीप्यते तस्मादिमंवयांसि नक्तं नाध्यासते (T.S. 5-6-4-4). Since the birds see the earth as a ball filled with fire they do not touch the earth. During nights, they remain only on trees away from the Agnigarbha. Thus, there are innumerable scientific facts in Vedic passage and rituals. All these facts are intermingled with human welfare and the welfare of other beings.

**Broad Out-look**

The Vedas are broad-minded. If the sacrifice called

Kariresti is performed, the draught will end with rain fall. If it rains, it does not rain only in the field of sacrificer; but on all of others. So also the results of all vedic rituals are not meant for just some people but to all beings. Selfishness is not at all found even if searched through magnifying glasses. Please listen to the Vedic passage—"भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः"—O! God! Let us all listen good things, see good things. The invocation is not just for a single person but for the sake of all beings. "सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु"—"Let all peoples be happy" is our slogan. The narrow minded think of himself; but the broadminded consider the entire universe as one single family."

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

The Vedic way of thinking is this. Our aim is not just the welfare of the beings on the earth. We wish the welfare of the other worlds : "लोकास्समस्ताः सुखिनो भवन्तु"।

We are the heirs of such a great tradition. Let us all remember and behave accordingly. We, in course of time, lost invaluable treasure of several vedic branches. I repeat that out of 21, only 2 Rigvedic branches, out of 101 only 6 Yajurvedic branches out of 1000, only 3 Samavedic branches and out of 9 only 2 Atharvavedic branches are now extant; the others are extinct. It is our foremost duty to preserve at least the remaining vedic branches thus preserving our culture and science. Our culture has no confrontation with any other one. It is because of this, our culture and knowledge could survive this long vista of time and it will continue. Let us all join together to protect this Vedic knowledge and culture which alone can bring in peace to the world and international brotherhood. It is time to recall the Vedic message once again—

"Let us all join together. Let us speak alike. Let us

behave knowing each other's view. Let us mingle heartily. Let us have common goal. Let us think alike and Let us work together. Let us drop hatred. Let us wish the welfare of all the beings and worlds.

"संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्"
"सहनाववतु सह नौ भुनक्तु
सह वीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु
मा विद्विषावहै ॥"

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

# The Genesis and the Foundation of the Dhvani System

—**Ravi Shankar Nagar**

The grander idea of the Pratiyamana (Implied Meaning) out of which later emerged the sublime system of Dhvani which greatly influenced the whole domain of Sanskrit Poetics of subsequent period did not dawn suddenly in the mind of Anandavardhana. It has a long history of evolution till it reached perfection in the hands of the master craftsman —Anandavardhana in the shape of the doctrine of Dhvani.

Even the Vedic seer is conscious of the fact that apart from the surface meaning of Vak (speech) there is a charming inner meaning also lying concealed behind it, which is visible only to a gifted few and not to each and everyone, who comes in contact with it. There may be many who look at it but see it not, who hear it but understand it not but the same Vak looked and heard by a few of deep insight reveals to them its hidden treasure of grander meaning lying concealed therein as a devoted wife strips open her covered beauty to her loving husband.[1] In another passage in the Rigveda the sage says that the great poets select their words "winnowing away the chaff from the grain" and only men of equal scholarship and literary taste can fully appreciate their poems.[2]

---

१. उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥
—ऋग्वेदः १०.७१.४

२. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥
—ऋग्वेदः १०.७१.२

These Verses in the Vedas hint at the fact that the Vedic seer had the profound sense of appreciation for the concealment of meaning which lends charm to speech (Vak). He knew also well that this hidden meaning can be comprehended and admired not by everyone who looks or hears speech but by a few who have rare quality of probing deep into the outer cover of it.

By the analysis of the Vedic verses it becomes abundantly clear that the seed of Pratiyamana (suggested meaning) and later that of the theory of Dhvani was sown even as early as the composition of the Rigveda. When we study the Dhvanyaloka of Anandavardhana, we meet the same idea of the vedic seer echoed in the Karika of the Dhvanyaloka. Anandavardhana like the Vedic seer admits that not every body who reads or hears the Dhvani Kavya is able to grasp and appreciate the beauty of Dhvani. It is only a few called the Sahridayas (connoisseurs) gifted with the aesthetic sensibility who are worthy of comprehending it. He says that the Pratiyamana Artha is not understood by merely learning grammar and dictionary. It is understood only by those who have insight into the true significance of poetry.[3] He, therefore, ridicules Mimamsakas and Tarkikas (logicians) that their proficiency in deliberations and dispositions of linguistic expression, however great it may be, is of no use in the comprehension of the Pratiyamana Artha, which remains covered by the wrapper of surface meaning of words and is grasped only by connoisseurs who have an ability of peeping into it.

The dictionary or lexical meaning of a word analysed by the grammarians and Mimamsakas has no charm and attraction. In Dhvani-kavya the meaning of word viewed in

---

३. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

—ध्वन्यालोकः, १.७

its context attains beauty and dimension and is far more superior to the derivative or lexical meaning given by grammar or dictionary. A dictionary or grammatical meaning of word detached from any particular context is dead because it is detached from the living flow of speech. A dictionary or grammar is a cemetary of the dead. There in ceremonial order lie the bodies of words waiting to be given a new lease of life by the poets of Dhvani.

Anandavardhana in the Dhvanyaloka fully realised this circumstantial value of word-meaning and he and stepping into his shoes Mammata too; both are, therefore, often seen passing strictures against those who do not look at the meaning of words in their proper context.

It is usual with linguistics and etymologists to look at words as completely divorced from their associations and context and take them at their face value. But Anandavardhana realised that taking the word away from its surroundings and context is to kill it by robbing it of its colour and glow. A word has an aura of meaning which is given to it by the context. Those who are not aware of the context in which word is used cannot fully grasp the inner meaning of word which is termed as Pratiyamana by him and is, therefore, compared with the charm and glamour of lovely damsels.[4]

As already pointed out the seed of this idea of Pratiyamana can be traced as far back as the Rigveda itself. Some Vedic verses pregnant with the idea of Pratiyamana Artha might have inspired Anandavardhana but it appears that it was the great grammarian Bhartrihari, the supermost authority on the linguistic expression, who cast a wide shadow of influence over him in the formulation of his theory of

---

४. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
—ध्वन्यालोकः १.४

Dhvani. An ordinary observer would think that the system of Dhvani in Sanskrit Poetics stands wide apart from the system of grammar expounded by Bhartrihari. But the careful study of the Vakyapadiya and the Dhvanyaloka reveals that both are to some extent linked with each other as both Bhartrihari and Anandavardhana deal with problems relating to linguistic expression, both have common meeting ground and the observations of Bhartrihari help Anandavardhana to arrive at some conclusions in his Dhvanyaloka.

Bhartrihari, considered the expression element as of paramount importance since, as he says, "this is the absolute reality serving as a substratum of the great illusion represented by the Universe."[5] This observation of Bhartrihari receives a developed form in the system of Anandavardhana which by postulating the Vyanjana function of the language emphasises the importance of expression in the poetic composition.[6] Vyanjana is an art of poetry by which a creative artist is able to transfer his mind to the receptive reader.

The significance of the context, the very embryo of the theory of Dhvani, is time and again stressed by Bhartrihari. He says that what one understands from other people's words is very much coloured by one's own background. The meaning understood from words depends upon the culture of the listener and can differ according to tune and place.[7]

---

५. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥
—वाक्यपदीयम्, १.१

६. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥
—ध्वन्यालोकः १.१५

७. (i) यथेन्द्रियं संनिपतद्वैचित्र्येणोपदर्शकम् ।
तथैव शब्दादर्थस्य प्रतिपत्तिरनेकधा ॥

The reflection of this idea of Bhartrihari can very well be seen in between the lines of the Dhvanyaloka wherein Anandavardhana observes that the denotation of every word is constant because right up from childhood, when one first picks up language to the last, the meaning of each word is not so constant. The reason is that it is adventitious. Its apprehension is there only when all circumstances such as context combine in conveying it, otherwise it will not be apprehended at all.[8]

The very foundation on which the sublime edifice of Dhvani-system is built is the concept of *Vyakti*—Manifestation. This concept of *Vyakti* that anything existing within is revealed as a pot existing in darkness is revealed by the light of the lamp, is found deep rooted in the Vakyapadiya. While discussing the cognition of Sphota by Sounds (Nada), Bhartrihari admits that there is the relation of the manifester and manifested between particular sounds (Nada) and the word (sphota). This relation is termed by him as '*Vyangya Vanjakabhava*'.[9] Bhartrihari further observes

---

वक्त्राऽन्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु ।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते ॥

—वाक्यपदीयम्, २.१३४-३५

(ii) वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥ —तत्रैव २.३१

८. (i) वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा । व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् । स त्वनियतः, औपाधिकत्वात् । प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः । —ध्वन्यालोकः, पृ० ३६७

(ii) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

—काव्यप्रकाश: ३.२१-२२

९. ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा ।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥

—वाक्यपदीयम् १.९७

that just as light has two powers, one that of being revealed and the other that of being the revealer, similarly all words have two distinctive powers.[10] Anandavardhana reflects this idea of Bhartrihari when he states that when one sense conveys another through suggestion, the first sense retains its individuality while conveying the other just like a lamp.[11] It appears that not only the concept lying behind the term Vyakti is adopted by Anandvardhana from Bhartrhari but also even the term '*Vyangya Vyanjakabhava*', which he is seen to use frequently in his work the Dhvanyaloka while elaborating his novel theory of Dhvani.[12] Since *Vyakti*—the idea of manifestation—is the vital element transfusing blood into the arteries of Dhvani system, it is very pertinent that Mahimabhatta, an anti Dhvani theorist, in order to demolish the structure of Dhvani first hits vehementaly at this very notion,[13] which according to him is the gene from which the whole organism of Dhvani doctrine has grown and developed.

There is yet another striking similarity between the thinkers (Bhartrihari and Anandavardhana). Bhartrihari pointing to the inherent power of word observes that the power of the conveyer, the symbol and the power of being the conveyed, the symbolised are always inherent in the 'Shabda-tattva' and it is they (the powers) which are actualised or

---

१०. ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥

—वाक्यपदीयम्, ५.१५

११. व्यञ्जकत्वमार्गे यदाऽर्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्........स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते।

—ध्वन्यालोकः, पृ० ३५२

१२. व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि। —ध्वन्यालोकः ४.५

१३. प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता।
ध्वनेः शक्त्यन्तराभावात् व्यक्तेश्चानुपपत्तितः ॥ —व्यक्तिविवेकः, पृ० ४५५

manifested when we try to say something.[14] Taking clue from Bhartrihari Anandavardhana developed this latent power of word in his Dhvani system in the shape of Vyanjana and emphasised that the word possessing this inherent capacity of conveying grander meaning, Pratiyamana, is to be carefully recognised by the master poets as well as connoisseurs.[15]

In analysing the nature of poetic experience Dhvani system asserts that it is an indivisible totality incapable of being analysed into component parts.[16] This seems to be the clear reflection of the doctrine of indivisibility propounded by Bhartrihari that there are no phonemes in the word nor are there parts in the phoneme. There is no absolute difference of the words from the sentence.[17]

Anandavardhana while analysing the various kinds of Dhvani says that there is a variety of Dhvani where in the sequence existing between the expressed sense and the suggested sense is not noticeable and there is an other variety of Dhvani where the sequence is noticeable.[18] This notion of

---

१४. प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा ॥
—वाक्यपदीयम्, २.३२

१५. सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥
—ध्वन्यालोकः, १.८

१६. प्राधान्यञ्च यद्यपि ज्ञप्तौ न चकास्ति 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झगित्येवावभासते' (ध्वन्यालोकः १.१२) इति नयेनाखण्डचर्वणाविश्रान्तेः। —ध्वन्यालोकलोचनम् पृ० १८६

१७. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥
—वाक्यपदीयम्, १.७३

१८. (क) असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥
—ध्वन्यालोकः, २.३

(ख) येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावी क्रमः। —ध्वन्यालोकः पृ० ३३८

sequence is also found in the Vakyapadiya. Bhartrihari says that just as there is a definite sequence in the transformation of milk or of the seed in the same way there is a definite sequence in which the cognitions of perceivers take place in regard to the word (i.e. sentence)[19] Anandavardhana close at the beds of Bhartrihari realises the significance of sequence in his system and this 'Anupurvi-niyama' of Bhartrihari forms the foundation stone of his main division of Dhvani into Samlakshyakrama-Vyangya and Asamlakshyakrama Vyangya. As there is a definite sequence in the transformation of milk or of the seed; that sequence (krama) is also there in the comprehension of the suggested sense. Sometimes it is noticeable as in the case of a seed and sometimes it is not noticeable as it is in the case of milk.

When the Dhvani theorists state that a word according to the situation and adventitious circumstances (upadhi) in which it is placed can be termed expressive (Vacaka), or Indicative (lakshaka) or suggestive[20] (Vyanjaka) while Gangayam (In the river Ganges) remaining the same as is the case in the statement Gangayam Ghoshah (The hamlet (is) in the river Ganges), they simply echo the doctrine of Upadhi emunciated by Bhartrihari that the word (sphota) is actually one but it is adventitious circumstances (upadhi) due to which it appears manifold.[21]

It is, therefore, evident that Anandavardhana has reaped a rich harvest of the principles propounded by Bhartrihari and has made a profitable utilisation of them in establishing his system of Dhvani. Abhinavagupta, the great commentator of Dhvanyaloka, visualised the wide shadow

---

१९. यथानुपूर्वीनियमो विकारे क्षीरबीजयोः ।
तथैव प्रतिपत्तृणां नियतो बुद्धिषु क्रमः ।।

—वाक्यपदीयम्, १.६१

२०. स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा । —काव्यप्रकाशः, २.१

२१. एकमेव समाम्नातं भिन्नं शक्ति व्यपाश्रयात् । —वाक्यपदीयम् १.२

cast by Bhartrihari over Anandavardhana. He henceforth quoting the Karikas from the Vakyapadiya proves that not only the concepts and notions lying behind Dhvani system but even nomenclature is also borrowed from him.[22]

Thus, the spirit of Bhartrihari pervades through out the Dhvanyaloka and Dhvani system and it is but appropriate that Anandavardhana and subsequent Dhvani theorists like Mammata etc pay a glowing tribute to him and his fellowmen grammarians.[23]

It is evident that the structure of the Dhvani system which had its root in the Vedic hymns was later on erected on the foundation of the Sphota system of the grammarians. It is, therefore, pertinant that Dhvani theorists always hold grammarians in high esteem and pay them respect with honorific title—प्रथमेविद्वांस: ।

## Select Bibliography

1. Iyer, K.A., Subramania, Vakyapadiya of Bhartrihari with the Vritti and the Paddhati of Vrishabhadeva, D.C.P.R I. Poona, 1966.
2. Abhyankar, K.V. & Limaye, V.P., Vakyapadiya of Bhartrihari, University of Poona, Poona, 1969.

---

२२. श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्या: शब्दा: श्रूयन्ते इति प्रक्रियायां शब्दजा: शब्दा: श्रूयमाणा इत्युक्तम् । तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति, ते च ध्वनिशब्देनोक्ता: । तथाह तत्र भवान् भर्तृहरि:—'य: संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स: स्फोट: शब्दजा: शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृता: ।' एवं घण्टानिह्राद स्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृत: ।······अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्य: शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणाख्येभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरुक्त: । एवं चतुष्कमपि ध्वनि: । —ध्वन्यालोकलोचनम् पृ० २४०-४४

२३. (क) परिनिश्चित निरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार:—ध्वन्यालोक: तृतीय उद्योत: पृ० ३७५

(ख) बुधैर्वैयाकरणै: प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार: कृत: तथैवान्यैरपि तन्मतानुसारिभिर्न्यग्भावितवाच्य व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य । —मम्मट:, काव्यप्रकाश: १.४

3. Potter, Simeon, Modern Linguistics, Andre Deutsch 12-14, Carlisle Street, London, 1957.
4. Raja, K. Kunjunni, Indian Thories of Meaning, Adyar Library, Madras, 1969.
5. Sastri, Kuppuswami S, The Dhvanyaloka of Anandavardhana with the Locana Commentary and the Kaumudi commentary on Locana by Uttungodaya, K.S.R.I. Madras, 1944.
6. Krishnamoorthy K., Ananda Vardhava's Dhvanyaloka (translated into English with notes) Oriental Book Agency, Poona, 1955.
7. Mishra, Madhusudana, The Vyakti Viveka of Shri Rajanaka Mahimabhatta, Banaras, 1936.
8. Jhalkikar Vamanacarya, Kavya Prakasha of Mammata, B.O.R.I., Poona, 1933.

—o—

# वेदाङ्गानि

—आचार्यफुल्लेलश्रीरामचन्द्रः

अथ मानवस्योन्नत्यवनत्योः हेतुभूते कार्याकार्ये अनुशासत् वेद एव प्रथमं शास्त्रम्; अन्येषां शास्त्रता तु तेषां वेदसंबन्धायत्तैवेति सुनिश्चितोऽयमास्तिकानामाशयः। वेदस्यास्य शास्त्रतां सार्थकीकर्तुं सुपरिनिष्ठितं वेदार्थज्ञानं नितरामावश्यकम्। अपरिज्ञातोऽर्थो वेदः कथं वानुशिष्यात् धर्माधर्मौ? अत एव "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति श्रुत्या विहितस्य वेदाध्ययनस्य किं स्वर्गादिकं किञ्चिददृष्टं फलम् उत अन्यद्वा किंचिद्दृष्टमिति संशये "लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना" इति न्यायेन अध्ययनविधिनानस्वर्गाद्यर्थमध्ययनं विधीयते; किंत्वर्थज्ञानोद्देशेनैवाध्ययनं विधीयते" इति निर्णीतं संप्रदायविद्भिः। प्रसिद्धा एव हि वेदार्थस्य ज्ञानं प्रशंसन्त्यः, निन्दन्त्यश्चाज्ञानं बह्वृचो ऋचः निरुक्तादिषूदाहृताः—

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥"
"यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥"
(निरु० १.६.१८)

"अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवान् अफलामपुष्पाम्"
(निरु० १.६.१९)

इत्याद्याः। युक्तमेव किलेदम्—यतः लोकेऽपि धातुपाठादिसहिताम् अखिलामप्यष्टाध्यायीं जिह्वाग्रे धारयन् तदर्थानभिज्ञश्च पुमान् न खलु कमपि प्रयोगं साधयितुमीष्टे नापिवार्हति वैयाकरणाभिधामधिगन्तुम्। अतश्च निश्चितप्रायमेवेदं यदर्थज्ञानविहीना केवलवेदाक्षरावगतिः केवलं महते भारायैवेति।

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" केवलशब्दग्रहणमिव अर्थमात्रज्ञानमपि निष्फलमेव यदि वेदबोधितानि कर्माणि नानुष्ठीयन्ते वेदमन्त्रोच्चारणपूर्वकम्। कर्मविधानज्ञानमात्रेणैव कर्माचरणफलस्य प्राप्ति बोधयतां "तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेतं वेद" इत्यादीनां वाक्यानाम् अर्थवादतैवेष्टव्या, अन्या वा गतिः कल्पनीया; विधानज्ञानमात्रेणैव फलप्राप्तौ महता श्रमेण साध्ये कर्मणाम् आचरणे कस्याप्यप्रवृत्तेः। अत एव विधानज्ञानमात्रेण वाचिकायाः मानसिक्या एव वा ब्रह्महत्यायाः तरणं भवेत्, न तु कायिकया इति प्रत्यपादि ऋग्यजुर्वेदभाष्ययोः श्रीमद्भिः सायणाचार्यैः—"ब्रह्महत्याया अपि मानस्याः स्वल्पाया वेदन-

मात्रेण तरणं, कायिक्यास्तु महत्या: अश्वमेधेनेति नास्त्यानर्थक्यम्" इति, अल्प-प्रयाससाध्येन वेदनेन तत्सिद्धौ बह्वायास साध्यमनुष्ठानं व्यर्थं स्यादिति चेन्न; तरणीयाया: ब्रह्महत्याया: मानसिकवाचिकत्वादिभेदेन तारतम्योपपत्तेः, मनसा संकल्पिता, वाचाभ्यनुज्ञाता, परहस्तेन कारिता, स्वयं कृता, पुनः पुनः कृता चेत्येवं तारतम्येन व्यवस्थिता ब्रह्महत्या अनेकविधा। अतस्तरणमप्यनेकविधम् यथा स्वर्गो बहुविधस्तद्वत्" इति च विशदीकुर्वद्भिः वैदिकान् मन्त्रांश्च पठता वर्णस्वर-मात्रादिविषये नितरामवहितेन भवितव्यम्; अन्यथा ह्यसावनर्थमृच्छेदिति प्रति-पादयत्—

"मन्त्रोहीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥"

इति वाक्यं भगवता पतञ्जलिना महाभाष्ये उदाहृतं सुविदितमेव। तदेवम् अस्पृष्ट-दोषलेशया परिशुद्धया विधया मन्त्राणामध्ययनम्, अर्थावबोध:, कर्मणामाचरणम् इति त्रयाणामपि सममेव प्राधान्यमङ्गीक्रियते संप्रदायविद्भिः वैदिकवाङ्मयविषये, यदर्थमेव च प्रवृत्तिः षण्णां वेदाङ्गानाम्। तेषु च द्वे द्वे विशेषत: एकैकं प्रयोजनं साधयत: इति अतिरोहितमिदं प्रेक्षावताम्। अक्षरग्रहणपठनादिषु शिक्षा छन्दसोः, अर्थावबोधे निरुक्तव्याकरणयोः, कर्मणां चानुष्ठाने कल्पज्योतिषयोरिति।

"छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥"

(पा० शि० ४१, ४२)

इति वेदस्य तत्तदङ्गतया रूपितानां शिक्षादीनां मुण्डकोपनिषदादिष्वपि निर्देश: दृश्यते—"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदोऽथर्ववेद:, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो ज्योतिषमिति" इत्यादिना।

एवं बहो: कालात् पूर्वमेव लब्धप्रचाराणामेतेषां षण्णां शिक्षादीनां शास्त्राणां वेदवत् प्रामाण्यमङ्गीक्रियते न तु पुनः वेदत्वम्, तेषामपौरुषेयत्वात्; एतेषां च तत्तन्मुनिप्रणीतत्वात्। अतश्च एतेषामङ्गत्वमप्यौपचारिकमेव; यत: यथा शरीरा-वयवानां हस्तपादादीनां शरीरान्तर्गतत्वं न तथैषां वेदाङ्गानां वेदान्तर्गतत्वम्। अत एव च "अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिः इति अङ्गानि" इति व्युत्पत्त्या वेदाङ्गानाम् अर्थज्ञानाद्युपकारकत्वरूपम् अङ्गत्वं प्रतिपाद्यते विद्वद्भिः।

वस्तुतस्तु अद्य लब्धप्रचाराणां शिक्षाकल्पव्याकरणादीनां तत्तन्मुनिविरचित-

त्वेऽपि तेषां मूलं वेदेष्वेवाधिगन्तुं शक्यते यदुपबृंहणरूपाण्येव अद्योपलभ्यमानानि वेदाङ्गानि, प्रायो वेदार्थप्रतिपादनपराण्येव ब्राह्मणान्युपलभ्यन्ते । अत एवाहुः सायणाचार्याः तैत्तिरीयब्राह्मणभाष्यस्य प्रारम्भे—"यद्यपि संहितायां" इषेत्वोर्जेत्वा "इत्यादीनां दर्शपूर्णमासमन्त्राणाम् आदौ समाम्नातत्वात् तद्व्याख्यानरूपे ब्राह्मणे पौरोडाशिककाण्डमादौ पठितव्यम्...... " इत्यादि (तै०ब्रा०भा० प्रथमभागः पत्रम्—१)

शिक्षासंबद्धान् वर्ण-स्वर-मात्रा-साम-सन्तानादीन् नाममात्रनिर्देशेन संगृह्णन् तैत्तिरीयोपनिषदन्तर्गतः शिक्षाध्यायः अन्येष्वपि वेदभागेषु लुप्तेषु लभ्यमानेषु वा तेषां विवृतिं सूचयति। गोपथब्राह्मणे च कानिचिन्निरुक्तव्याकरणशास्त्रसंबद्धानि पारिभाषिकाणि पदानि उपलभ्यन्ते—"ओंकारं पृच्छामः को धातुः ? किं प्रातिपदिकम् ? किं नामाख्यातम् ? किं लिङ्गम् ? किं वचनम् ? का विभक्तिः ? कः प्रत्ययः ? कः स्वरः ? उपसर्गो निपातः, किं वा व्याकरणम् ? को विकारः ? को विकारी ? कतिमात्रः ? कतिवर्णः ? कतिपदः ? कः संयोगः ? किं स्थाननादानुप्रदानम्" इत्यादिष ।

केषांचित् पदानां निर्वचनानि वेदेषु सूचितान्युपलभ्यन्ते । ब्राह्मणभागेषु च केषुचित् स्पष्टतया प्रतिपादितानि । (१) "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" (ऋ०वे०), (२) "पूर्वीरश्नन्तावश्विना" (ऋ०वे०), (३) धान्यमसिधिनुहि देवान् (यजु०) इत्यादिषु श्रुतिवचनेषु सूचितैव व्युत्पत्तिः—"यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षोऽनङ्" (पा०सू०), "अश्विनौ यत् व्यश्नुवते सर्वम्" (निरुक्तम्), "धिनातेर्धान्यम्" (निरुक्तम्) इत्यादिरीत्या व्याकरणे निरुक्ते च प्रदर्श्यंते "स्पष्टतयैव केषांचित् पदानां व्युत्पत्तिं" प्रदर्शयन्ति दृश्यन्ते वाक्यानि वेदेषु—"तद्दध्नो दधित्वम्" (तै०स० २.५.३३), "उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते" (अथर्व० ३.१३.१), "यदाजिमायन् तदा ज्यानामाज्यत्वम्" (ताण्ड्य० ७.२.१), "रथं मर्या क्षेप्लातारीत् तदाज्यानामाज्यत्वम्" (ताण्ड्य० ७.६.४), "ततो बृहदनु प्रजायत बृहन् मर्या इदं स ज्योगन्तरभूदिति तद् बृहतो बृहत्त्वम्" (ताण्ड्य ब्रा० ७.६.५) इत्यादीनि ।

तानि तानि फलान्युद्दिश्य कर्तव्यानां कर्मणां, तत्सम्बद्धानां द्रव्यदेवतादीनां च प्रतिपादकेषु ब्राह्मणेषु कर्मविधानरीतिरपि सूचिता वर्तते यामेव विशदीकुर्वन्ति कल्पसूत्राणि । अरुणपराशरशाखाब्राह्मणस्य कल्परूपतां निरदिक्षन् भट्टपादाः कल्पसूत्राधिकरणे ।

छन्दःशास्त्रसंबद्धानि नामानि पारिभाषिकपदानि च ऋग्वेदादिषुपलभ्यन्ते । गायत्री उष्णिक् च सवितुः, अनुष्टुभ् सोमात्, बृहती बृहस्पतेः, विराट् च मित्रावरुणाभ्यां संबभूवुरिति, त्रिष्टुभ्जगत्यौ च इन्द्रविश्वेदेवैः सृष्टे इति च प्रतिपादितम् ऋग्वेदे (१०.१४.१६; १०.१३०; ४-६)। प्रधानतमेषु एषु छन्दस्सु

सप्तसु प्रतिच्छन्दः चतुर्णां चतुर्णां वर्णानां वृद्धिर्भवतीति प्रतिपादितमथर्ववेदे अष्टमे काण्डे, एवम् ऋग्वेदादिषु तत्र तत्र नक्षत्रनाम्नां, संवत्सरप्रारम्भादीनां च निर्देशः दृश्यते। तदेवं शिक्षादीनां षण्णामपि वैदिके वाङ्मये तत्र तत्र सूक्ष्मरूपेण कुत्रचित् विस्तृततया च निर्देशः निरूपणं च दृश्येते यान्येवानुसृत्य कालान्तरे सर्वज्ञाः मुनयः स्वतन्त्ररूपेण वेदाङ्गग्रन्थान् जग्रन्थुः। अतः मुख्यमेव वेदाङ्गानां वेदाङ्गत्वम् उचितमिति प्रतीमः।

एकैकस्य वेदस्य षट् षट् अङ्गानि पृथक्तया सन्तीति अभिप्रयन्तीव केचित्। अत एव—

"अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥"

इति नैषधीयचरितगतस्य श्लोकस्य व्याख्यायां—"त्रयीपक्षे तु एकैकवेदस्यैकैकाङ्ग-वैशिष्टयेन षाड्विध्याच्चाष्टादशत्व लाभः" इति प्रत्यपादि मल्लिनाथसूरिणा। निरुक्तव्याकरणच्छन्दोज्योतिषाणां विषये मतस्यास्य पुष्टिं कर्तुं नोपलभ्यते ग्रन्थ-जातम्। शिक्षाकल्पसंबद्धाः पुनर्ग्रन्थाः भिन्नवेदसंबद्धाः कतिचिदुपलभ्यन्ते।

अथैतेषाम् अङ्गानां स्वरूपं संक्षेपेण विवृणुमः।

शिक्षाः—स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्येत, उपदिश्यते, सा शिक्षा तेषु तेषु वेदेषु केषांचिद्वर्णानामुच्चारणे भेदः दृश्यते। उदाहरणतया रेफेण ऊष्मभिश्च सहितस्य मूर्धन्यस्य षकारस्य खकारस्येवोच्चारणं भवति शुक्लयजुर्वेदे। एता-दृशानुच्चारणभेदान् विवृण्वन्त्यः शिक्षाः श्लोकसूत्रादिरूपैः बह्व्यः उपलभ्यन्ते।

(१) पाणिनीयं मतमनुसृत्य केनापि विरचिता पाणिनीयशिक्षा श्लोक-षष्ट्यात्मिका प्रसिद्धा, (२) याज्ञवल्क्यशिक्षा, (३) वासिष्ठविशिक्षा, (४) माण्ड-व्यशिक्षा इति शिक्षात्रयं शुक्लयजुर्वेदसंबद्धम्। सामवेदसंबन्धिनी नारदीयशिक्षा, अथर्ववेदसंबद्धा माण्डूक्यशिक्षा एवमन्याश्च कौण्डिन्यशिक्षादयः उपत्रिंशत् शिक्षाः उपलभ्यन्ते येषां पठनेन ज्ञायते कीदृशं वा निर्दुष्टोच्चारणम् अध्ययनं कृतं प्राचीनैः भारतीयैः इति। प्रोफ़ेसर वर्मप्रभृतिभिः पण्डितैः "Critical Studies in the Phonotic observation of Indian Grammarians" इत्यादिषु ग्रन्थेषु शिक्षाणामेवासां वैज्ञानिकता, भाषोत्पत्तिविकासयोः ज्ञाने तासां महानुपयोगश्च सप्रमाणं सम्यक् प्रतिपादितौ।

प्रातिशाख्यानि शिक्षाणां मूलग्रन्थाः इत्यभिप्रयन्ति विबुधाः। एकैकया वेदशाखया संबद्धत्वात् एतेषां 'प्रातिशाख्यानि' इति नाम। परन्तु एकैकस्याः शाखायाः एकैकं प्रातिशाख्यमिति न नियमः, यतः एकप्रातिशाख्यगतानि सूत्राणि, तदुक्ताः नियमाश्च अनेकासु शाखासु योज्यन्ते इति प्रतिपादितं कात्यायनीय-

वाजसनेयिप्रातिशाख्यभाष्ये अनन्तभट्टेन तत्र हि—

"उदाहरणवाक्यानि दीयन्ते कण्वशाखिनाम्।
अलाभे परकीयाणि सूत्रकारानुशासनात्॥"

इति प्रतिज्ञाय एवं लिखति अनन्तभट्टः—

"शाखायां शाखायां प्रतिशाखम्। प्रतिशाखं भवति प्रातिशाख्यम् इति समाख्यया, समग्रोदाहरणलाभेन च माध्यन्दिनशाखीयमेवेदं प्रातिशाख्यम् इति गम्यते। अतः काण्वशाखोदाहरणं कथमिति चेत्, सत्यम्, माध्यन्दिनीयमेवेति न नियमः। किंतु काण्वादिपञ्चदशशाखानुगतम्; यतः तासु शाखासु नियमः स्वल्पभेददर्शनेन तल्लक्षणस्यासकृदुक्ततया बहूपकारायैव तन्त्रेणाचार्यप्रवृत्तेः। तथा च पञ्चदशसु शाखासु एकमेव कात्यायनसूत्रम् इति" इति।

केषांचित् प्रातिशाख्यानां "पार्षदसूत्राणि" अथवा पारिषदसूत्राणि", इत्यपि नाम। पण्डितपरिषत्सु लब्धप्रचारत्वाच्चास्य नाम्नः प्रवृत्तिः। शौनकाचार्यकृतं ऋक्प्रातिशाख्यम्, कात्यायनकृतं वाजसनेयिप्रातिशाख्यम्, 'तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्' अन्यानि च सामवेदादिसंबद्धानि पुष्पसूत्ररकतन्त्रादीनि, अथर्ववेदप्रातिशाख्यादीनि च प्रसिद्धानि। प्रातिशाख्येषु एषु न शिक्षागता एव विषयाः, व्याकरणशास्त्रसंबद्धा अपि केचित् उपलक्ष्यन्ते ये पाणिनिनापि स्वीकृताः।

**कल्पसूत्राणि**

"वेदविहितानां कर्मणाम् आनुपूर्व्येण कल्पकं शास्त्रं कल्पः।" "कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबोधायनादिसूत्रम्। कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति व्युत्पत्तेः" (ऋ०भा०भू०, पृ० २५), श्रौतसूत्रम्, गृह्यसूत्रम्, धर्मसूत्रम्, शुल्वसूत्रं चेति प्रधानतया चातुर्विध्यं कल्पसूत्रस्य, तत्र श्रौतसूत्रैः वेदोक्तानां श्रौताग्नि साध्यानां यज्ञादीनां विधानं वर्ण्यते। गृह्यसूत्रैश्च उपनयनविवाहादिकर्मणाम् गृह्याग्निसाध्यानाम्। वर्णाश्रमादिसंबद्धाः धर्माः धर्मसूत्रैः, वेदि प्रमाणनिर्माणादिकं च शुल्वसूत्रैः प्रतिपाद्यते। प्रतिवेदं विभिन्नानि कल्पसूत्राणि उपलभ्यन्ते यदनुसारेणाद्यापि तत्तत्कर्माण्यनुष्ठीयन्ते।

**व्याकरणम्**—प्रकृतिप्रत्ययादिविभागप्रदर्शनेन पदस्वरूपतदर्थनिर्णयाय-नितरामुपयुज्यते व्याकरणम्। पुरा किल वागव्याकृतासीत्, तस्याश्च प्रकृतिप्रत्ययादिरूपेण विभागः तत्प्रथमतया इन्द्रेण कृत इति समाम्नायते ऐन्द्रवायवग्रह-ब्राह्मणे—"वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष-वायवे च सह गृहता इति। तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुच्यते" (तै०स० ६.६)। व्याकरणशास्त्रस्य च बहूनि प्रयोजनानि वेदाङ्गतया सोदाहरणं

सप्रमाणं च प्रतिपादितानि वार्तिककारेण वररुचिना, भाष्यकारेण च पतञ्जलिना ।

पाणिनीयस्यैव व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वम् इति महता आग्रहेण भट्टोजिदीक्षितादयः। परन्तु पाणिनीयस्योद्भवात् पूर्वं किं वा व्याकरणं वेदाङ्गमभवत् इति वक्तव्यं भवेत्। वेदाङ्गं व्याकरणमेव नासीदिति न वक्तुं शक्यते, संप्रदायविरोधात्। पाणिनीयव्याख्याप्रसङ्गे वाररुचं "रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्" वार्तिकं व्याचक्षाणेन पतञ्जलिना व्याकरणस्य वेदोपयोगित्वं महता प्रबन्धेन प्रत्यपादि। कुमारिलभट्टेन पतञ्जलिप्रतिपादितानां व्याकरणप्रयोजनानां विषये सुविस्तृतः विचारः प्रवर्तितः व्याकरणाधिकरणे। अत एव पाणिनिव्याकरणस्यैव वेदाङ्गतेति अर्वाचीना मन्यन्तेस्म इत्यभ्यूहितुं शक्यते। यत्र बहूनां शिक्षादीनां परंपरा बहोः कालात् प्रचलति तद्वत् व्याकरणानामपीति वक्तव्यम्; येषु चान्यतमं पाणिनीयम् । व्याकरणाधिकरणस्य एतन्नाम कुमारिलभट्टेन कृतायाः सुविस्तृतायाः चर्चायाः फलमिति प्रतिभाति । जैमिनिसूत्रशाबरभाष्ययोः परिशीलने अस्य नाम साधुपदप्रयुक्तमधिकरणम् इत्येवासीदिति ज्ञायते ।

**निरुक्तम्**

पञ्चाध्यायात्मकस्य निघण्टोः, यत्र केषांचिद्वैदिकानां शब्दानामर्थानुसारेण संग्रहः कृतः, द्वादशाध्यायात्मकस्य निरुक्तस्य च रचयिता एक एव यास्क इति केचिदभिप्रयन्ति। अन्ये तु तत्कर्त्रोः भिन्नतामङ्गीकुर्वन्ति। शब्दस्वरूपपरिज्ञानमिव व्याकरणात्, अर्थपरिज्ञानं, शब्दार्थनिर्वचनपरिज्ञानं च निरुक्तादेव भवति, नान्यस्मात् शास्त्रादिति दुर्गाचार्यः वदति—"प्रधानं चेदम् (निरुक्तं) इतरेभ्यः अङ्गेभ्यः, सर्वशास्त्रेभ्यश्च, अर्थपरिज्ञानाभिनिवेशात्। अर्थो हि प्रधानं, तद्गुणः शब्दः, स च इतरेषु व्याकरणादिषु चिन्त्यते। यथा शब्दलक्षणपरिज्ञानं सर्वशास्त्रेषु व्याकरणात् एवं शब्दार्थनिर्वचनपरिज्ञानं निरुक्तात्" इति ।(दुर्गाचार्यवृत्तिः पृ० ३) सर्वैरपि वेदभाष्यकारैः वेदार्थस्य निर्णये निरुक्तमेव समाश्रीयते इति अतिरोहितमिदं सायणादिकृतभाष्याद्यध्येतॄणाम्। अद्य यास्कविरचितमेव निरुक्तं लभ्यते। परन्तु यास्कात् पूर्वमपि नैके निरुक्तकारा आसन्निति संभाव्यते यतः यास्क एव पुरातनानां द्वादशानां निरुक्तकाराणां नामानि निर्दिशति, आग्रायणौपमन्यवादीनाम् ।

**छन्दः**

छन्दस एव साहाय्येन मन्दमन्दं सुमनोहरं च चलति श्रुतिः। पिङ्गलाचार्यकृतं छन्दः सूत्रमेव वेदाङ्गतया परिगृह्यते। पाणिनीयशिक्षावत् इदं सूत्रमपि केनापि पिङ्गलमतानुसारिणा विरचितं स्यात् । अत एव ग्रन्थस्य प्रारम्भे पिङ्गलस्य स्तुतिः दृश्यते—

"म य र स त ज भ न ल गसंमितं भ्रमति वाङ्मयं जगति यस्य।
स जयति पिङ्गलनागः शिवप्रसादाद्विशुद्धमतिः ॥" इति।

छन्दोग्रन्थस्य प्राधान्यं विवृण्वन् सायणाचार्यः—"तत्र मगणयगणादि साध्यो गायत्र्यादिविवेकः छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः। किं च "यो ह वा अविदितार्षेय-च्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा, स्थाणुं वर्छति, गर्तं वा पद्यति, प्र वा मीयते पापीयान् भवति, तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्" (आर्षब्रा० १.१) "इति श्रूयते" इति लिखति ऋग्भाष्यभूमिकायाम्।

**ज्योतिषम्**—तत्तद्वैदिककर्मानुष्ठानयोग्यानां वत्सर-र्तु-नक्षत्रादीनां ज्ञान-मन्तरेण कर्मानुष्ठानं नैव शक्यते इति तत्तत्कालबोधनोपयोगि ज्योतिःशास्त्रं लगधमतानुसारिणा केनापि निर्मितम्। अतीव संक्षिप्तस्यास्य (त्रिचतुरपत्रात्मक-स्य) ग्रन्थस्यान्ते शास्त्रस्यास्य प्राधान्यं ग्रन्थकर्त्रैव विशदीकृतम्—

"यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम् ॥"
"वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालानुपूर्वाभिहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥" इति।

वेदरक्षणमेवादौ प्रयोजनीकृत्य लब्धप्रवृत्तीनाम् एतेषामङ्गानां बहुधा वृद्धिः कालान्तरे संपन्ना, विशेषतश्च व्याकरणज्योतिषयोः। ध्वनियन्त्राणां नामापि यदा न श्रुतं तस्मिन् काले कथं वा ते ऋषयः वर्णध्वन्यादिसंबद्धान् विविधानंशान् तथा निर्दुष्टया रीत्या ज्ञातुमशकन्निति विस्मयाविष्टहृदयाः सर्वेऽप्याधुनिका विद्वांसः अधीतशिक्षाप्रातिशाख्यादयः। वेदेषु दृष्टबीजः, प्रातिशाख्येष्वङ्कुरितः, आपि-शल्यादीनां ग्रन्थेषु बद्धस्कन्धः व्याकरणमहावृक्षः मुनित्रयरचनासु अत्यद्भुतं विस्तृता-शाद्यं विराड्रूपम् अभजत यत्किल अनितरभाषासाधारणं दृष्ट्वा आश्चर्यचकिताः केवलां साञ्जलिबन्धं नमोवाकं प्रशासते भाषाशास्त्रविदः। एवं ज्योतिःशास्त्रे, तत्सम्बद्धे गणितशास्त्रे च अतीवाद्भुता समुन्नतिः संपादिता पूर्वैः भारतीयैः मनी-षिभिः। पञ्चमशताब्दीसंबद्धः वराहमिहिरः ततोऽपि वा पूर्वतरा विद्वांसः ग्रीस-देशीयेभ्यः विद्वद्भ्योऽपि कांश्चिद् विषयान् संगृह्य ज्योतिःशास्त्रं भारते वर्धया-मासुरित्याशेरते पण्डिताः। अत एव 'ताबुरि', 'जितुम', 'वाशि', 'वेशि', 'अनफा', 'सुनफा' इत्यादीनि उपचत्वारिंशत् विदेशीयानि किल पदानि उप-लभ्यन्ते अस्मदीयेषु पुरातनेषु ग्रन्थेषु। ज्ञानसमुपार्जनविषये अतीतदेशजात्यादि-भेदा भारतीयानां विद्याश्रद्धैवात्रहेतुः। अत एव वदति वराहमिहिरः बृहत्संहितायाम्—

"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्वेदविद्द्विजः॥" इति।

वेदाङ्गानि न केवलं षडेव, ततोऽप्यधिकानि संख्ययेति केचिदभिप्रयन्ति। अत एवाह राजशेखरः काव्यमीमांसायाम्—"शिक्षा, कल्पः, व्याकरणम्, निरुक्तम्, छन्दोविचितिः, ज्योतिषं च षडङ्गानीत्याचार्याः। उपकारकत्वात् अलङ्कारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः। यथा—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥" इति।

यदि वेदार्थनिर्णयाद्युपकारकत्वं वेदाङ्गताप्रयोजकं तदा प्रधानं वेदाङ्गत्वम् अङ्गीकर्तव्यं पूर्वोत्तरमीमांसयोः। सुविदितमेव खल्विदं विदुषां यथा इदं शास्त्रद्वयं वेदार्थनिर्णयायैव प्रवृत्तम्। परं तु बहोः कालादर्वाक् लब्धप्रतिष्ठत्वादस्य शास्त्रद्वयस्य, अथवा कुतोऽपि वा अन्यस्माद्धेतोः, अनयोः वेदाङ्गेषु परिगणना न कृता प्राचीनैः। उपाङ्गता पुनरनयोः शास्त्रयोः प्रत्यपादि मधुसूदनसरस्वत्यादिभिः—"पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति चत्वार्युपाङ्गानि" (प्रस्थानभेदः) इति वदद्भिः।

**पूर्वमीमांसा**—भगवता जैमिनिना प्रणीता द्वादशाध्यायी पूर्वमीमांसा—सहस्रेण न्यायानां कर्मकाण्डप्रधानस्य वेदानां पूर्वभागस्य प्रमेयं निर्धारयितुं प्रवर्तते। अतोऽस्याः वेदाङ्गता निर्विवादैव।

**उत्तरमीमांसा (वेदान्तः)**—भगवता बादरायणेन कृतां शारीरकमीमांसापरनामधेयां चतुरध्यायीमाश्रित्य प्रवृत्ता उत्तरमीमांसा वेदानामान्तिमभागभूतानाम्, अथापि वेदशिरस्त्वेनाभ्यर्हितानाम्, उपनिषदां तात्पर्यं निर्णेतुम् उद्युङ्क्ते। अत एवास्याः वेदान्तशास्त्रमित्यपरं नाम। बहुधा विस्तृतमिदं वेदान्तशास्त्रं वैशाल्येन, विषयवैविध्येन च सर्वाण्यप्यन्यानि शास्त्राणि अतिशेते। जगज्जीवेश्वराणां स्वरूपस्य, तेषां परस्परसंबन्धस्य च प्रतिपादने, मोक्षपदस्य, प्रदर्शने, मोक्षपदस्वरूपस्य निर्धारणे च प्रवृत्तानाम् उपनिषदाम् ऐदंपर्ये बहुधा विप्रतिपद्यमानाः ते ते आचार्याः स्वान् स्वान् सिद्धान्तान्, यानेव अन्ये आचार्याः पूर्वपक्षतापक्षमधितिष्ठापयिषन्ति स्म, महता अभिनिवेशेन प्रत्यपादयन्। अत एव वेदान्तवाक्यकुसुमग्रंथनायोद्दिष्टानां ब्रह्मसूत्राणां विस्तृतव्याख्यारूपाणि उपदशभाष्याण्युपलभ्यन्ते विभिन्नमतप्रतिपादकानि।

अद्योपलभ्यमानेषु भाष्येषु शाङ्करं शारीरकमीमांसाभाष्यमेव प्राचीनतममित्यभिप्रयन्ति विद्वांसः। "श्रीनीलकण्ठाचार्यैः विरचितं विशिष्टंशिवाद्वैतपरं नीलकण्ठभाष्यं शाङ्करभाष्यादपि प्राचीनतरम्; यत्प्रदर्शितामेव रीतिमनुरुध्य

श्रीमद्रामानुजाचार्यादिभिः विष्णुविशिष्टाद्वैत-शक्ति विशिष्टाद्वैतादिकं प्रावर्त्यंत" इति वदतां केषांचिद्वादः नैव क्षोदक्षमः इति संविद्रते बहवो विद्वांसः।

श्री शङ्कराचार्याः प्रधानतया उपनिषदां, तत्सारसंग्रहरूपायाः भगवद्गीतायाश्च प्रामाण्यमूरीकुर्वन्तः निर्गुणस्य, निरुपाधिकस्य च अद्वितीयस्य ब्रह्मण एव पारमार्थिकीं सत्तामभ्युपगच्छन्तः जगतः स्वकारणसत्ताविषमसत्ताकस्वरूपं मिथ्यात्वम् (न पुनः शशशृङ्गादिवत् तुच्छत्वम्), जीवभावस्य चाविद्या मात्रकल्पितत्वं प्रतिपादयन्तः अद्वैतं स्थापयन्ति। तस्मिन काले लब्धप्रतिष्ठानां पूर्वमीमांसक-वैशेषिक-सांख्यादीनां द्वैतवादिनां मतानि प्रतिपदं खण्डयन्तः "एकोऽप्यहमद्वैती प्रमाणमूर्धन्यायाः श्रुतेर्बलेन सर्वानपि मत्प्रतिपन्थिनः द्वैतिनः वादे जेष्यामि" इति प्रतिजानते तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये—

"चिन्तयसि च त्वम्; न तु निर्णेष्यसि। कि निर्णेतव्यमिति वेदवचनम्? न कथं तर्हि? बहुप्रतिपक्षत्वात्। एकत्ववादी त्वम्; वेदार्थपरत्वात्। बहवो हि नानात्ववादिनो वेदबाह्याः त्वत्प्रतिपक्षाः। अतो ममाशङ्का न निर्णेष्यसीति। एतदेव मे स्वस्त्ययनम्—यन्मामेकयोगिनमनेकयोगिबहुप्रतिपक्षमात्थ। अतो जेष्यामि सर्वान्। आरभे च चिन्ताम्" इति —(ब्रह्मानन्दवल्ली ८.५)।

श्रीशङ्कराचार्येभ्यः पश्चात्तनाः सर्वेऽप्याचार्याः, ऋते च कतिभ्यश्चित् भेदाभेदवाद्यादिभ्यः, प्रायः जगज्जोवसत्यत्ववादिनः द्वैतिन एव। तेषां प्रक्रियाः पुनर्भिद्यन्ते। सर्वेऽप्येते सगुणमेव ब्रह्म अङ्गीकुर्वन्ति। तेषु केचित् शिवस्य, केचित् विष्णोः, अन्ये च शक्तेः, अपरे च श्रीकृष्णादीनां पारम्यं प्रतिपादयन्ति। श्रीशङ्कराचार्येभ्यः प्राक्तनेषु, अर्वाक्तनेषु च द्वैतवादिषु महान् भेदः उपलक्ष्येत। सर्वेऽपि प्राक्तनाः द्वैतिनः सांख्यवैशेषिक-मीमांसकादयः कपिलादिमुनिवचनप्रामाण्येन वा युक्तिबलेन वा स्वं स्वं मतमुपष्टम्भयितुं प्रायतन्त, न पुनः श्रुतिवाक्यप्रदर्शनेन। ईक्षत्यधिकरणादिषु श्रुतीनां सांख्यमताननुगुणत्वप्रदर्शनं च कदाचित्तेऽपि स्वमतसमर्थकतया श्रुतीः प्रदर्शयेयुरिति धियैव कृतं भगवता बादरायणेन। वेदप्रामाण्यमप्रतिहतम् अङ्गीकुर्वाणाः पूर्वमीमांसका अपि क्रियार्थानामेव श्रुतिवचनानां प्रामाण्यमुररीकुर्वन्तः भूतार्थवादिनीनाम् उपनिषदाम् अर्थवादत्वमेव अङ्गीचक्रुः। वैशेषिकादीनां वादस्य तर्कमात्राश्रितत्वं प्रसिद्धमेवं। उपनिषदां परमं प्रामाण्यं प्रतिष्ठाप्य तासां बलेन सर्वानपि तान् द्वैतिनः वादे जेतुं प्रायत्यत श्रीशङ्कराचार्यैः।

श्रीशङ्कराचार्येभ्यः अर्वाक्तनाः श्रीभास्कराचार्य - श्रीनीलकण्ठाचार्य - श्रीमद्रामानुजाचार्य - श्रीमध्वाचार्य - श्रीवल्लभाचार्य - श्रीनिम्बार्काचार्य - श्रीबलदेवाचार्य आचार्याः—"यासामुपनिषदामुपष्टम्भेन भवान् द्वैतवादं निराकर्तुं प्रायतिष्ट तासामपि द्वैत एव तात्पर्यम्" इति श्रीशङ्कराचार्यान् बहुधा अधिक्षिपन्तः ब्रह्मसूत्राणां भाष्याणि व्यरीरचन्। श्रीशङ्कराचार्याः श्रुत्युपष्टम्भेनैव अद्वैतं प्रत्यवस्थापयन्। अन्ये आचार्याः पुनः विविधानां शैव-शाक्त-वैष्णवाद्यागमानां भागवता-

दीनां पुराणानां च श्रुतितुल्यं प्रामाण्यमङ्गीकृत्य तत्तदागमाद्यनुसारेणापि औपनिषद तत्त्वमुपबृंहयितुम् अर्चापूजादिसंप्रदायांश्च प्रवर्तयितुं प्रावर्तन्त। एवं शङ्कराचार्येभ्यः प्राक्तनानाम् अर्वाक्तनानां च द्वैतसंप्रदायानां मध्ये महान् भेदः परिदृश्यते केषुचिदंशेषु। विभिन्नसंप्रदायसमर्थकैः विद्वद्वरेण्यैः वादप्रतिवादरूपेण निर्मितैः परःसहस्रैर्ग्रन्थैः परिपुष्टस्य, विभिन्नप्रस्थानस्य वेदान्तशास्त्राम्बुधेः परं पारमधिगन्तुं न कोऽपि पुरुषायुषेणापि पारयेत्।

एवं स्थिते सिद्धान्तेष्वेषु वेदान्तसंबद्धेषु कस्य वा प्रामाण्यम्, कस्य वा नेति संशीतिरुदियात्। परन्तु अधिकारिभेदम्, अभिरुचीनां भेदं चानुसृत्य प्रवृत्तेष्वाध्यात्मिकविद्यासंप्रदायेषु सर्वेषामेवाप्रतिहतं प्रामाण्यमिति वदामः।

"त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥"

इति पुष्पदन्तस्योक्तिं स्मरतां न कोऽपि बुद्धिवैषम्यस्यावसरः। विद्वद्भिस्तु यथामति तत्त्वविवेचनं कर्तव्यमेव।

वेदाङ्गानि वेदान्तं च अधिकृत्य प्रवर्त्यमानायाम् अस्याः नवोक्तिप्रणाल्यां (Refresher Course) प्रवेशमधिगन्तुं लब्धावसराः सर्वेऽप्यत्रत्याः अध्यापकाः विद्वत्तल्लजेभ्यः नैकान् नूतनान् शास्त्रीयानंशान् ग्राहं ग्राहम् अध्यापकवरेण्याः भवेयुरित्याशास्महे।

"प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥"
"तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति॥"

इति भर्तृहर्युक्तदिशा विना महापण्डितानां साहाय्यं कति वा विषयाः केन वा स्वबुद्ध्या उन्नेतुं शक्येरन्? अत एव न्यायदर्शनोक्तं तद्विद्यसंभाषाप्राशस्त्यम् अनुवदन् लिखति चरकाचार्यः—"भिषक् भिषजा सह संभाषेत। तद्विद्यसंभाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकारी भवति। वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्तयति। वचनशक्तिमपि चाधत्ते। यशश्चाभिदीपयति। पूर्वश्रुते च सन्देहवतः पुनः श्रवणात् संशयमपकर्षति। श्रुते चासन्देहवतः भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति। अश्रुतमपि च किंचिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति" इत्यादि (चरकसंहिता-विनयस्थानम्)। एतादृशी तद्विद्यसंभाषा, तद्विद्यश्रवणं च पुनर्नवीकरोतु भवतां समेषां शास्त्रज्ञानमिति जगन्नाथं वेङ्कटाचलपतिं प्रार्थये।

# सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित यज्ञ-विज्ञान के मूल तत्त्व

-- डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय

श्रौतयागों के अनुष्ठान में, हौत्र एवं आध्वर्यव पक्षों के ही सदृश औद्गात्र पक्ष की भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उद्गाता और उसकी मण्डली यज्ञ में सामगान करके उसे सरस और रोचक बनाने में विशेष दायित्त्व का निर्वाह करती है। औदुम्बरी के उत्तर में आसीन उद्गाता प्रस्तोता और प्रतिहर्त्ता प्रभृति अपने सहायकों के साथ विभिन्न स्तोत्रों का जव विहित स्तोमों और विष्टुति-प्रकारों में गान करता है, तब श्रौतयाग केवल नीरस कर्मकाण्ड भर नहीं प्रतीत होते। उद्गातृ-मण्डली के इन कार्य-कलापों का सामवेदीय ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान और जैमिनीय ब्राह्मणों में अत्यन्त विस्तार से निरूपण हुआ है। विविध सोमयाग में क्योंकि सामगान का विशेष गौरव है, इसलिए विविध सोमयाग ही सामब्राह्मणों के विशिष्ट प्रतिपाद्य हैं। अग्निष्टोम संस्थ ज्योतिष्टोम, जो समस्त सोमयागों की प्रकृति है, से प्रारम्भ कर सहस्र संवत्सर-साध्य सत्रयागों तक का इनमें निरूपण है। यज्ञ-संस्था के उद्भव और विकास के सन्दर्भ में, इसीलिए इन ब्राह्मणों का विशेष महत्त्व है।

ताण्ड्य का प्रारम्भ सोमप्रवाक विधि से दिखलाई देता है। इसमें सर्वप्रथम गवामयन संज्ञक सत्र याग का निरूपण है, क्योंकि वह अनेक सोमयागों का समुच्चय है। तदनन्तर अग्निष्टोम और व्यूढ द्वादशाह का वर्णन है। षड्विंश भी ताण्ड्य के अन्तर्गत ही है, जिसका वैशिष्ट्य है अभिचार यागों का प्रतिपादन। दोनों में कुल १८३ क्रतुओं का विवरण है, जिनमें छह एकाह, चार साहस्र, पाँच साद्यस्क्र, चार व्रात्य यज्ञ, पाँच अग्निष्टुत, तीन त्रिवृत्स्तोम, चार चातुर्मास्य, उपहव्यादि पाँच याग, वाजपेय, राजसूय, बीस द्वन्द्वसोम, तेरह अतिरात्र, तीन द्विरात्र, छह त्रिरात्र (इन्हीं में अश्वमेध भी है), चार चतूरात्र, तीन पञ्चरात्र, सात सप्तरात्र, एक अष्टरात्र, दो नवरात्र, चार दशरात्र, दो त्रयोदशरात्र, तीन चतुर्दशरात्र, ऐन्द्रादि याग, दो एकविंशतिरात्र, दो चतुर्विंशतिरात्र, पञ्चविंशतिरात्र से शतरात्र तक सत्ताईस याग, गवामयनादि सात अयन (सत्र), तीन सारस्वत सत्र, दो इष्टचयन, शत-संवत्सरसाध्ययाग, सहस्रसंवत्सरसाध्य विश्वसृजामयन तथा चार अभिचारयाग (श्येन, इषु, संदंश एवं वज्रसंज्ञक) तथा वैश्वदेव त्रयोदशरात्र सम्मिलित हैं। जैमिनीय ब्राह्मण में इससे कुछ भिन्न क्रम अपनाया गया है। उसमें सर्वप्रथम अग्निहोत्र

का निरूपण है। तदनन्तर अग्निष्टोम का विवरण है। अन्य एकाह, अहीन और सत्रयाग इसके बाद निरूपित हैं। सामविधान ब्राह्मण श्रौतयागों के साथ तान्त्रिक परम्परा को भी समेटने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई देता है। सामवेदीय ब्राह्मण श्रौतयागों के होत्र एवं आध्वर्यव पक्षों की सामान्यः प्रस्तुति नहीं करते, किन्तु उनके नामकरण, आनुष्ठानिक आख्यानों और विशेष प्रसंगों की मीमांसा में अवश्य रुचि लेते है। इनमें भी ताण्ड्य ब्राह्मण श्रौतयागों के निरूपण में सर्वाधिक उपादेय है, जिसमें ७८१६११ सुत्याक १७८ सोमयाग निरूपित हैं। जैमिनीय की अपेक्षा यह अत्यन्त सुसंपादित और सुरुचिपूर्ण ढंग से याग-विधान का प्रस्तावक है।

साम-ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित श्रौतयागों का विशद विवरण इन परिमित पृष्ठों में अपेक्षित नहीं है किन्तु इनके यज्ञ-विधान के मूल तत्त्वों का सन्धान अवश्य किया जा सकता है।

**सामवेदीय ब्राह्मणों के अनुसार यज्ञ-संस्था का उद्भव**—यज्ञ-संस्था के उद्भव और विकास की दृष्टि से सामवेदीय ब्राह्मणों में अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं। यज्ञानुष्ठान के सुसम्पादन की दृष्टि से गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आह्वनीयाग्नि की स्थापना का प्राथम्य सर्वविदित है। षड्विंश ब्राह्मण (५.१२) के अनुसार ऋग्वेद से गार्हपत्य, यजुर्वेद से दक्षिणाग्नि और सामवेद से आह्वनीयाग्नि की उत्पत्ति हुई—'ऋग्वेदाद् गार्हपत्यो यजुर्वेदाद् दक्षिणाग्निः सामवेदादाह्वनीयः।' इन्हीं अग्नियों से आगे यज्ञपुरुष की उत्पत्ति हुई, जो सहस्र शिरों वाला सहस्रनेत्रों वाला और सहस्र चरणों वाला था। सामविधान ब्राह्मणगत एक आख्यायिका के अनुसार देवगण प्रजापति के पास गये। उनसे उन्होंने पूछा कि हमें स्वर्ग-प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस पर प्रजापति ने उन्हें यज्ञानुष्ठान का निर्देश देकर कहा कि इससे तुम स्वर्ग-प्राप्ति कर सकते हो—'ते देवाः प्रजापतिमुपाधावन्। तेऽब्रुवन्। कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियामिति। तेभ्य एतान् यज्ञक्रतून् प्रायच्छत्—एतैः लोकमेष्यथ (सामवि० ब्रा० १.३.३)।'

**सोमयागों का वैशिष्ट्य**—सोमयागों का सर्वोपरि महत्त्व निरूपित करते हुए ताण्ड्य में कहा गया है कि देवों ने हविर्यागों से भूलोक पर विजय प्राप्त की, पशुयागों से अन्तरिक्ष को जीता, किन्तु स्वर्ग पर विजय उन्हें तभी प्राप्त हुई, जब उन्होंने सोमयागों का अनुष्ठान किया—'हविर्यज्ञैर्वै देवा इमं लोकमभ्यजयन्नन्तरिक्षं पशूमद्भिः सोमैरमुम्' (तां० ब्रा० १७.१३.१८)।

**अग्निहोत्र का गौरव**—सामवेदीय साहित्य के अन्तर्गत षड्विंश, ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद् (जो ताण्ड्य ब्राह्मण की उसी प्रकार अन्तिम भाग है, जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथ ब्राह्मण की) में अग्निहोत्र की विशेष प्रशंसा की गई है। षड्विंश के अनुसार अग्निहोत्र के सम्पादन से सभी यज्ञ स्वयमेव अनुष्ठित हो जाते हैं और उनसे प्राप्य फल भी प्राप्त हो जाता है—'अग्नि-

होत्रे सर्वैर्हवा एतस्य यज्ञक्रतुभिरिष्टं भवति।' जैमिनीय ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक के पूरे पैंसठ खण्डों में अग्निहोत्र का वर्णन है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार जैसे क्षुधातुर बालक माता के पास जाते हैं, वैसे ही प्राणी अग्निहोत्र की सर्वथा उपासना करते हैं—'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत' (छा०उप० ५.२४)।

**सोमलता का विकल्प**—सोमयाग के अनुष्ठानार्थ सोमनाम्नी वनस्पति आवश्यक है, किन्तु प्रतीत होता है कि ताण्ड्य ब्राह्मण के प्रवचन-काल में वह लुप्त हो गई थी। इसी कारण ताण्ड्य में सोम के स्थान पर, विकल्प के रूप में क्रमशः पूतीक और अर्जुन का विधान किया गया है—'यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिषुणुयुः (९.५.३); 'यदि न पूतीकानर्ज्जुनानि।'

**मानव-जीवन एवं प्रकृति के समानान्तर यज्ञ-योजना**—ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उनमें मानव-जीवन एवं प्रकृति के अविकल समानान्तर यज्ञ-योजना प्रस्तुत की गई है। यज्ञ जीवन के विभिन्न व्यापारों एवं कार्य-कलापों के साथ-साथ चलता हुआ एक समानान्तर सृष्टि-व्यापार प्रतीत होता है। हमारे इस जागतिक जीवन के स्वप्न, आकांक्षाएँ और कामनाएँ ही यागानुष्ठान के प्रयोजनरूप में अन्वित हुई हैं। इस दृष्टि से सामवेदीय ब्राह्मणों ने यज्ञ के देवता, द्रव्य, मन्त्र और अन्य सभी तथ्यों की मानव-जीवन से यथातथ्य समरूपता प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। यागानुष्ठान के माध्यम से निरन्तर हम अपने स्वरूप के ही निकट होते जाते हैं और यज्ञ के समानान्तर संसार तथा मानव-जीवन के मध्य पूर्ण समरसता ही हमारा उद्दिष्ट है—यह तथ्य यज्ञों की विधि-वर्णना के समय ब्राह्मणग्रन्थकारों के मन में सदैव निहित रहता है। उदाहरण के लिए एक स्तोत्रिया ऋचा के औचित्य का प्रदर्शन करते हुए कहा गया है कि 'पवस्व वाचो अग्निय' ऋचा में आये 'पवस्व' और 'वाक्' क्रमशः पुरुष तथा स्त्रीरूप हैं। अतएव यह स्तोत्रिया मिथुन भाव को प्रशस्त करने वाली है। मिथुनभाव ही सृष्टि का मूल है। सम्पूर्ण मानव-संस्कृति अन्धकार से आलोक की दिशा में अग्रसर होने की कथा है। दिवाकीर्त्य संज्ञक साम के सन्दर्भ में स्वर्भानु की आख्यायिका के माध्यम से ताण्ड्य ब्राह्मण (४.६.१३) में भी उसी आलोक के प्रति स्पृहा व्यक्त की गई है। एक याग में अभिप्लवषडहों के प्रतिलोम-क्रम से अनुष्ठान का औचित्य-निरूपण करते हुए कहा गया है कि जैसे लोक में ऊँचे वृक्ष पर मूलभाग से ही चढ़ा जाता है, उसी प्रकार याग में भी पहले आरोहण-क्रम अपनाया जाता है, तदनन्तर अवरोहक्रम—'यथा वा इतो वृक्षं रोहन्ति एवमेनं प्रत्यवरोहन्ति स्वर्गमेव तल्लोकं रूढ्वाऽस्मिंल्लोके प्रतितिष्ठन्ति' (तां०ब्रा० ४.८.१०)। हिंकारादि की मानसिक कर्त्तव्यता के प्रसंग में ब्राह्मणकार लोक-प्रामाण्य ही देता है—लोक में जो वाणी

नहीं कह पाती, वह मौन कह देता है—'यद्वै वाचा न समाप्नुवन्ति मनसा तत्समापयन्ति' (तां० ब्रा० ४.६.१०)। इसी प्रकार जैसे लोक में एक ही कार्य को बार-बार करना अप्रिय प्रतीत होता है, वैसे ही एक ही स्तोत्रीय ऋचा की याग में पौनःपुन्येन आवृत्ति अपशस्त है (तां० ब्रा० ६.८.६)।

**द्रव्यमययाग के स्थान पर आत्मयज्ञ को प्रतिष्ठा**—यज्ञ के द्रव्यमयरूप के स्थान पर शनैः शनैः सामवेदीय ब्राह्मणों ने आत्मयज्ञ को प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि उपनिषदों में इस प्रवृत्ति को पूर्णता प्राप्त हुई किन्तु इसका प्रारम्भ और बीजारोपण ताण्ड्य ब्राह्मण में ही दिखलाई दे जाता है। सहस्रसंवत्सरसाध्य विश्वसृजामयन याग का ताण्ड्य में जिस प्रकार से वर्णन है, वह किसी द्रव्यात्मक याग के स्वरूप का प्रस्तावक नहीं है। निःसन्देह, प्रतीकात्मकता और मानवीकरण की शैली का आश्रय लेते हुए ताण्ड्यब्राह्मण के प्रवक्ता ने विश्वस्रष्टा देवों के अयन का निरूपण करके आत्मयज्ञ की ही उद्भावना की है। २५वें अध्याय के १८वें खण्ड में निरूपित इस यज्ञ के विवरण में कहा गया है कि तपस्या, ब्रह्म, इरा, अमृत, भूतकाल, भविष्यकाल, ऋतुओं, अन्य आर्तव वस्तुओं, सत्य, ऋत, ओज, कान्ति, यश, ऐश्वर्य (भग), ऊर्जा, वाक्, प्राण, दिष्टि (आन्तरिक श्वसन), बल, आशा, अहोरात्र और मृत्यु ने इस यज्ञ में विभिन्न ऋत्विकों और द्रव्यों का स्थान ग्रहण करके यज्ञ-संपादन किया। आशा को हविष्य वतलाकर जीवन की यज्ञरूपता का ही प्रतिपादन किया गया है।

षड्विंश ब्राह्मण (२.६.२-३) के एक अंश के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय जीवन यज्ञरूप है, जिसमें वाणी होतृस्थानीय है, चक्षु अध्वर्यु हैं, मन ब्रह्मा हैं, श्रोत्र उद्गाता हैं, अन्य अंग चमसाध्वर्यु (सहायक ऋत्विक्) हैं, और चक्षुओं के मध्य विद्यमान आकाश ही सदस्य है।

**स्वाध्याय तथा तपस् की यज्ञरूप में प्रतिष्ठा**—सामवेदीय सामविधान ब्राह्मण के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उसके प्रवचन-काल में, यज्ञ के स्थूल रूप के स्थान पर, उसके सूक्ष्म रूपों के सन्धान की प्रवृत्ति बलवती थी। इसी कारण सामविधान ब्राह्मण (१.१.१५ तथा १७) में स्थूलयागानुष्ठान के स्थान पर स्वाध्याय, अध्ययन तथा तपस् की विशेष प्रतिष्ठा दिखलाई देती है—'कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियामिति। तेभ्य एतत् स्वाध्यायाध्ययनं प्रयच्छन्त, तपश्चैताभ्यां स्वर्गं लोकमेष्यथेति। ताभ्यां स्वर्गं लोकमायन्।'

वैचारिक विकास के इसी क्रम में, आगे छान्दोग्योपनिषद् में जीवन की गतिशीलता को ही यज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कहा गया है कि यह जो चलता है, निश्चय ही यज्ञ है—'एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते' (छां० उप० ४.१६.१)। इसी उपनिषद् के अनुसार मानव-जीवन के आरम्भिक २४ वर्ष प्रातःसवन, आयु का

द्वितीय भाग माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय भाग (४८ वर्षों तक) तृतीय सवन है (छां०उप० ३.१६.१-७)। निःसन्देह अध्यवसायात्मक मानव-जीवन ऋतुमय है— 'अथ खलु ऋतुमयः पुरुषः।'

**श्रौतयागों में तान्त्रिक रीतियों के समावेश का प्रयोजन**—सामवेदीय ब्राह्मणों में, विशेषरूप से षड्विंश, सामविधान तथा जैमिनीय ब्राह्मणों में विहित श्रौतयागों में कहीं-कहीं तांत्रिक रीतियों से साम्य परिलक्षित होता है। अभिचार यागों के साथ ही, वशीकरणादि प्रयोगों में भी ऐसी सामग्री दिखलाई देती है। इसका प्रयोजन भी वैदिक जीवन-दृष्टि के साथ लौकिक जीवन-दृष्टि का समन्वय करना रहा है। इससे श्रौतयागों का प्रचार अभिजात और सामान्य जनों के मध्य समानरूप से हुआ।

**श्रौतयागों में नैतिकता के उच्च स्तर पर बल**—ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों ने श्रौतयागों में नैतिकता के उदात्त मानदण्डों को ध्यान में रखकर चेतना के परिष्कृत स्तर पर बल दिया है। इसी कारण सत्य, ज्ञान, तपस्या और सदाचार जन्य निर्देश पौनः पुन्येन प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि सामवेदीय ब्राह्मणों में प्राप्त यज्ञ-विधान के मूल तत्त्व श्रौतयागों के उद्भव और विकास के अनुशीलन की दृष्टि से परम उपादेय हैं।

# अग्निहोत्रनिष्पादनकालनिर्णये महिलावैदुष्यावदानम्

—डॉ० चन्द्रकिशोरः गोस्वामी

धर्मप्राणायामस्यां भारतसंस्कृत्यामभिधीयन्ते त्रयो धर्मस्कन्धाः—'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति'।[1] प्रथमस्कन्धेऽपि त्रिषु सत्कर्मसु यज्ञः प्रथमः प्रमुखश्चोक्तः। जङ्गमेऽस्मिन् जगति भवति समेषां प्राणिनां कर्मणि प्रवृत्तिः। प्रोक्तञ्च श्रीमता भगवता—

> न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[2] इति।

कर्मेदं ब्रह्मोद्भवम् यद्ब्रह्म सर्वगतं नित्यञ्चास्ति। कर्मणोऽस्मादेव यज्ञोऽजायत। अतो भङ्ग्यन्तरेणेदमुच्यते यदिदं सर्वं यज्ञे एव प्रतिष्ठितमस्ति।[3] कर्मयोगदृशा यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्कर्म लोकबन्धनकारकं विद्यते।[4] शरीरमधितिष्ठति यः पुरुषः सोऽधिदेवोऽधियज्ञ एव कथितः कृष्णेन।[5]

इज्यते अनेनेति, इज्यते एभिरिति, इज्यते तैरिति, इज्यते या सेति, इज्यतेऽस्यै इति हविर्मन्त्रदेवताऋत्विक्दक्षिणारूपः पञ्चाङ्गकोऽयं यज्ञः। तात्त्विकदृशा यज्ञस्य परमं प्रयोजनन्तु "आत्मा वितायमानो यत्राधिदैविकैर्देवैः संयोज्यते, मानुषे आत्मनि दैवमात्मानमुत्पाद्य यत्रैनं दैवमात्मानं दिव्यैर्देवैः संश्लेषयति, तदात्मावदानं यज्ञः"।[6] अतो यज्ञेनोर्ध्वमुखीक्रियतेऽयमात्मा। व्यापकेनात्मना स्वरूपानन्दावाप्ति-

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, २।२३।१

२. श्रीमद्भगवद्गीता, ३।५

३. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ —तत्रैव, ३।१४-१५

४. यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। —तत्रैव, ३।९

५. अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ —तत्रैव, ८।४

६. महर्षिकुलवैभवम् (पूर्वार्द्धम्) — पं० मधुसूदनः ओझा, पृ० १२८

विधीयते या मानवजीवनस्य परमा गतिः प्रकारान्तरेण मुक्तिरित्युच्यते ।

यज्ञोऽयं द्विविधः स्मार्तः श्रौतश्च । गृह्याग्नौ क्रियमाणो यज्ञः स्मार्तो यथा पाकयज्ञः । हविर्यज्ञाः सोमयज्ञाश्च श्रौतयज्ञाः । हविर्यज्ञा अपि नैकविधाः, यथा—अग्न्याधानं, अग्निहोत्रे, दर्शपूर्णमासः, आग्रयणं, चातुर्मास्यम्, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञश्च । अग्निष्टोम—वाजपेयातिरात्रादयः सोमयज्ञाः सन्ति। सामान्यतः श्रौताग्निषु गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रमुखेषु यदा हूयते तदा श्रौत-यज्ञास्तेऽभिमन्यन्ते । यज्ञेष्वेष्वपि हविर्यज्ञाः प्रायः कालविशेषसम्बन्धिनो भवन्ति । यथाग्निहोत्रं प्रत्येकं प्रातःकाले सायंकाले च सम्पाद्यते। दर्शपूर्णमासोऽमावस्यायां पूर्णिमायाञ्च विधीयते। आग्रयणेष्टिर्नवान्नोत्पत्तौ प्रत्येकं शरदि वसन्ते च क्रियते। चातुर्मास्यं वैश्वदेवपर्वणि फाल्गुनपूर्णिमायां, वरुणप्रघासे आषाढपूर्णिमायां, साकमेधपर्वणि कार्तिकपूर्णिमायां, शुनासीरीयपर्वणि फाल्गुनशुक्लप्रतिपदायाञ्च प्रतिपाद्यते । निरूढपशबन्धः प्रतिसम्वत्सरं वर्षर्तौ दक्षिणायनोत्तरायणारम्भे वानुष्ठीयते ।

यज्ञानुष्ठाने स्त्रीपुरुषाणां समानाधिकारः स्वीक्रियते । भारतीयसंस्कृतेरियं मान्यता यदा "दौ प्रजापतिरप्येकाकीनाशकत् स्रष्टुमत एव स द्वितीयं,स्त्रीरूपसंगिन-मैच्छत् । स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्" ।[७] प्राचीन-भारतवर्षे पुत्री पुत्रवदभीष्टाऽऽसीत् तस्याः पाण्डित्यमपि काम्यमासीत् ।[८] सर्वकर्मसु पुत्राणां पुत्रीणामविभेदेनाचारोऽभवत् । यदि क्वचित्कथंचिद्विशेषो दृश्यते तत्सकलो योग्यताक्षमतानुसारं व्यवस्थापितः। यज्ञस्त्ववर्तत सर्वश्रेष्ठः सदाचारः । अत यज्ञविधाने स्त्रीपुरुषाणां समधिकारोऽमन्यत। कालिदासस्य सुस्पष्टेयं घोषणा—

स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ।।[९] इति ।

महर्षिणा पाणिनिना तु पत्नीशब्दस्य रचनायाः रहस्यमेवेदं प्रकटितम् यज्ञसंयोगे-गम्यमाने पतिशब्दात् स्त्रीलिङ्गे ङीप् प्रत्ययो नकारश्चान्तादेशो भवति, पत्नी-शब्दश्च निष्पद्यते ।[१०] स्मृत्यामपि प्रोक्तम्—

"द्विविधाः स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योद्वाहाश्च ।
तत्र ब्रह्मवादिनीनामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्षचर्येति ।।"[११]

---

७. बृहदारण्यकोपनिषद्, १।४।३ ।

८. अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत। सर्वमायुरियादिति । —तत्रैव, १।४।१७

९. कुमारसम्भवम् ६।१२ ।

१०. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।। —अष्टाध्यायी, ४।१।३३
द्रष्टव्या वृत्तिरपि । —तत्रैव, (द्वितीयावृत्तिः, पृ० १७)

११. स्मृतिचन्द्रिका, १। पृ० २४।

कात्यायनश्रौतसूत्रेऽपि स्त्रीपुरुषयोरभेदो वर्णितः।[१२] भाष्यकारेण तु विशेष-रूपेणाग्निहोत्रे स्त्रीणामधिकारो युक्त्या प्रदर्शितः, यथा—

"स्त्री च अग्निहोत्रादिकर्मस्वधिकारिणी भवति। कुतः अविशेषात्। ......अतो न पुरुषस्यैवाधिकारः किन्तु स्त्रिया अपि। अथवा अविशेषात् इति स्वर्गकामत्वाविशेषादित्यर्थः, तदुक्तं जैमनिना फलोत्साहाविशेषादिति।"[१३]

अग्निहोत्रं संन्यासग्रहणात्प्राक् जीवनपर्यन्तं वा प्रतिदिवसं प्रातः सायं समाचर्यते परमस्मिन् सम्बन्धे पुरा विदुषां मध्ये विवाद आसीत्। छान्दोग्य-शाखानुयायिनः सूर्योदयात् पूर्वमग्निहोत्रं विधेयं स्वीकुर्वन्ति, तैत्तिरीय-मैत्रायणी-शाखानुयायिनश्च सूर्योदयोपरान्तं सम्पादनीयमग्निहोत्रमङ्गीकुर्वन्ति स्म। विवादादस्मात्ते क्रमशः "अनुदितहोमिनः उदितहोमिनश्च कथ्यन्ते। अनुदित-होमिनां मतानुसारं यदि सूर्यास्तानन्तरं सूर्योदयात् प्राक् चाग्निहोत्रं क्रियते तर्हि होमद्वयमेकस्यामेव सम्पाद्यते। एतदनुचितमस्ति। अस्मादेव वातावतो जातूकर्ण्यो देवतानामग्रे शास्त्रविरुद्धमेतदाचरणं कथयिष्यामीति ब्रूते।[१४] एतद्वैपरीत्येन सूर्यास्तमितकाले यदि दिन एव कश्चिज्जुहोति परेद्युश्चोदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति तर्हि एतदग्निहोत्रं 'उभयेद्युः' दिनद्वय एव हूयते।[१५]

विषयेऽस्मिन् विदुष्या एकस्या नार्या निर्णायकं वाक्यं सादरमैतरेयब्राह्मणे महीदासैतरेयेण प्रस्तुतम्। इयमासीदेका गन्धर्वगृहीता नाम्नी कुमारी। अस्या कुमार्या नामनिर्वचनं कुर्वाणः सायणाचार्यो वेदार्थप्रकाशभाष्ये स्पष्टीकरोति—"ऋषेः पुत्री काचिद्बाला, तद्गृहस्वामिना गन्धर्वेण कदाचिद् गृहीता सती प्रसङ्गादेतदेव वाक्यमग्निहोत्रिणामग्र उवाच"।[१६] कुमारी गन्धर्वगृहीतानुदित-होमिनामेवं निन्दां करोति यत् पितृभ्यो निवेदयामि पुरातनैः ऋषिभिर्यदेतदग्नि-होत्रमुभयेद्युरहूयत तदुल्लङ्घ्यैतैर्विहितम्।"[१७] कुमार्या गन्धर्वगृहीताया वाक्य-तात्पर्यमिदमस्ति—

"एतद्वा अग्निहोत्रमन्येद्युर्हूयते यदस्तमिते सायं जुहोत्यनुदिते प्रातरथै-तदग्निहोत्रमुभयेद्युर्हूयते, यदस्तमिते सायं जुहोत्युदिते प्रातः।"[१८] अतस्तस्या

---

१२. स्त्री चाविशेषात्। —कात्यायनश्रौतसूत्रम्, १।१।७१

१३. कात्यायनश्रौतसूत्रस्य भाष्यम्। —अल्बर्टवेबरसम्पादितम्, पृ० ६-१०

१४. वृषशुष्मो ह वातावत उवाच जातूकर्ण्यो वक्ता स्मो वा इदं देवेभ्यो यद्वैतदग्निहोत्रमुभयेद्यु-रहूयतान्येद्युर्वाव तदेतर्हि हूयत इति। —ऐतरेयब्राह्मणम्, ५।४ (पृ० ८६९)

१५. सायणाचार्यकृतं वेदार्थप्रकाशभाष्यम्, पृ० ८७१।

१६. तत्रैव, पृ० ८७०।

१७. एतदु हैवोवाच कुमारी गन्धर्वगृहीता वक्ता स्मो वा इदं पितृभ्यो यद्वैतदग्निहोत्रमुभयेद्यु-रहूयतान्येद्युर्वाव तदेतर्हि हूयत इति॥ —ऐतरेयब्राह्मणम्, ५।४; पृ० ८७०

१८. ऐतरेयब्राह्मणम्, ५।४, पृ० ८७०

निर्णयोऽयम्—

"तस्माबुदिते होतव्यम्" ।[१९]

उदितहोमस्य प्रशंसायां कुमारी गन्धर्वगृहीता तर्कद्वयं प्रस्तौति। प्रथमोऽयं तस्यास्तर्को यद्ये सूर्यास्तमिते होममनुतिष्ठन्ति अन्येद्युश्च सूर्योदयात् पूर्वम् होमं कुर्वन्ति ते रात्रौ एकस्यामेव होमद्वयं सम्पादयन्ति। एवं ते सम्वत्सरे कालैक्याद् रात्रावेकस्यामेव होमानुष्ठानात् सम्वत्सरमात्रफलमाप्नुवन्ति। परं ये च प्रथमदिने सूर्यास्तमिते रात्रौ अपरेद्युश्च सूर्योदिते दिने होमं विदधति तेऽवश्यमेव कालद्वये रात्रावहनि च होमानुष्ठानात् सम्वत्सरद्वयस्य फलं द्विगुणं वा फलं लभन्ते। अतः द्विगुणफललाभायोदिते होतव्यमिति। मतमिदं कुमार्या गन्धर्वगृहीताया ऐतरेयब्राह्मणे एवमुद्धृतम्—

"चतुर्विंशे ह वै सम्वत्सरेऽनुदितहोमी गायत्रीलोकमाप्नोति; द्वादश उदितहोमी; स यदा द्वौ सम्वत्सरावनुदिते जुहोत्यथ हास्यैको हुतो भवत्यथ य उदिते जुहोति, सम्वत्सरेणैव सम्वत्सरमाप्नोति, य एवं विद्वानुदिते जुहोति, तस्मादुदिते होतव्यम्।"[२०]

गन्धर्वगृहीताया विदुष्या द्वितीयस्तर्कोऽयमस्ति। ये पूर्वेद्युः रात्रौ, अन्येद्युश्च दिने जुह्वति तेऽग्नेस्तेजसा तेजस्विन्यां रात्रौ, आदित्यतेजसा तेजस्विनि दिवसे च होमं सम्पादयन्ति।[२१] अनेन ते कालद्वये तेजोद्वयेऽग्निहोत्रं कुर्वन्ति।[२२] तेषामुदितहोमिनां निस्संशयमेव होमसिद्धिर्जायते।

गन्धर्वगृहीताया मतस्यास्य विषये षड्गुरुशिष्येण सर्वानुक्रमणेष्टीकायामप्युक्तमेवम्—

कुमारी नाम विदुषी सर्वलोकगतिक्षमा।
दिवि दृष्ट्वोदिते सूर्ये जुह्वतां वै महत्फलम्॥
पुनर्भूमिं गन्तुकामा रूपसौन्दर्यमोहितैः।
गन्धर्वैः पूजिता पृष्टा त्वया कुत्र हि गम्यते॥
साऽब्रवीन्मम पित्रादेः सकाशमहमेत्य वै।
वाच वक्ष्याम्यग्निहोत्रमहूयत कथं हि वः॥

---

१९. तत्रैव, पृ० ८७१ तथैव च पृ० ८७२

२०. तत्रैव, ५।४, पृ० ८७१

२१. एष ह वा अहोरात्रयोस्तेजसि जुहोति, योऽस्तमिते सायं जुहोत्युदिते प्रातरग्निना वै तेजसा रात्रिस्तेजस्वत्यादित्येन तेजसाऽहस्तेजस्वत्॥ —तत्रैव, ५।४, पृ० ८७२

२२. अहोरात्रयोर्हास्य तेजसि हुतं भवति च एवं विद्वानुदिते जुहोति॥
—तत्रैव, ५।४।२९, पृ० ८७२

उभयेद्युः किमन्येद्युर्मया दृष्टं महत् फलम्।
उदिते जुह्वतां तस्माद्धूयतामुदिते त्विति ।।
गन्धर्वमुक्ता सा गत्वा पितॄनुदितहोमिनः।
अकाशयत्ततो होमः कर्त्तव्य उदिते त्विति ।।[२३]

टीकायामस्यामुदितहोमस्य सम्बन्धे गन्धर्वगृहीतायाः प्रामाण्यमेवं प्रोक्तम्—

अन्येद्युरेककालं स्यादुभयेद्युर्द्विकालकम्।
वृषशुष्मकुमार्युक्तवाक्यद्वन्द्वात् प्रमाणतः ।।[२४]

अन्यैरपि महर्षिभिरुदितहोमस्य प्रशंसा कृता। तेषामभिमते सर्वमिदं जगत् बृहद्-रथन्तराधीनमस्ति। रात्रिदेवोऽग्निः रथन्तरसम्बन्धी भवति दिवसाधिदेव आदित्यो बृहत्सामसम्बन्धी वर्तते। अतः कालद्वये ऽग्निहोत्रं निष्पादयन्तो जनाः स्वर्गं लोकं गच्छन्ति।[२५] उदितहोमिनो राष्ट्रप्रियान् राष्ट्रमिव राजमानाश्च प्रजाः प्राप्नुवन्ति।[२६] अनुदितहोमिनां निन्दाऽपि भूरिशो विधीयते।[२७] सर्वमिदं विवेचनं गन्धर्वगृहीताया विदुष्या मतमेव समर्थयति शंसति च।

अतः श्रौतयज्ञेऽग्निहोत्रे नारीजातेर्योगदानमिदमविस्मरणीयमेव। उदित-होम-सिद्धान्तेन दिवानक्तं (अहर्निशं) जनैः सदाचारो यज्ञो वानुष्ठेयो जीवन-साफल्यायेति गन्धर्वगृहीतायाः सदभिप्रायः।

---

२३. सर्वानुक्रमणेः टीका —षड्गुरुशिष्यः।

२४. तत्रैव ।

२५. राथन्तरी वै रात्र्यहर्वाहिंतमग्निर्वै रथन्तरमादित्यो बृहदेते ह वा एनं देवते ब्रध्नस्य विष्टपं स्वर्गं लोकं गमयतो च एवं विद्वानुदिते जुहोति, तस्मादुदिते होतव्यम् ।।
—ऐतरेयब्राह्मणम्, ५।५।३०, पृ० ८७४

२६. (i) एतद्ध स्म वै तद् विद्वान् नगरी जानश्रुतेयऽउदितहोमिनमैकादशाक्षं मानुतन्तव्य-मुवाच—प्रजायामेनं विज्ञातास्मो यदि विद्वान् वा जुहोत्यविद्वान् वेति; तस्यो हैका-दशाक्षे राष्ट्रमिव प्रजा बभूव; राष्ट्रमिव ह वा अस्य प्रजा भवति, य एवं विद्वानुदिते जुहोति, तस्मादुदिते होतव्यम् ।। —तत्रैव, ५।५।३०, पृ० ८७८

(ii) तत्रैव, ५।५।३०, पृ० ८८०, ८८१।

२७. (i) यथा ह वाऽस्थूरिणैकेन यायादकृत्वाऽन्यदुपयोजनाय।
एवं यंति ते बहवो जनासः पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् ।।
—तत्रैव, ५।५।३०, पृ० ८७५

(ii) प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति, पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्।
दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तन्यतः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम् ।।
—तत्रैव, ५।५।३०, पृ० ८७५

# ऋग्वेदकालीन आवासीय व्यवस्था

—डा० शशि तिवारी

भारतीय वास्तुकला का प्राचीनतम स्वरूप ऋक्संहिता में दिखायी देता है। यद्यपि ऋग्वेदकालीन आवासीय व्यवस्था पर मन्त्रों से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है, तथापि उल्लेखनीय है कि इस संहिता में आवास के लिए तीस से कुछ अधिक ही शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें से कुछ शब्द विशेष रूप से 'गृह' के वाचक हैं और कुछ सामान्य रूप से 'आवास' का बोध कराते हैं। आवास के अवयव, उपकरण, सुरक्षा और प्रकार से सम्बद्ध शब्दों और विवरणों के आलोचनात्मक विश्लेषण द्वारा ऋग्वेद कालीन आवासों के स्वरूप और प्रयोजन आदि के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। ग्राम, पुर, कुल और कुलपति सम्बन्धी शब्द और विवरण इनके स्वरूप की परिकल्पना के द्योतक हैं।

## ग्राम और पुर

ऋग्वैदिक आर्य स्पष्ट रूप से नगरों के निवासी नहीं थे। ऋक्संहिता में न 'नगर' शब्द का प्रयोग हुआ है और न सप्तसिन्धु के नगरों का ही कोई उल्लेख है। है। ऋग्वैदिक आर्य कृषक और पशुपालक होने से ग्रामों में रहते थे। 'वे कृषक थे और अपने पशुओं की अनुकूलता देखकर गाँवों में रहते थे।'[१] ऋचाओं में 'ग्राम' शब्द बहुधा प्रयोग में आया है।'[२] ग्राम और वन का भेद कभी पशुओं और कभी पौधों के भेद द्वारा व्यक्त किया गया है।[३] 'ये ग्राम कदाचित् खुले हुए थे, यद्यपि इनके भीतर कभी दुर्ग, प्राकार या गढ़ (पुर) भी बना लिया जाता था'।[४] सम्भव है, इस प्रकार के गढ़ अक्सर बहुत बड़े आकार के होते रहे होंगे, क्योंकि एक को चौड़ा (पृथ्वी) और विस्तृत (उर्वी) कहा गया है।[५] अन्यत्र पत्थर के बने (अश्ममयो) दुर्ग का उल्लेख है।[६] कई बार लोहे के बने गढ़ों का उल्लेख हुआ है, जिसे 'आयसी

---

१. राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वेदिक आर्य, इलाहाबाद, १९५७, पृ० २१५।

२. ऋ० १।४४।१०, १।११४।१, १।१४०।१, २।१२।७ इत्यादि।

३. ऋ० १०।९०।८।

४. कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग १ (अनूदित), वाराणसी, १९६२, पृ० २७३।

५. पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी। ऋ० १।१८९।२

६. शतमश्मन्मयीनां पुराम्। ऋ० ४।३०।२०; तुलनीय—'अश्मपुर'। शत०ब्रा० ३।१।३।११।

पुः' कहा गया है।[१] यद्यपि 'अयस्' को विद्वानों ने तांबे[२] या लोहे[३] के अर्थ में धातु का नाम माना है, तथापि पुर के साथ 'लोहा' अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में पुरी, पुर, पुः, प्राकार आदि के वर्णन अपेक्षाकृत अधिक हुए हैं, जो वास्तु की दिशा में हुई उन्नति के संसूचक हैं।[४] ऋग्वेदसंहिता में अधिकतर देवों द्वारा प्रार्थित रक्षा के प्रसंग में 'आयसी पुः' का उल्लेख आलंकारिक रीति से हुआ है, तथापि सुरक्षा और दृढ़ता को द्योतित करते हुए इन विवरणों से 'पुर्' के चारों ओर से दीवारों से घिरे होने का संकेत तो ग्राह्य है ही।

## कुल और गृह

ऋक्संहिता के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों का सामाजिक और पारिवारिक जीवन सन्तुष्ट और सुखद था। लोग अपने-अपने घरों में रहते थे। जिस स्थान पर एकाकी परिवार या संयुक्त परिवार और इनके पशु रहते थे, उसे 'गृह' कहते थे। गृहों के मंगल के लिए शुभ शकुन और चोरों से निर्भयता प्रार्थित है।[५] सम्भवतः गृह के भीतर पृथक्-पृथक् हिस्से होते थे, यथा—अग्निशाला, पशुशाला आदि। ध्यातव्य है कि 'शाला' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद की संहिता में नहीं हुआ है। गृहाग्नि को घर के बीच में जलाया जाता था।[६] अथर्ववेदसंहिता के दो सम्पूर्ण सूक्तों में शाला के स्वरूप और निर्माण के विवरण हैं।[७]

घरों का समूह ही 'ग्राम' होता था। एक घर में एक कुल रहता था। ऋग्वेद में परिवार का वाचक शब्द 'कुल' है। 'कुल' का मूल अर्थ ही है 'घर'।

## गृहपति और वास्तोष्पति

ऋग्वेद में परिवार के प्रमुख पुरुष को यदि 'गृहपति'[८] या 'दम्पति'[९] कहा

---

१. ऋ० ७।३।७, ७।९५।१, ७।१५।१४, १०।१०१।८ इत्यादि।
२. Om Prakash, Economy and Food in Ancient India, Part I, Delhi, 1987, p. 69.
३. कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ६१३; घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान (अनूदित), दिल्ली, १९७६, पृ० १३८।
४. Jogiraj Basu, India of the Age of the Brahmanas, Calcutta, 1969 p. 74.
५. अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणाम्······मा नः स्तेन ईशत। ऋ० २।४२।३
६. Chhanda Chakraborty, Common Life in the Rigveda and Atharvaveda, Calcutta, 1977, p. 7.
७. अथर्व० ३।१२, ९।३।
८. ऋ० ६।५३।२।
९. ऋ० १।१२७।८, २।३९।२।

गया है, तो गृहस्वामिनी को 'गृहपत्नी'[1] बताया गया है। घरों की रक्षा के लिए गृह के अधिष्ठाता देवता के रूप में 'वास्तोष्पति' का स्तवन हुआ है।[2] 'गृह्यसूत्रों में विधान मिलता है कि नवीन आवास में प्रवेश करने से पहले वास्तोष्पति को मनाना चाहिए। यह विधान ऋग्वेदीय सूक्त के साथ मिलकर इस तथ्य की ओर निर्देश करता है कि मूलत: वास्तोष्पति एक गृह-रक्षक देवता हैं। यही तथ्य इस नाम के अर्थ (आवास का स्वामी) से भी झलकता है।'[3] वास्तोष्पति से निरोगता, पशु-सम्पत्ति के अतिरिक्त योग और क्षेम भी चाहा गया है।[4]

## आवास के अवयव और उपकरण

ऋक्संहिता में आवासीय अवयवों के अर्थ में कुछ शब्द प्राप्त होते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ का अभिप्राय प्रायश: सन्दिग्ध ही है। 'आता' शब्द का संहिता में तीन बार प्रयोग हुआ है।[5] निघण्टु (१।६) में यह दिङ्नामों में आम्नात है और सायणाचार्य ने सर्वत्र इसका अर्थ दिशाओं से ही लिया है, तथापि कीथ और डा० सूर्यकान्त ने लैटिन शब्द से तुलना करते हुए इसका तात्पर्य 'दरवाजे का ढाँचा' बताया है।[6] 'आ' पूर्वक √अत् धातु से व्युत्पन्न होकर 'जिसकी ओर मुख करके जाया जाता है'[7] अर्थ को देता हुआ 'आता' शब्द भाव की दृष्टि से दोनों ही अर्थों में संगत प्रतीत होता है। निघण्टु में 'छदिस्' शब्द यद्यपि गृहनामों में पठित है, तथापि संहिता में एक बार ही इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जहाँ द्यौस् को सूर्या के विवाहरथ का 'छदिस्' बताया गया है।[8] आच्छादनार्थक √छद् धातु में इसि प्रत्यय से व्युत्पन्न इस शब्द से छान, छप्पर या आच्छादन का अभिप्राय है, जो घर या गाड़ी का हो सकता है।[9] इसी से युक्त घर को 'छर्दिस्' कहा गया है।[10] बाद की संहिताओं में 'छदिस्' का उल्लेख बहुधा हुआ है।

---

१. ऋ० १०।८५।२६।

२. ऋ० ७।५४, ७।५५।१।

३. मैकडॉनल, वैदिक देवशास्त्र (अनूदित), दिल्ली, १९८२, पृ० ३५७-५८।

४. पाहि क्षेमे उत योगे वरं नः। ऋ० ७।५४।३।

५. ऋ० १।५६।५, १।११३।१४, ३।४३।६।

६. Suryakanta, A Practical Vedic Dictionary, Delhi, 1981, p. 132; कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २५७।

७. आभिमुख्येन गम्यन्ते प्राणिभिः आताः। सायण भाष्य ऋ० ३।४३।६।

८. द्यौरासीदुतच्छदिः। ऋ० १०।८५।१०; सायण—छदिः उपर्यपिधानम्। वाचस्पत्यम्।

९. उणादिसूत्र २।२६८।

१०. ऋ० ६।१५।३, ६।४६।९, ८।६७।२।

संहिता में प्राप्त **'ओपश'** शब्द सन्दिग्ध आशय वाला है, और अधिकतर इसका अर्थ चोटी या वेणी ही किया गया है।[1] कीथ की मान्यता है कि अथर्ववेद में घर की छत का वर्णन करते हुए इसका लाक्षणिक प्रयोग हुआ है।[2] **'दुर्'** और **'द्वार्'** शब्दों का ऋग्वेद में और उसके बाद भी बहुधा शाब्दिक या लाक्षणिक रूप में गृह के द्वार के लिए प्रयोग हुआ है। बाद का रूप 'द्वार' इसी आशय में इसी से उद्भूत है। 'द्वारः' की यास्क ने तीन निरुक्तियाँ दी हैं—गत्यर्थक √जु या √द्रु से द्वार बनता है। निवारणार्थक √वारय् से भी द्वार बनता है।[3] यह नित्य बहुवचनान्त है। 'देवोर्द्वारः' एक आप्तो-देवता का नाम है। भारोपीय भाषा में इसके समकक्ष शब्द 'dhuor' और ग्रीक में 'thura' मिलते हैं, जिनके अर्थ भी 'द्वार' ही हैं।[4] एक अन्य शब्द **'कक्ष'** यद्यपि एक बार 'अतिगहनप्रदेश' के अर्थ में भाष्यकारों द्वारा ग्राह्य है,[5] और बाहों के कक्ष प्रदेश को तो स्पष्टरूप से द्योतित करता है, तथापि इसे ही गृह के कक्ष का पूर्वरूप माना जा सकता है। भवन के आधारभूत खम्भे के लिए **'स्थूणा'** और **'उपमित्'** शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[6]

गृह के उपकरणों में कलश, मूसल, चलनी, सूप आदि बरतनों और सिल-बट्टा, औजार आदि वस्तुओं के अतिरिक्त सोने और बैठने के लिए प्रोष्ठ, वह्य, तल्प नाम से जिस घरेलू सामग्री का उल्लेख हुआ है[7], उससे ऋग्वैदिक गृहों की सामग्री का किंचित् संकेत मिलता है। नित्य प्रति के ये उपयोगी उपकरण आवासीय व्यवस्था के आन्तरिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।

### आवास की सुरक्षा और प्रकार

मानवीय आवासों का सामान्य प्रयोजन सुविधा और सुरक्षा है, परन्तु इसके लिए साधन अपेक्षित हैं। यह कारण है कि आवास के स्वरूप में उसके स्वामी के सामर्थ्य का प्रभाव होता है। ऋग्वैदिक आवास दो प्रकार के तो अवश्य ही रहे होंगे। अल्प-साधन सम्पन्न जनों के लिए छोटे घर—जो पत्थर, लकड़ी,

---

१. ऋ० ६।७१।७, १०।८५।५।

२. अथर्व० ६।१३८।१,२; ६।३।८; कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १३९।

३. द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा। नि० ८।१०।१।

४. Varma, The Etymologies of Yaaska, Hoshiarpur, 1953, p. 33.

५. ऋ० १०।२८।४; सायण—अतिगहनदेशात्; उद्गीथ—गहनप्रदेशात्।

६. उपमिन्न रोधः। ऋ० ४।५।१।
स्थूणेव जनाँ उपमिद् ययन्थ। ऋ० १।५९।१।

७. ऋ० ७।५५।८।

बाँस, मिट्टी, घास आदि से बनते थे।[1] धनवान् व्यक्तियों के लिए बड़े और विशाल घर—जो अपेक्षाकृत दृढ़ और सुरक्षित होते होंगे। एक सूक्त में किसी श्रीमान् के भव्य प्रासाद का सांकेतिक विवरण प्राप्त होता हैं, जिसे 'हर्म्यं' कहा गया है; जिसमें माता, पिता, अन्य सम्बन्धी जन और कई स्त्रियाँ रहती हैं। इसमें कई कोठे हैं और सुरक्षा के लिए प्रहरी के रूप में कुत्ते भी दरवाजे पर रहते हैं।[2] ऋषि ने कामना की है कि निवासस्थान उत्तम प्रकार से सुरक्षित (सुप्तावीः क्षयः) हो।[3] वह द्रोहकारी निन्दकों से बचा रहे और दीर्घकाल तक टिकने वाला (दीर्घश्रुत् शर्म) हो।[4] अश्विनौ से ध्रुव यश और ध्रुव छर्दि प्रार्थित हैं।[5] अतः घर भी यश की तरह स्थिर होना चाहिए। उपासक धनधान्य से सम्पन्न घर (इरावत् वर्तिः) में ही जाना चाहता है।[6] वह पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न घरों (प्रजावतीषु दुर्यासु) में रहना चाहता है।[7] सन्तान, धन और अन्न से भरे-पूरे घरों की कामना में[8] आवास, घर और परिवार लगभग पर्याय हो जाते हैं। स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार की प्रार्थनाएँ प्रभूत रूप से की गयी हों। इनसे मात्र यह निष्कर्ष निकालना ही उपयुक्त होगा कि ऋग्वैदिक आर्य अपने आवास-स्थान को प्रत्येक दृष्टि से सुरक्षित, सुखपूर्ण और सम्पन्न रखना चाहते थे। सुन्दर, समृद्ध, विशाल और सुरक्षित घर की स्पृहा को सुव्यक्त करने वाली ऋषि वसिष्ठ की उक्तियाँ ही यहाँ उल्लेखयोग्य हैं कि, "मैं मिट्टी के घर में नहीं रहना चाहता हूँ।"[9] "हे वरुण! मैं तुम्हारे बड़े परिणाम वाले, सहस्रों द्वारों वाले घर में जाना चाहता हूँ।"[10] 'मृन्मयं गृहम्' और 'सहस्रद्वारं गृहम्' का भेद आवास विषयक उस ऋग्वैदिक परिकल्पना को

---

१. ऋ० ७।८९।१, विश्वेश्वरनाथ रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, वाराणसी, १९६७, पृ० २१०; C. Chakraborty, Common Life in the Rigveda and Atharvaveda, pp. 7-8; Majumdar, The Vedic Age, p. 462.

२. ऋ० ७।५५, वेलणकर, ऋक्सूक्तवैजयन्ती।

३. सुप्तावीरस्तु स क्षयः। ऋ० ७।६९।५।

४. तांस्त्रायस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छा नः शर्म दीर्घश्रुत्। ऋ० ७।१६।८।

५. ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या। ऋ० ७।७४।५।

६. यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत्। ऋ० ७।६७।१०, ७।४०।५।

७. प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य। ऋ० ७।१।११।

८. अस्तं तात्या धिया रयिं सुवीरं पृक्षो नो अर्वान्युहीत वाजी। ऋ० ७।३७।६।

९. मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। ऋ० ७।८९।१।
ग्रिफिथ ने 'मृन्मयं गृहम्' से कब्र का अर्थ लिया है। Griffith Rigveda Samhita (Translated).

१०. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते। ऋ० ७।८८।५।

उद्घाटित करता है, जिसमें ऋग्वेदकालीन आवासों के प्रकार, प्रयोजन और उद्देश्य अन्तर्निहित हैं।

ऋग्वेद की संहिता में भवन-निर्माण के स्वरूप का अत्यन्त संकेतात्मक उल्लेख है। त्वष्ट्रा और ऋभु को गृहनिर्माण करने वाला कुशल कारीगर कहा गया है। कई विद्वानों ने वैदिक गृहों की अनुमानित रूपरेखा और निर्माण-प्रक्रिया प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।[१] पशुओं को आश्रय देने वाले विशाल आवास 'गोत्र' कहलाते थे, तो साधारण छप्परनुमा छतों से युक्त गृह 'छर्दिस्' और पक्के गृह 'हर्म्य'।

## संहिता में प्रयुक्त आवास वाची शब्द

ऋग्वेद में बड़े आकार वाले निवास-स्थानों से लेकर गुहा, श्मशान और छाया तक को आश्रय का हेतु या निवास का आधार होने से आवास वाची या गृह-वाची माना गया है। यहाँ आवास के अर्थ में लगभग तीस शब्दों का प्रयोग हुआ है—गृहम्, गयः, पस्त्यम्, दुरोणम्, दुर्यः, दम/दम्, ओकः, योनिः, धायन्, निवेशनम्, वसतिः, छर्दिस्, वर्तिः, वेश्मन्, वरूथम्, शरणम्, वास्तु, शर्मन्, सदनम्, सदस्, सद्म, हर्म्यम्, विदथम्, गुहा, अस्तम्, क्षयः, अया, स्वसराणि, अज्म और छाया।[२] कुछ शब्द आवास के अर्थ में सन्दिग्ध हैं—गोत्र, स्ति, क्षोण। निघण्टु में बाइस गृह पर्याय बताए गए हैं—गयः, कृदरः, गर्तः, हर्म्यम्, अस्तम्, पस्त्यम्, दुरोणे, नीळम्, दुर्याः, स्वसराणि, अया, दये, कृत्तिः, योनिः, सद्म, शरणम्, वरूथम्, छर्दिः, छदिः, छाया, शर्म, अज्म।[३] इनमें से 'कृदरः' ऋग्वेद में अप्राप्त है। 'गर्तः' यद्यपि बहुप्रयुक्त है, तथापि स्वयं निरुक्तकार ने उसे √गृ (निगलना) से व्युत्पन्न मानकर 'श्मशान' और √गृ (प्रशंसा करना) से व्युत्पन्न मानकर 'रथ' के अर्थ में ग्रहण किया है।[४] 'छर्दिस्' तो आवासीय अवयव का वाचक है ही। 'नीळम्' का प्रयोग एक बार ही हुआ है, जहाँ वह एक स्थान पर रहते हुए यजमानों का बोधक है।[५] 'कृत्तिः' शब्द भी सम्भवतः एक बार ही व्यवहृत हुआ है[६] वहाँ इसका अर्थ सायण द्वारा यश अथवा अन्न किया गया है। यास्क ने भी √कृत् (छेदना) से निष्पन्न मानकर

---

१. कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २५५-५७; कैलाशनाथ द्विवेदी, ऋग्वैदिक भूगोल, कानपुर, १९८४, पृ० २०२-३; रेड, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० २१०।

२. इनका अर्थवैज्ञानिक विश्लेषण एक दूसरे शोधपत्र का विषय बनाया गया है।

३. निघण्टु ३।४; निरुक्त ३।१३।६।

४. श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त्त उच्यते गुरतेरपगूर्णो भवति। रथोऽपि गर्त्त उच्यते। नि० ३।५।

५. समानं नीळं वृषणो वसानाः। ऋ० १०।५।२।

६. महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र। ऋ० ८।९०।६; सायण-कृतिर्यशो अन्नं वा।

इसको यश या अन्न का वाचक बताया है।[1] इस प्रकार यदि इन पाँच शब्दों को छोड़ भी दें, तब भी निघण्टु के सतरह गृहपर्याय संहिता में 'गृह' के बोधक दिखायी देते हैं। इनमें से भी यास्क ने गयः, हर्म्यम्, अस्तम्, नीळम्, दुर्याः, सद्म, वरूथम्, छर्दिः, छदिः, छाया—शब्दों को निरुक्ति या कोई चर्चा नहीं की है। शेष में से कुछ शब्द ही उनके द्वारा गृह या आवास के अर्थ में व्युत्पन्न किए गए हैं। ऋग्वेद में प्राप्त अन्य आवास वाची शब्दों को निघण्टु में न गिनाए जाने का कोई तर्कसंगत कारण अनुमान योग्य नहीं है। सम्भव है निरुक्तकार की दृष्टि में दूसरे शब्द घर से भिन्न आवासों को परिलक्षित करते हों। अनन्तर संस्कृत साहित्य और संस्कृत भाषा में गृह के अर्थ में दूसरे कई शब्द प्रचलन में आए[2], और ऋग्वेद के पस्त्यम्, वेश्मन्, वसतिः, सदनम्, शरणम्, सद्म आदि कुछ ही शब्द इस अर्थ में अधिक व्यवहृत होते रहे हैं।

**आवास के विशिष्ट विशेषण**

संहिता में आवास या गृह के लिए पाँच विशिष्ट विशेषण पदों का उल्लेख हुआ है, जिनकी विवेचना आवासीय परिकल्पना के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। लगभग २५ बार '**त्रिधातु**' और लगभग १० बार '**त्रिवरूथम्**' विशेषण शर्मन्, शरणम्, छर्दिस्, आदि गृहनामों के साथ प्रयोग में आए हैं। 'त्रिधातु शर्म' यद्यपि 'तीन धातुओं का शयनविषयक सुख' हो सकता है,[3] तथापि जब यह 'शरणम्' और 'शर्म' दोनों के साथ प्रयुक्त हुआ है,[4] तब निश्चित रूप से गृह की विशेषता ही बता रहा है। 'धातु' विभाग या प्रकार को कहते हैं, इसलिए भाष्यकारों ने इससे 'त्रिभूमिकम्' (सायण), त्रिबन्धनम् (वेङ्कटमाधव), तीन मंजिल वाला (विलसन), तीन धारक शक्तियों से युक्त (सातवलेकर) आदि अर्थ किए हैं। स्वामी दयानन्द ने एक दूसरे मन्त्र (ऋ० ६।४६।९) में 'त्रिधातु छर्दिस्' तीन धातुओं—सुवर्ण, रजत, ताम्र से बने घर को बताया है और सायण ने एक मन्त्र (८।४०।१२) में इसे तीन पर्वों वाला गृह कहा है। तीन भागों, प्रकारों या भूमियों वाला शर्म या गृह निश्चय ही आवास की विशिष्टता और विशालता को अभिव्यक्त करता है। 'वरूथम्' वरणीय अर्थ में गृहनाम है। अतः 'त्रि वरूथम्' विशेषण से 'तीन गृहों वाला शर्म'[5]

---

१. क्रुत्तिः कृन्ततेर्यशो वा अन्नं वा। नि० ५।२२।

२. हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि ४।५५-५८; हलायुधकोश; वाचस्पत्यम्; शब्दकल्पद्रुम… 'गृहम्' शब्द।

३. ऋ० १।३४।६, सायणभाष्य।

४. स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत्। ऋ० ७।१०१।२।

५. त्रि वरूथम् शर्म। ऋ० ४।५३।६; सायण एवं दयानन्द—त्रीणि वरुथानि गृहाणि स्थानानि यस्य तादृशम्।

या शीत, आतप और वर्षा का वारक गृह[1] चाहा गया है। 'त्रिधातु' और 'त्रि-वरूथम्' गृह इन्द्र और मरुतों से प्रार्थित हैं[2] और ऋग्वैदिक आवासीय परिकल्पना का प्रमुख अङ्ग हैं। इन विशेषणों से गृह-रचना को भौगोलिक उपयोगिता भी प्रकाश में आती है।

ऋक्संहिता में केवल एक बार प्राप्त 'सहस्रद्वारम्' और केवल दो बार प्राप्त 'सहस्रस्थूणम्' विशेषण पदों का आवास की प्रमुख विशेषताओं के प्रतिपादन में महत्त्व है। वरुण से कहा गया है कि 'मैं तुम्हारे बड़े परिमाण वाले, हजार द्वार वाले घर में जाना चाहता हूं[3] और मित्रावरुण को हजार खम्भों वाले घर में बैठने वाला बताया गया है।[4] 'द्वार' और 'स्थूणा' आवासीय अवयव हैं। यद्यपि ये विशाल, दृढ़ और उत्तम सौधरूप गृह देवताओं के सन्दर्भ में ही चर्चा में आए हैं, तथापि निस्सन्देह ऋग्वैदिक आर्यों की आवासीय अवधारणाओं के अवबोधन में पर्याप्त सक्षम हैं। अनेक दरवाजों वाले, हजारों खम्भों पर खड़े, उत्तम और दृढ़ भवन निश्चय ही पक्के मकान हैं—जिनको ऋग्वेद में परिकल्पना स्पष्ट है। निषेधरूप में केवल एक बार प्रयुक्त 'मृन्मयम्' विशेषण मिट्टी के बने उस कच्चे घर की बात करता है। जिसमें उपासक किसी भी दशा में निवास नहीं करना चाहता है।[5]

इस प्रकार ऋग्वेदिक वास्तु-संरचना मे छोटे और बड़े, कच्चे और पक्के आवासों की चर्चा के सन्दर्भ हैं। आवासीय अवयवों के नाम, आवास के पर्याय-वाची नाम और आवास के प्रमुख विशेषण पदों की अर्थगत मीमांसा से आवासों का आन्तरिक और बाह्य स्वरूप स्पष्ट होता है। ऋग्वैदिक आवासीय व्यवस्था में सुरक्षा, दृढ़ता और विशालता पर बल रहा है। उसकी आन्तरिक परिकल्पना में उसके निवासियों के अपने आवास के प्रति आकर्षण और उससे प्राप्त सुख, दुःख राहित्य, विश्रान्ति सुख और शान्ति की चर्चा हुई है। प्राकार, प्रासाद, निवास, आयतन, श्मशान, शाला आदि शब्द ऋग्वेद की संहिता में अप्राप्त हैं। हर्म्य, सहस्रस्थूण और सहस्रद्वार गृह के उल्लेख तत्कालीन विकसित वास्तुकला को दर्शाते हैं। ऋग्वैदिक आर्यों की विकसित आवासीय व्यवस्था सिन्धुघाटी सभ्यता की आवासीय व्यवस्था से तुलना और साम्य पर पुनर्चिन्तन को बाध्य करती है।

---

१. ऋ० ६।४६।९ में सायण—त्रिधातु = त्रिप्रकारं, त्रिभूमिकं, त्रिवरूथम् = त्रयाणां शीता-तपवर्षाणां वारकं गृहम्। स्वामी दयानन्द—शीतोष्णवर्षासूत्तमम् छर्दिः।
२. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथम् स्वस्तिमत्। ऋ० ६।४६।९।
त्रिवरूथां मरुतो यन्त नश्छर्दिः। ऋ० ८।१८।२१।
३. ऋ० ७।८८।५।
४. ऋ० २।४१।७, ५।६२।६।
५. ऋ० ७।८९।१।

# उपनिषदों में मनस् तत्त्व

डॉ० वेदवती वैदिक

नूपुर की झंकार के समान मन में विभिन्न घात-प्रतिघातों के अनुसार चेतना को झंकार होती है। इन्हीं स्वरलहरियों ध्वनियों को संज्ञान, विज्ञान, अज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, मति, धृति, मनीषा, स्मृति, संकल्प, ऋतु और काम कहा जाता है।

अव्याकृत, अव्यक्त, अकृत्स्न परमतत्व ही मनन करने के कारण मन कहलाता है।[1] परमतत्व के ये कर्मानुसारी काम हैं। योगवाशिष्ठ के अनुसार शुद्धचेतन आत्मा अथवा परमचित् जब स्पन्दनयुक्त होकर कल्पनात्मक रूप धारण करता है और विभिन्न विषयों की ओर आकर्षित होता है तब उसे मन कहते हैं।[2]

मन पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों से भिन्न है। वह अन्तरेन्द्रिय है। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये गये और भोगे हुए विषयों का ज्ञान तथा मनुष्य की चेतना के बीच में संबंध स्थापित करता है। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य मन से ही सुनता है, मन से ही देखता है। इसी से मन के अस्तित्व का बोध होता है।[3] मन को सन्निधि में ही इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों को भोगने और ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियाँ मन के अधीन रहकर कार्य करती हैं। यदि मन उपस्थित न हो तो नेत्रों के द्वारा किसो विषय को देखने पर भी उस विषय का ज्ञान नहों होता। 'मेरा मन अन्यत्र था इसोलिए मैंने देखा नहीं, मेरा मन अन्यत्र था इसोलिए मैंने नहों सुना।'[4] इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन की उपस्थिति के बिना इन्द्रियाँ निष्प्रयोजन हैं। जिसके उपस्थित रहने पर हो ज्ञान होता है, वह मन नाम का अन्तःकरण है।

परन्तु आपाततः यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कभी-कभी नेत्र के सम्मुख न आने पर भी, किसी व्यक्ति के द्वारा पीठ पर स्पर्श किए जाने पर भी मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि यह स्पर्श किसका है? यह कैसे संभव है? मनुष्य अपने विवेक द्वारा ही यह जान लेता है कि 'यह स्पर्श हाथ का है या पांव

---

१. अकृत्स्नो हि स मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येवां बृह० उ० १.४.७

२. 'गतमेव कलंकत्वं कदाचित्कल्पनात्मकम्।
उन्मेषरूपिणी नाना तदेवहि मनः स्थिता।' ३.९६.१७

३. 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा ह्येव शृणोति।' वही १.५.३

४. 'नादर्शमन्यत्रमना अभूवम् नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा ह्येव शृणोति। वही

का'। परंतु स्पर्श का ज्ञान तो त्वचा से होता है, मन से नहीं। यह कहना ठीक नहीं क्योंकि त्वचा तो केवल स्पर्श का अनुभव करती है। यह स्पर्श हाथ का है या पांव का—इसका विवेक त्वचा नहीं, मन करता है। अतः इस विवेकज्ञान का कारण मन ही है।[1] इससे मन के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है।

काम अर्थात् स्त्री संबंध की अभिलाषा, संकल्प अर्थात् प्रत्युपस्थित विषय की शुक्ल-नीलादि भेद से विशेष कल्पना, विचिकित्सा अर्थात् संशय-ज्ञान, श्रद्धा अर्थात् जिनका फल अदृष्ट है उन कर्मों और देवताओं में आस्तिकता का भाव रखना, अश्रद्धा अर्थात् इसके विपरीत भाव रखना, धृति अर्थात् देहादि के शिथिल हो जाने पर उन्हें धारण करना, अधृति अर्थात् इसके विपरीत होना, ह्री अर्थात् लज्जा, धी अर्थात् बुद्धि और भी अर्थात् भय, ये सब भाव मन के ही हैं।[2] अन्तःकरण की संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति को ही मन कहते हैं।[3] चित्त और अहंकार का इन्हीं दोनों अर्थात् मन और बुद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है। संशय रूपवृत्ति मन है, निश्चयात्मिका बुद्धि है।[4] अन्तःकरण की अनुसंधान रूपा (स्मरण) वृत्ति चित्त और अभिमानात्मिका वृत्ति अहंकार कहलाती हैं।[5] अन्तःकरण, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त है। इनके विषय संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण है।[6] संकल्प-विकल्प के कारण मन, पदार्थ का निश्चय करने के कारण बुद्धि, अहं-अहं (मैं-मैं) ऐसा अभिमान करने से अहंकार, चिंतन करने के कारण अन्तःकरण चित्त कहलाता है।[7]

जो अणिष्ठतम है, वही मन है।[8] मनुष्य जो भी भोजन खाता है, वह जठराग्नि के द्वारा पचाए जाने पर तीन भागों में विभक्त होता है। अन्न का स्थूलतम भाग पुरीष-मल और मध्यम अंश मध्यम धातु बनता है। वह रसादि क्रम

---

१. 'तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः।' वही १.५.३

२. कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतसर्वं मन एव। वही

३. मनोनाम संकल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः। वेदांतसारः १९

४. तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा। मनोविमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका। पंचदशी १.२०

५. अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिरहंकारः। 'शारीरिकोपनिषद् २···'

६. मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषयाइमे। विवेकचूडामणिः ९४

७. निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः। मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः। वही ९५

८. अन्नमशितंत्रेधाभवति। तस्य यः स्थविष्ठोधातुस्तत्पुरीषं भवति, योमध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः। छां० ६.५.१

से परिणत होकर मांस हो जाता है। मन की प्रकृति उसकी पाचन क्रिया पर निर्भर होती है। अन्न का जो अणिष्ठ अर्थात् सूक्ष्मतम अंश है उसी से मन की निर्मिति होती है।

मन अन्नमय है। जिस प्रकार दही को मथने पर, उसका जो सूक्ष्म भाग मक्खन के रूप में ऊपर आ जाता है, वही घृत होता है उसी प्रकार खाए हुए अन्न का जो सूक्ष्म भाग है वह मथानी की भांति वायुसहित जठराग्नि के द्वारा मथे जाने पर सार रूप में ऊपर आ जाता है, वही मन होता है।[1] खाए हुए अन्न का सूक्ष्मतम अंश मन में शक्ति का संचार करता है। मन की अन्नमयता को उद्दालकपुत्र श्वेतकेतु ने प्रत्यक्ष अनुभव किया। आरुणि ने पुत्र से कहा 'वत्स! तुम पन्द्रह दिन तक अन्न ग्रहण मत करो।' उसने नहीं किया। तब सोलहवें दिन पिता ने ऋक आदि मंत्रों का पाठ करने के लिए कहा। श्वेतकेतु ने पाठ प्रारम्भ किया। परन्तु आश्चर्य! उसके मन में ऋगादि की प्रतीति नहीं हुई। वह जो भी पाठ करता था उसे न तो समझ आ रहा था और न याद हो रहा था। तब पिता ने उसे समझाया कि जब अग्नि का अंगारा जुगनू के सामान शेष रह जाता है तब उसमें जलाने की सामर्थ्य नहीं रहती है। उसी प्रकार पुरुष की १६ कलाएं होती हैं। पन्द्रह दिन भोजन न करने से तुम्हारी पन्द्रह कलाएं नष्ट हो गईं। १६वीं कला ध्रुवा कला होती है। जैसे अग्नि के अंगारे को ईंधन से यदि पुनः प्रज्वलित कर दिया जाए तो उसमें जलाने की पुनः सामर्थ्य आ जाती है। उसी प्रकार अंगारे के समान शेष ध्रुवा कला की अन्न द्वारा पुष्टि करो। श्वेतकेतु ने पुनः अन्न ग्रहण किया। अन्न ग्रहण कर जब वह लौटा तब उससे पिता ने जो भी प्रश्न किए, उन सबका उत्तर देने में वह समर्थ हुआ। अतः मन को अन्न द्वारा पुष्ट करने पर वेदार्थ का ज्ञान संभव हुआ। तब श्वेतकेतु ने जाना मन अन्नमय है।[2]

मन का अधिष्ठान हृदय है। क्योंकि चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ था। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।[3] वह परमतत्व मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है, हृदय से ही रूपों का ज्ञान प्राप्त करता है।

**'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति हृदयेन ही रूपाणि जानाति।'**[4]

---

१. 'दध्न सौम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, तत्सर्पिर्भवति एवमेव खलु सौम्य अन्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा सः ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनोभवति।' वही ६.१.२

२. 'अन्नमयं हि सोम्य मनः।' वही ६.५ ४··· 'षोडशकलः सोम्य पुरुष पंचदशाहनिमाशीः··· एवं, सौम्य त षोडशामां कलानमेका कलाति शिष्टाभूत सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली तर्यहि वेदाननुभवस्यन्नमयं हि सोम्य मन। वही ६.६.१-५, ६.७.१-६

३. ऐ० उप० २.१.४

४. बृह० उप० १.५.३

मन और हृदय एक दूसरे के पर्याय हैं। हृदय और मन से वाच्य अन्तःकरण ही सब प्रकार के ज्ञान का साधन है। मन उसका (आत्मा) दिव्य नेत्र है।[1] मन को दिव्य (दैव) क्यों कहा गया है? क्योंकि मन अन्य इन्द्रियों जैसे श्रवणेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय, वागिन्द्रिय से असाधारण है। वह कैसे? क्योंकि मन इन्द्रियों से उत्कृष्ट है।[2] इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों की ओर उन्मुख होना मन के अधीन है। मन इन्द्रियों से अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म है क्योंकि वाणी मन के अधीन है। मन ही उसे बोलने के लिए प्रेरित करता है। लोक में यह नियम है कि जो जिसके अंतर्गत होता है, उसकी अपेक्षा वह व्यापक होने के कारण बड़ा भी होता है 'मनो बाव वाचो भूयो'।[3] मन वाणी से उत्कृष्ट भो है और व्यापक भी। इसके अतिरिक्त इन्द्रियां केवल वर्तमान विषयों का अनुभव कर सकती हैं। इसोलिए उन्हें इहदैव कहा जाता है। परन्तु मन तीनों कालों में विषयों की उपलब्धि में करण है। शरोर में ससीम रहते हुए भो मन देश और काल की सोमाओं का उल्लंघन कर जाता है। मन रूपी पंछो विचार रूपी पंखों की सहायता से धरतो से आसमान तक, लोक से परलोक तक, पृथ्वो से पाताल तक जाता है।[4] इसोलिए उसे 'दैव चक्षु कहा गया। इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक व्यापक और सूक्ष्म होने से वह नित्य माना गया। आत्मा के स्वामी मन द्वारा अपनी नित्य प्रस्तुत दृष्टि से, इन भोगों को देखता हुआ रमण करता है।[5]

हृदय का सारभूत मन है, 'यदेतद्हृदयं मनश्चैतत्।'[6] यह हृदय ही मन है। भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियों में भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियां मन के माध्यम से हुआ करती हैं। मन में विभिन्न रूप से चेतना की झंकार होती है। हृदय रूपी मन में सम्यग्रूप से जाने की शक्ति (संज्ञान)[7], दूसरों पर आज्ञा देने की शक्ति

---

१. 'मनोऽस्य दैवं चक्षुः।' छां० उप० ८.१२.५

२. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। कठ० उप० १.३.१०

३. छां० उप० ७.३.१

४. 'यत् ते दिवं यत् पृथिवीं मनोजगामदूरकम्' ऋग्वेद १०.५८.२

५. 'अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते।' छां० उ० ८.१२.५

६. 'यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।' ऐ० उप० ३.१.२—बृह० उप० १.४७

७. संज्ञानम्—'सम्यगिदं वस्त्विति ज्ञप्तिः संज्ञानम्' हृदय रूपी मन की सम्यग्रूपेण जानने की शक्ति संज्ञान है।

(आज्ञान),[1] पदार्थों को अलग-अलग करने की शक्ति (विज्ञान)[2] देखे और सुने हुए को तत्काल समझने की शक्ति (प्रज्ञान)[3] ग्रंथों के अर्थ को धारण करने की शक्ति (मेधा)[4], चक्षु द्वारा रूप को उपलब्ध करने की (दृष्टि)[5], धैर्य धारण करने की शक्ति (धृत्ति)[6], मनन करने की शक्ति (मति)[7], मनन करने की स्वतन्त्रता (मनीषा)[8], मन की व्यग्रता (जूति)[9], अनूभूत वस्तु का स्मरण (स्मृति)[10], असमीचीन वस्तु में भी सम्यक् कल्पना (संकल्प)[11], यह अवश्य करणोय है यह अध्यवसाय (ऋतु)[12] प्राणादि जीवनक्रिया निमित्त वृत्ति (असु)[13], असन्निहित विषय की आकांक्षा (काम)[14], स्त्री के संसर्ग की अभिलाषा (वश)[15] ये सभी प्रज्ञान के कर्मानुसारी नाम हैं।

मानव के आन्तर जगत् में मन सर्वाधिक वेगवान् है। परन्तु मन से जवीय

---

१. आज्ञान—'आज्ञानामाज्ञप्तिरीश्वरभावः'। अर्थात् दूसरों पर आज्ञा द्वारा शासन करने की शक्ति आज्ञान है।

२. विज्ञान—'विज्ञानमिदमदस्माद्विशिष्टमित्येवमादिविवेकः' अर्थात् पदार्थों का अलग-अलग विवेचन करने की शक्ति विज्ञान है।

३. प्रज्ञान—'प्रज्ञानं ग्रन्थार्थादावुन्मेषः'। अर्थात् देखे और सुने हुए को तत्काल समझने की शक्ति प्रज्ञान है।

४. मेधा—'मेधाग्रन्थतदर्थधारणा'—अनुभव को अर्थात् ग्रंथों के अर्थ को धारण करने की शक्ति मेधा है।

५. दृष्टि—'दृष्टिर्चक्षुर्द्वारा रूपोपलब्धिहेतुर्मनोवृत्तिः' अर्थात् चक्षु द्वारा रूप को उपलब्ध करने की मनोवृत्ति दृष्टि है।

६. धृतिः—'धृतिर्धैर्यं प्राप्तायामप्यापदि' अर्थात् विपत्ति में धैर्य धारण करने को मनोवृत्ति धृति है।

७. मति—'मतिर्मननम्' अर्थात् मनन करने की शक्ति मति है।

८. मनीषा—'मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम्' अर्थात् मनन करने की स्वतंत्रता मनीषा है।

९. जूति—'जूतिर्जवः' अर्थात् प्राप्त कार्यों में मनन की व्यग्रता जूति है अथवा क्षणभर में कहीं से चले जाने की शक्ति 'जूति' है।

१०. स्मृति—'स्मृतिरनुभूतार्थवस्तुस्मरणम्' अर्थात् अनुभूत वस्तु का स्मरण ही स्मृति है।

११. संकल्प—'संकल्पोऽसमीचीनेऽपि सम्यक्त्वेन कल्पनम्' अर्थात् असमीचीन वस्तु में भी सम्यक् कल्पना संकल्प है।

१२. ऋतु—'ऋतुरवश्यं करिष्यामीत्यध्यवसाय' अर्थात् यह अवश्य करणीय है। इस अध्यवसाय को ऋतु कहते हैं।

१३. असु—'असुः प्राणादिजीवनक्रियानिमित्ता वृत्तिः' अर्थात् प्राणादि जीवनक्रियानिमित्त वृत्ति को असु कहते हैं।

१४. काम—'कामोऽसंनिहितविषयाकांक्षा' अर्थात् असंनिहित विषय की आकांक्षा काम है।

१५. वशः—'वशः स्त्रीव्यति कराभिलाषः' अर्थात् स्त्री सहवास की अभिलाषा वश है।

आत्मा है।[१] इस आत्मा के अस्तित्व के कारण मन मनन करता है। जो मन में रहने वाला है जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो मन के भीतर रहकर मन का नियमन करता है वह अन्तर्यामी अमृत है।[२] केनोपनिषद् के प्रारंभिक मंत्र में यह प्रश्न किया गया है 'किसके द्वारा प्रेरित होकर मन अपने विषय की ओर प्रवृत्त होता है' इससे ज्ञात होता है कि मन स्वयं क्रियाशील नहीं होता अपितु किसी से प्रेरित होकर मनन करता है। वही तत्व मन का भी मन है।' 'मनसो मनः' अर्थात् आत्मतत्व द्वारा प्रेरित होकर मन अपने विषय की ओर उन्मुख होता है। मन को मनन करने और बुद्धि को निश्चय करने की शक्ति देने वाला तथा उन्हें मनन और निश्चय करने में नियुक्त करने वाला जो है वही ब्रह्म है। मन जिसका मनन नहीं करता अपितु जिसके कारण मन मनन करता है।

मूलतत्व से सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव हुआ। 'तन्मनो कुरुतात्मन्वी स्यामिति। ऋग्वेद संहिता के नासदीय सूक्त में 'काम' को मन का रेतस् (सार) माना गया है।

'कामस्तदग्रे समवर्ततताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।'[३]

मन ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी मन से ही कामों की कामना करता है।

'मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीता मनसा हि कामान् कामयते।'

काम संपूर्ण सृष्टि का आधार है। हृदय उसका लोक है और मन उसको ज्योति।[४] सृष्टि के प्रारम्भ में आत्मा ने कामना की, 'सोऽकामयत द्वितीयोमम आत्मा जायेतेति।[५] मेरा दूसरा उत्पन्न हो। उसने मन से वाणी की द्वंद्वभाव से भावना की।[६] इसका तात्पर्य है कि उसने (वाणी, वेदत्रयी में वर्णित सृष्टि क्रम का मन से विचार किया। मनुष्य जो कामना करता है वह संकल्प से सिद्ध होतो है।[७] काम ही सृष्टि का मूल है। अहंभाव मन ही जगत् का बीज है।[८] मन ही सृष्टि

---

१. बृह० उप० १२.१

२. वही, ३.२.७

३. ऋ० १०.१२.१४ 'कामोयज्ञे प्रथमः'। अथर्व० ६.२.१६

४. 'काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिः'—बृह० ३४.३.६.१.४

५. वही। 'सो कामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। सतपो तप्यत। स तपस्तप्त्वा इदः सर्वमसृजत।' तैत्तिरीय उप० २.६.१

६. स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्'''बृह० ३४.१.२.४

७ 'यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति'। छां० उप० ८.२.१०

८. 'अस्मीतिप्रत्ययथादन्तहंकारश्चकथ्यते' योगवाशिष्ठ ६.१२.१८

का स्रष्टा है।[1]

मन ही संसार का मूल है। पुरुष काममय है। काम से प्रेरित हुआ मनुष्य पुण्यपापरूप कर्मों का संचय करता है। मन में काम ऐसे संसक्त रहता है जैसे पुष्प में गंध। यही मनस्थ काम संसरण का कारण है। जो जैसी कामना करता है वह उन कामनाओं के कारण उन-उन स्थानों में जन्म लेता है।

'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।'[2]

जैसी कामना होती है वैसा ही 'ऋतु' संकल्प होता है। जैसा संकल्प होता है वैसा ही कर्म होता है और तदनुरूप फल प्राप्त करता है। काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।[3]

मन ही लिंग है अर्थात् लिंग देह मन-प्रधान है। जीव की काम के अनुरूप ही शुभाशुभ गति होती है कामना करने वाला जीव संसरण करता है। जीव का मन जिसमें आसक्त होता है अर्थात् जिस कर्म को वह फलासक्त होकर करता है उस कर्मफल के साथ ही वह गमन करता है। चित्त की आसक्ति के कारण ही जीव को उस कर्म में उस फल की प्राप्ति होती है। अतः काम हो संसार का मूल है[4], क्योंकि सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यंत यह लिंगदेह ही संसरण करती है। लिंगदेह मन प्रधान है और काम मन में संसक्त रहता है। इसीलिए पुरुष को काममय कहा गया है। परंतु आप्तकाम या निष्काम और शुद्ध पुरुष की सारी कामनायें इस जगत् में ही लीन हो जाती हैं और वह मुक्त हो जाता है। निष्काम होता है— आप्तकाम होने से। अतः जो आप्तकाम होता है वही निष्काम और अकाम होता है।[5] ब्रह्म का यही रूप है। परंतु जो कामना करता है वह संसार बंधन को प्राप्त करता है। सामोपासना में मन को हिंकार[6] और निधन[7] दोनों माना गया। परंतु

---

१. मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः। स्वरूपं सर्वकृत्वं च शक्तित्वं च महात्मनः। मनो यदनुसंधते तदेवाप्नोति तत्क्षणात्। वही ३.९१४, १६ से १८

२. मुं० उप० ३.२.२

३. बृह० उप० ४.४.५

४. वही ४.४.६

५. तदा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपम्। वही ४.३.२१

६. 'मनो हिंकार···।' छां० उप० २.११.१

७. 'मनो निधनम्···।' वही २.७.१

यह कैसे संभव है कि मन हिंकार भी है और निधन भी। मन को हिंकार इसीलिए कहा गया होगा कि मन में स्थित काम ही सृष्टि को प्रवर्तित करता है। मन में इस काम के समाप्त होने पर मनुष्य निष्काम, अकाम और आप्तकाम हो जाता है। वह मोक्ष को प्राप्त करता है इसीलिए मन को निधन कहा गया हो। सामोपासना का प्रारंभ हिंकार से और अन्त निधन से होता है। ऐसे ही मनस्थ काम से जीवन का आरंभ (हिंकार) और आप्तकाम होने से संसरण का अंत (निधन) होता है।

परंतु यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मनस्थ काम संसरण का कारण है तो यह शरीर में कैसे प्रविष्ट होता है ?[1] मन के संकल्प से प्राण शरीर में प्रवेश करता है।[2] मरते समय मनुष्य के मन में उसके कर्मानुरूप जैसा संकल्प होता है वैसा ही शरीर मिलता है। क्योंकि मरणासन्न पुरुष की संपूर्ण इंद्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं। जीवात्मा मन में समाहित हुई इंद्रियों को साथ लेकर उदान-वायु के साथ दूसरे शरीर में चला जाता है।

'पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपाद्यमानैः।'[3]

अंतिम संकल्प के अनुसार जीवात्मा भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनि में संसरण करता है—'यथा संकल्पितं लोकं नयति।'[4]

संकल्प या काम मन से बढ़कर है।[5] संकल्प शक्ति मन का सार है। समस्त संकल्पों का मन एक अयन है।[6] मन का समस्त कार्यकलाप संकल्प-शक्ति पर निर्भर है। शंकर के अभिमत में संकल्प भी अंतःकरण की वृत्ति है। कर्तव्य और अकर्तव्य विषयों का विभागपूर्वक समर्थन ही संकल्प है। जब पुरुष संकल्प करता है कि 'यह करना चाहिए', तभी वह मनस्यन करता है। फिर वाणी को प्रेरित करता है। मन जैसा सोचता है, वाणी वैसा ही अभिव्यक्त करती है। वाणी का संचालक मन है। इसीलिए वाणी से मन को श्रेष्ठ कहा गया।

संकल्प से चित्त श्रेष्ठ है। जिस समय पुरुष चेतनायुक्त होता है तभी संकल्प करता है, फिर मनन कर वाणी को प्रेरित करता है। शंकर के मत में चित्त का

---

१. कथमायात्यस्मिशरीरे···प्रश्न० उप० ३.३.१

२. मनोकृतेनायात्यस्मिशरीरे···वही ३.३.२

३. वही ३.३.९

४. वही ३.३.१०

५. छां० उप० ७.४.१

६. 'समस्त संकल्पानां मन एकायनमेव ··।' बृह० उप० ४.६.१२

अर्थ है चेतीयतृत्तव अर्थात् प्राप्त काल के अनुरूप बोधयुक्त होना तथा भूत और भविष्य के विषयों के प्रयोजन करने में समर्थ होना। पतंजलि के विचार में चित्त शब्द में बुद्धि, अहंकार और मन सब सम्मिलित हैं। चित्त, बुद्धि और अहंकार ये मन की ही विभिन्न अवस्थाएं हैं।

'मनश्च मन्तव्यं, बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च।'[1] चित्त संकल्प का मूल है।

चित्त की अपेक्षा ध्यान उत्कृष्ट है। ध्यान को एकाग्रता भी कहते हैं। शंकर के मत में देवतादि शास्त्र में वर्णित आलंबन में विजातीय वृत्तियों से अविच्छिन्न एक ही वृत्ति के प्रवाह का नाम ध्यान है।[2]

विज्ञान ही ध्यान से श्रेष्ठ है। विज्ञान शास्त्रार्थ-विषयक ज्ञान को कहते हैं। विज्ञान से ही मनुष्य ऋग्वेद को 'यह ऋग्वेद है' इस प्रकार प्रमाण रूप से जानता है। विज्ञान से ही वह विभिन्न ज्ञातव्य विषयों को जानता है।

विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान से मनोबल श्रेष्ठ है। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि 'आत्मा बलहीनेन न लभ्यो'।[3] अन्न के उपयोग से प्राप्त हुए मन की विज्ञेय पदार्थ के प्रतिमान की शक्ति का नाम बल है।

'बलमित्यन्नोपयोगजनितं मनसा विज्ञेये प्रतिमानसामर्थ्यम्'[4]

इसीलिए अन्न ग्रहण न करने पर श्वेतकेतु ने कहा कि मुझे ऋग्वेदादि का प्रतिभान नहीं होता।[5] शरीर में उठने आदि का सामर्थ्य ही बल है। सौ विज्ञानवान् प्राणियों को भी एक ही बलवान् प्राणी इस प्रकार कम्पायमान कर देता है जैसे एकत्रित हुए सौ मनुष्यों को एकमत्त हाथी।[6] यह बल अन्न से प्राप्त होता है। इसीलिए अन्न को बल से उत्कृष्ट कहा गया है।[7]

अन्न मनोबल का कारण है। यदि कोई पुरुष दस रात तक भोजन न करे तो उसका बल क्षीण हो जाता है। तब उसके देखने-सुनने की शक्ति क्षीण हो जाती

---

१. छां० उप० शां० भा० ७.६.१
२. 'विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो।' वही, ७.७.१
३. मु० उप०
४. संकल्पोऽपि मनस्यनवदन्तःकरणवृत्तिः
कर्तव्याकर्तव्यविषय विभागेन समर्थनम्। छां० उप० शां० भा० ७.४.१
५. मु० उप०
६. छां० उप० शां० भा० ७.८.१
७. वही

है। परंतु जब अन्न ग्रहण करता है तब पुनः उसमें देखने, सुनने, मनन करने, जानने, करने का सामर्थ्य-बल आ जाता है।

स्मरण अंतःकरण का धर्म है। मंतव्य विषय का स्मरण करने से मनन होता है। परंतु स्मृति का अभाव होने से न तो मनन कर सकते हैं और न ही जान सकते हैं। जब मनुष्य मंतव्य, विज्ञातव्य अथवा श्रोतव्य विषयों का स्मरण करता है तभी सुन, जान व मनन कर सकता है। अंतःकरण में स्थित हुई आशा से ही मनुष्य स्मरणीय विषय का स्मरण करता है।[1]

सत्य को विशेष रूप से जानना विज्ञान है।[2] जब वह मनन करता है तभी विशेष रूप से जानता है। मति[3] का आधार श्रद्धा है। श्रद्धा[4] का आधार निष्ठा है। श्रद्धा के बिना कोई मनन नहीं कर सकता और बिना निष्ठा के श्रद्धा नहीं हो सकती।[5] इन्द्रिय संयम और चित्त को एकाग्रता कृति है।[6] जब कर्म करता है तो मनुष्य निष्ठा भी करता है।[7] कृति का आधार सुख है। जब सुख मिलता है तभी मनुष्य करता है। भूमा ही सुख है, अल्प में सुख नहीं है।

**'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।'[8]**

सर्वत्र भूमा ही है। उसी भूमा में अहंकारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूं, मैं ही ऊपर हूं, मैं ही पीछे हूं, मैं ही आगे हूं, मैं ही दायीं ओर हूं, मैं ही बायीं ओर हूं और मैं ही यह सब हूं। गीता में श्रीकृष्ण जब 'अहम्' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब वे भूमा पर ही अहंकारादेश करते हैं। परंतु अहंकारी लोग देहादि सङ्घात का ही अहंकार से ग्रहण करते हैं।[9]

मन ही स्वप्नद्रष्टा है। स्वप्न मन का वह अनुभव है जिसमें शरीर का बोध बिल्कुल नहीं रहता। मन देखे हुए पदार्थ को फिर देखता है, सुने हुए को फिर सुनता है और उन वस्तुओं का पुनः उपभोग करता है जिनसे उसे अन्य स्थान तथा देशों का अनुभव हो चुका है। इतना ही नहीं स्वप्न में देखे-अनदेखे, सुने-अनसुने,

---

१. 'ऋगादीनि न वै मा प्रतिभांति भोः' वही ६.७.२

२. छां० उप० शां० भा० ७.१७.१

३. 'मतिर्मननं तर्को' छां० उप० शां० भा० ७.१८.१

४. वही, ७.१९.१ श्रद्दधात्यथमनुते ।

५. वही, ७.२०.१

६. वही, ७.२१.१, कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्रता कारणं ।

७. वही, ७.२३.१

८. वही, ७.२४.१

९. छां० उप० ७.२५.१

अनुभव किये अथवा न किये वास्तविक तथा कृत्रिम इन सबका आनंद ग्रहण करता है।[1] मन सब कुछ होता हुआ सब कुछ देखता है। इसका तात्पर्य यह है कि मन केवल उन विचारों के द्वारा गतिशील नहीं होता जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के फलस्वरूप प्रवाहित होते हैं। परंतु वह स्वयं भी उनकी रचना कर लेता है और स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगता है। जाग्रतावस्था में जो गहन संस्कार मनुष्य की उपचेतना के क्षेत्र में चले जाते हैं उन्हीं का उद्रेक स्वप्न में होता है। अतः जाग्रतावस्था के अनुभूत अनुभवों के द्वारा ही नहीं अपितु अननुभूत अवास्तविक अनुभवों द्वारा भी स्वप्न की संरचना या निर्मिति होती है, जैसे अपनी नाभि में छिपी कस्तूरी की गंध से बौराया मृग भटकता रहता है उसी प्रकार स्वप्न में मन रूपी मृग भ्रमण करता रहता है।

स्वप्नस्थान पुरुष का संध्यास्थान है। उस संध्यास्थान में स्थित रहकर वह इहलोक और परलोक दोनों से संबंधित अवस्थाओं का अनुभव करता है। इहलोक और परलोक की जो संधि है उसमें रहने वाला जो तीसरा संध्यास्थान है वही स्वप्न स्थान है। जो वर्तमान जन्म है वह इहलोक है और शरीरादि के वियोग के पश्चात् अनुभव होने वाला परलोक स्थान है। स्वप्न में मनुष्य वर्तमान जन्म से जाग्रतावस्था के भोगे हुए पदार्थों का तो अनुभव कर सकता है परंतु प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वप्न में परलोक में होने वाले सुख-दुखों का दर्शन या अनुभूति कैसे होती है ? क्योंकि जिनका इस जन्म में अनुभव नहीं होता या हो नहीं सकता। ऐसी बहुत-सी वस्तुएं, पदार्थ और अनुभव स्वप्न में देखता है, वह स्वप्न मन की सर्जना है। मन त्रिकाल का अधिष्ठाता माना गया है।[2] मन के ग्रहण क्षेत्र में वर्तमान, भत और भविष्य तीनों काल हैं। मन दुर्गम है। शरीर में ससीम होते हुए भी वह देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है। शरीर वर्तमान के पिंजरे में आबद्ध रहता है। अतीत में अनुभव किए गए, भोगे गए पदार्थों का मनुष्य मन द्वारा वर्तमान में स्मरण करता है और ऐसा अनुभव करता है मानो वे भुक्त सुख वर्तमान में पुनः उपस्थित हों, न केवल अतीत अपितु भविष्य की घटनाओं का संदर्शन भी मन कर सकता है।

स्वप्न में महान् शक्ति स्फुरित होती है। स्वप्न में न कोई रथ होता है, न अश्व और न मार्ग किंतु मन स्वयं उनकी सर्जना कर लेता है। उस अवस्था में पुत्रादि की प्राप्ति से होने वाले हर्ष, आनंद, मोद और प्रमोद नहीं होते हैं, किंतु वह

---

१. अत्रैव देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति । देशं दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतम् चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च । सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति । वही ४.५

२. 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।' यजुर्वेद ३४.४

आनंद, मोद और प्रमोद की रचना कर लेता है। वहां छोटे-छोटे स्रोत, सरोवर और नदियां नहीं हैं परंतु वह उनकी भी सृष्टि कर लेता है।[१] अतः मन ही स्वप्न की सर्जना करता है।

सुषुप्तावस्था में संपूर्ण इन्द्रिय समूह मन में लीन हो जाता है—'ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति।'[२] वस्तुतः इन्द्रियों को गतिमान करने वाला मन है। मन के द्वारा प्रेरित होकर इन्द्रियां अपने विषयों की ओर प्रवृत्त होती हैं। जाग्रतावस्था में, इन्द्रियां स्थूल शरीर में पूर्ण रूप से क्रियाशील रहती हैं परंतु सुषुप्ति में वे अपने स्रोत मन में लीन हो जाती हैं, जैसे सूर्यास्त के समय स्थूल जगत् से परावर्त होकर सूर्य की किरणें सूर्य के प्रकाशमंडल में पंजीभूत हो जाती हैं और प्रभात में उससे फिर विकीर्ण होने लगती हैं उसी प्रकार सुषुप्ति में समस्त इन्द्रियां अपने आश्रय मन में लीन हो जाती हैं और उठने पर वे पुनः तुरंत बहिर्मुखी होकर आती हैं।[३] अतः 'सुषुप्त्यवस्था' वह स्थिति है जब मनुष्य का मन कुछ समय के लिए 'अस्त' अर्थात् निष्क्रिय हो जाता है। जाग्रतावस्था में मन पुनः क्रियाशील होता है। वस्तुतः सूर्य और मन का अस्त होना एक प्रतीकात्मक रूपक है। क्योंकि सूर्य के अस्त होने का तात्पर्य यह है कि भूमण्डल के एक भाग में रहने वाले लोगों के लिए सूर्य अस्त हो जाता है परंतु पृथ्वी के दूसरे भाग के मनुष्यों के लिए वह उदित हो जाता है। सुषुप्ति में बाह्येन्द्रियां अपने-अपने सांसारिक भोगों से उपरत हो मन में एकीभूत हो जाती हैं। इसीलिए 'स्वपिति' अर्थात् सो रहा है ऐसा कहा जाता है।[४]

परंतु यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि सुषुप्ति में यद्यपि इन्द्रियां तो मन में पंजीभूत हो जाती हैं परंतु मन विलीन होता है या नहीं? पिप्पलाद ऋषि इस प्रश्न का समाधान करते हुए बताते हैं कि सुषुप्ति में मन तेजस् से अभिभूत हो जाता है।[५] तेजस् क्या है? 'तेजो हवा उदान'।[६] उदान वायु ही तेजस् है। अतः

१. न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानंदा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशांताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता।' वही ४.३.१०

२. प्रश्न० उप० ४.२

३. तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। वही

४. 'यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनरु दयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते।' प्रश्न० उप० ४.४.२

५. 'स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैषा देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति।' वही, ४.४.६

६. वही, ३.३.९

सुषुप्ति में मन तेजस् अर्थात् उदान वायु से आक्रांत हो जाता है। उदान वायु मन को जीवात्मा के निवास स्थान हृदय में पहुंचाकर मोहित कर देता है। तब जीव मन के द्वारा स्वप्न की घटनाओं को नहीं देखता और सुषुप्ति के अद्भुत आनंद का अनुभव करता है। इसीलिए सुषुप्ति को 'आनंदमयकोश' कहते हैं। सुषुप्तावस्था में मन का उद्वेग न होने के कारण मनुष्य को कोई दुःख नहीं सहना पड़ता जिससे इसे आनंदमय कहा जाता है।

जिस प्रकार 'श्येन' और 'सुपर्ण' पक्षी आकाश में दूर-दूर तक विहरण कर थक जाने पर श्रम की निवृत्ति के लिए अपने नीड़ का आश्रय लेता है, उसी प्रकार जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं में देहेन्द्रियों के संयोग से होने वाले श्रम की निवृत्ति के लिए सुषुप्ति में सब प्रकार की क्रिया, कारक और फल के श्रम से रहित अपनी आत्मा में जीव प्रवेश करता है। सुषुप्ति में वह न स्वप्न देखता है और न ही किसी भोग की इच्छा करता है। सुषुप्ति जाग्रत और स्वप्न का निलय स्थान है। परंतु प्रश्न उठता है कि सुषुप्ति में यदि जीव आत्मा में प्रविष्ट होता है तो क्या वह मुक्तात्मा की भांति आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है? नहीं, वस्तुतः ऐसा नहीं है। क्योंकि सुषुप्त जीव का अव्याकृत माया के अंशभूत कारण शरीर से संबंध बना रहता है। सुषुप्ति में वह आत्मा के कारण शरीर के साथ प्रवेश करता है। फलस्वरूप मुक्तात्मा की भांति स्वरूपस्थ नहीं होता। दूसरे सुषुप्ति में पक्षी की भांति जीव की श्रम निवृत्ति होती है।[1] यह अनुभवसिद्ध है। सुषुप्ति में पंचमहाभूत और उनकी तन्मात्राएं, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां, मन की मनन शक्ति, बुद्धि और विवेक, अहंकार और उसके विषय, चित्त और उसकी वस्तुएं, ज्योति और उससे संबंधित पदार्थ, प्राण और इनसे धारण किए जाने वाले पदार्थ ऐसे ही विश्राम करते हैं, जैसे दिनभर की थकान से क्लान्त पक्षी नीड़ में जाकर विश्राम करते हैं।[2]

जब मनुष्य गहरी नींद की अवस्था में होता है तो अनान्दातिरेक के कारण किसी प्रकार के स्वप्न नहीं देखता है। उस समय आत्मा नाड़ी में संस्थित रहती है। निद्रा की दो वृत्तियां हैं—दर्शनवृति अर्थात् स्वप्न और अदर्शनवृत्ति अर्थात् गाढ़ सुषुप्ति। जब समस्त इन्द्रियवृत्तियों का उपसंहार हो जाता है तभी सम्यक् रूप से सम्प्रसन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषयों के संपर्क से

---

१. 'तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णोवा विपरिपत्य श्रान्तः संहृत्यपक्षौ संलयायैवध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्माअन्ताय धावति यत्र सुप्तोनकंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति।' बृह० उप० ४.३.१९
'सयथा सोम्य वयांसि वासेवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सवं पर आत्मनि संप्रतिष्ठन्ते।' प्रश्न० उप० १.४.७

२. वही, १.४.८

आनंद, मोद और प्रमोद की रचना कर लेता है। वहां छोटे-छोटे स्रोत, सरोवर और नदियां नहीं हैं परंतु वह उनकी भी सृष्टि कर लेता है।[1] अतः मन ही स्वप्न की सर्जना करता है।

सुषुप्तावस्था में संपूर्ण इन्द्रिय समूह मन में लीन हो जाता है—'ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति।'[2] वस्तुतः इन्द्रियों को गतिमान करने वाला मन है। मन के द्वारा प्रेरित होकर इन्द्रियां अपने विषयों की ओर प्रवृत्त होती हैं। जाग्रतावस्था में, इन्द्रियां स्थूल शरीर में पूर्ण रूप से क्रियाशील रहती हैं परंतु सुषुप्ति में वे अपने स्रोत मन में लीन हो जाती हैं, जैसे सूर्यास्त के समय स्थूल जगत् से परावर्त होकर सूर्य की किरणें सूर्य के प्रकाशमंडल में पुंजीभूत हो जाती हैं और प्रभात में उससे फिर विकीर्ण होने लगती हैं उसी प्रकार सुषुप्ति में समस्त इन्द्रियां अपने आश्रय मन में लीन हो जाती हैं और उठने पर वे पुनः तुरंत बहिर्मुखी होकर आती हैं।[3] अतः 'सुषुप्त्यवस्था' वह स्थिति है जब मनुष्य का मन कुछ समय के लिए 'अस्त' अर्थात् निष्क्रिय हो जाता है। जाग्रतावस्था में मन पुनः क्रियाशील होता है। वस्तुतः सूर्य और मन का अस्त होना एक प्रतीकात्मक रूपक है। क्योंकि सूर्य के अस्त होने का तात्पर्य यह है कि भूमण्डल के एक भाग में रहने वाले लोगों के लिए सूर्य अस्त हो जाता है परंतु पृथ्वी के दूसरे भाग के मनुष्यों के लिए वह उदित हो जाता है। सुषुप्ति में बाह्येन्द्रियां अपने-अपने सांसारिक भोगों से उपरत हो मन में एकीभूत हो जाती हैं। इसीलिए 'स्वपिति' अर्थात् सो रहा है ऐसा कहा जाता है।[4]

परंतु यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि सुषुप्ति में यद्यपि इन्द्रियां तो मन में पुंजीभूत हो जाती हैं परंतु मन विलीन होता है या नहीं? पिप्पलाद ऋषि इस प्रश्न का समाधान करते हुए बताते हैं कि सुषुप्ति में मन तेजस् से अभिभूत हो जाता है।[5] तेजस् क्या है? 'तेजो ह्वा उदान.'।[6] उदान वायु ही तेजस् है। अतः

१. न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानंदा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशांताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता।' वही ४.३.१०

२. प्रश्न० उप० ४.२

३. तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। वही

४. 'यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनरु दयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न श्रृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते।' प्रश्न० उप० ४.४.२

५. 'स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैषा देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति।' वही, ४.४.६

६. वही, ३.३.९

सुषुप्ति में मन तेजस् अर्थात् उदान वायु से आक्रांत हो जाता है। उदान वायु मन को जीवात्मा के निवास स्थान हृदय में पहुंचाकर मोहित कर देता है। तब जीव मन के द्वारा स्वप्न की घटनाओं को नहीं देखता और सुषुप्ति के अद्‌भुत आनंद का अनुभव करता है। इसीलिए सुषुप्ति को 'आनंदमयकोश' कहते हैं। सुषुप्तावस्था में मन का उद्वेग न होने के कारण मनुष्य को कोई दुःख नहीं सहना पड़ता जिससे इसे आनंदमय कहा जाता है।

जिस प्रकार 'श्येन' और 'सुपर्ण' पक्षी आकाश में दूर-दूर तक विहरण कर थक जाने पर श्रम की निवृत्ति के लिए अपने नीड़ का आश्रय लेता है, उसी प्रकार जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं में देहेन्द्रियों के संयोग से होने वाले श्रम की निवृत्ति के लिए सुषुप्ति में सब प्रकार की क्रिया, कारक और फल के श्रम से रहित अपनी आत्मा में जीव प्रवेश करता है। सुषुप्ति में वह न स्वप्न देखता है और न ही किसी भोग की इच्छा करता है। सुषुप्ति जाग्रत और स्वप्न का निलय स्थान है। परंतु प्रश्न उठता है कि सुषुप्ति में यदि जीव आत्मा में प्रविष्ट होता है तो क्या वह मुक्तात्मा की भांति आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है? नहीं, वस्तुतः ऐसा नहीं है। क्योंकि सुषुप्त जीव का अव्याकृत माया के अंशभूत कारण शरीर से संबंध बना रहता है। सुषुप्ति में वह आत्मा के कारण शरीर के साथ प्रवेश करता है। फल-स्वरूप मुक्तात्मा की भांति स्वरूपस्थ नहीं होता। दूसरे सुषुप्ति में पक्षी की भांति जीव को श्रम निवृत्ति होती है।[1] यह अनुभवसिद्ध है। सुषुप्ति में पंचमहाभूत और उनकी तन्मात्राएं, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां, मन की मनन शक्ति, बुद्धि और विवेक, अहंकार और उसके विषय, चित्त और उसकी वस्तुएं, ज्योति और उससे संबंधित पदार्थ, प्राण और इनसे धारण किए जाने वाले पदार्थ ऐसे ही विश्राम करते हैं, जैसे दिनभर की थकान से क्लान्त पक्षी नीड़ में जाकर विश्राम करते हैं।[2]

जब मनुष्य गहरी नींद की अवस्था में होता है तो अनान्दातिरेक के कारण किसी प्रकार के स्वप्न नहीं देखता है। उस समय आत्मा नाड़ी में संस्थित रहती है। निद्रा की दो वृत्तियां हैं—दर्शनवृति अर्थात् स्वप्न और अदर्शनवृत्ति अर्थात् गाढ़ सुषुप्ति। जब समस्त इन्द्रियवृत्तियों का उपसंहार हो जाता है तभी सम्यक् रूप से सम्प्रसन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषयों के संपर्क से

---

१. 'तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णोवा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्यपक्षौ संलयायैवध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्माअन्ताय धावति यत्र सुप्तोनकंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति।' बृह० उप० ४.३.१९
'सयथा सोम्य वयांसि वासेवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठन्ते।' प्रश्न० उप० १.४.७

२. वही, १.४.८

प्राप्त हुए दोषों एवं मलिनताओं को वह अनुभव नहीं करता। तब वह सुषुप्ति में स्वप्न नहीं देखता और द्वारभूत नाड़ियों से हृदयाकाश में पहुंचता है। तब उसे पाप स्पर्श नहीं करता। उस समय वह तेज से व्याप्त हो जाता है।[1]

जब मनुष्य सुषुप्त होता है, जिस समय वह किसी के विषय में कुछ भी नहीं जानता, उस समय हिता नाम की जो बहत्तर हजार नाड़ियां हृदय से संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्थित हैं उनके द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह शरीर में व्याप्त होकर शयन करता है। ये बहत्तर हजार नाड़ियां पीपल के पत्ते की नसों की भांति हृदय से पुरीतत् की ओर जाती हैं। मन इन नाड़ियों से होकर पुरीतत् की ओर जाता है तथा उससे पुरीतत् में निवास ग्रहण कर लेने पर ही सुषुप्ति की उत्पत्ति होती है।[2]

सुषुप्ति अर्थात् स्वप्नान्त कब होती है जब मनुष्य 'स्वपिति' अर्थात् सोता है। उस समय प्राणी, मन में प्रविष्ट हुआ मनादि के संसर्ग से प्राप्त हुए जीव रूप को त्यागकर अपने सद्रूप अर्थात् परमार्थ सत्य रूप को प्राप्त हो जाता है। तभी जीव 'स्वपिति' अर्थात् अपनी आत्मा को प्राप्त हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। जाग्रतावस्था में वाक् और चक्षु थक जाते हैं।[3] परंतु सुषुप्ति में वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन गृहीत हो जाते हैं।[4] केवल प्राण अश्रान्त रहता है। जिस प्रकार डोरी में बंधा हुआ पक्षी[5] दिशा-विदिशा में उड़कर विश्राम करने के लिए अन्यत्र स्थान न मिलने पर अपने बंधन स्थान का ही अवलंबन लेता है। उसी प्रकार 'तन्मनः' अर्थात् अन्नमय मन संज्ञक उपाधिवाला जीव, जाग्रत और स्वप्नावस्था में सुखदुःखादि भोगते हुए दिशा-विदिशा में उड़कर अर्थात् अनुभव कर कहीं विश्राम प्राप्त न कर वह अपने बंधन प्राण का ही आश्रय ग्रहण करता है। अतः स्वप्नान्त में मन प्राणबंधन वाला है। इससे एक और तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मन स्वतंत्र नहीं है। डोरी में बंधे हुए पक्षी की भांति वह डोरी की लंबाई से निर्दिष्ट क्षेत्र की सीमित परिधि में ही उड़ सकता है। उसके आगे विचरण करने में असमर्थ

---

१. तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तंन-कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नोभवति। छां०उ० ८.६.३

२. 'अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम ना यो द्वासप्ततिः सहस्रसाणि-हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते नाभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो……।' बृह० उप० २.१.१९

३. 'श्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यतिश्रोत्रम्…' वही, १.५.२१

४. 'गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोतं गृहीतं मनः।' वही, २.१.१७

५. 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबुद्धो दिशंदिशं पतित्वान्यत्रायत्तनमलब्ध्वा बन्धनमेवापश्रयत एवमेव खलु सोम्यं तन्मनो दिशंदिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवापश्रयते प्राण बन्धनं हि सोम्य मन इति।' छां० उप० ६.८.१.२

है। अतः मन भी परतंत्र है। उसकी स्वतंत्रता डोरी में बंधे हुए पक्षी की स्वतंत्रता से अधिक नहीं है।

सुषुप्ति में पांच प्राण रूपी अग्नियां जागती रहती हैं। निद्रा रूपी यज्ञ की पांच अग्नियां ही पांच प्राण हैं। ऊर्ध्वश्वास और अधोश्वास—ये दोनों अग्निहोत्र की दो आहुतियां हैं। समान (प्राण) इनको समभाव से पहुंचाता है, वही इस यज्ञ का ऋत्विक् है। मन यजमान है। उदान वायु ही इस यज्ञ का इष्टफल है। यह उदान ही इस मन रूपी यजमान को प्रतिदिन ब्रह्मलोक में ले जाता है।[1] जिस प्रकार अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने वाले यजमान को उसका अभीष्ट फल उसे अपनी ओर आकर्षित कर कर्मफल भुगताने के लिए कर्मों के अनुरूप पुण्यलोक में ले जाता है, उसी प्रकार यह उदानवायु मन को प्रतिदिन निद्रा के समय ब्रह्मलोक में ले जाता है।

छांदोग्योपनिषद्[2] में भी वर्णित है कि 'जब मनुष्य सोता है तब वह सत् से सम्पन्न हो जाता है। वह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए उसे 'स्वपिति' कहते हैं। क्योंकि वह उस समय स्व—अपने को ही अपीत—प्राप्त हो जाता है। स्वप्नांत शब्द का तात्पर्य सुषुप्त से ही है। क्योंकि जब मनुष्य स्वप्न देखता है तब सुख-दुःख को भोगता है। परंतु सुषुप्ति में वह पुण्य और पाप से असंबद्ध तथा हृदय के सभी शोकों को पार किए हुए होता है।[3] 'इसका वह यह रूप अतिछन्दा[4] (काम, धर्माधर्म तथा अविद्या से रहित) है।' 'यह परमानंद है।[5] सुषुप्ति में ही जीवभाव से रहित अपने देवतास्वरूप को दिखाऊंगा', ऐसा आरुणि ने कहा। स्वप्नांत कब होता है ?[6] जिस समय सोने वाले पुरुष का 'स्वपिति' ऐसा नाम होता है। संसार में तो 'स्वपिति' अर्थात् सोता है, ऐसा व्यवहार प्रचलित है परंतु जब यह कहा जाता है कि यह पुरुष 'स्वपिति' है तब इसका तात्पर्य यह होता है कि सत् शब्द से वाच्य तत्व मन में प्रविष्ट हुआ मन आदि के संसर्ग से प्राप्त हुए जीव रूप को छोड़कर अपने सत् रूप को, जो कि परमार्थ सत्य है उसे प्राप्त हो जाता है। स्वपिति का अर्थ है—'स्वम्'—आत्मा को 'अपीत' प्राप्त हुआ। सुषुप्ति

---

१. 'मनो हवाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानं अहरहर्ब्रह्म गमयति।' प्र० उप० ४.४

२. वही

३. 'अनन्वागतं पुण्येननानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वांछोकांहृदयस्य भवति।' बृ० उप० ४.३.२२

४. 'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दाः। वही, ४.३.२१

५. "एषः परमानन्दः" वही, ४.३.३३

६. 'सुषुप्त एव स्वप्नान्तशब्दवाच्य इत्यवगम्यते।' बृह० उप० शां० भा० १.८

जाग्रतावस्था के श्रम के कारण होती है। सुषुप्ति में इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों से निवृत्ति हो जाती है। जाग्रतावस्था में कार्य करने से वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि क्लान्त हो जात हैं[1] परंतु सुषुप्ति में वाणी, श्रोत्र ओर मन गृहीत हो जाते हैं।[2] जीव श्रमभिवृत्ति के लिए अपने स्वाभाविक देवता रूप को प्राप्त करता है।

सुषुप्त्यवस्था के उपर्युक्त संदर्भों से एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि औप-निषद्युगीन मानव प्रतिदिन प्रगाढ़ निद्रा के सुख को भोगता था, क्योंकि मन रूप यजमान प्रतिदिन ब्रह्म के यहां जाता है, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। परंतु भौतिकतावाद के इस युग में मानव इस सुख से प्राय: वंचित है। निद्रा प्राप्ति होना ही कठिन है तो सुषुप्ति का सुख कहां? आज वह अपने स्नायुतंत्र को शांत करने के लिए अनेकानेक प्रकार के नशीले एवं मादक-द्रव्यों का प्रयोग करने पर बाध्य है।

संपूर्ण शरीर को वशीभूत करने वाला मन लगाम है। परमात्मा ने शरीर रूप रथ में इन्द्रिय रूपी बल संपन्न अश्त्रों को जोत दिया। उसमें मन रूप लगाम लगाकर बुद्धि रूपी सारथी को सौंप दिया।[3] जीवात्मा को देहरूपी रथ में बैठाकर आत्मा इन्द्रिय तथा मन से युक्त होकर ही भोक्ता है।

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनषिण:।'[4]

इस शरीर रूप रथ का संचालन इन्द्रिय रूपी अश्व ही करते हैं।[5] इन्द्रियां स्वभावत: वाह्यमुखी हैं। क्योंकि स्वयम्भू परमात्मा ने उन्हें ऐसा बनाया है।[6] ये इन्द्रिय रूपी दुर्धर्ष अश्व स्वाभाविक रूप से सांसारिक विषयों की ओर दौड़ते रहते हैं। यदि सारथी अविवेकशील होगा और मन रूपी लगाम को ढीला छोड़ देगा तो दुष्ट इन्द्रियरूप घोड़े उसके वश में नहीं रहेंगे। फलस्वरूप रथी और सारथी समेत उस शरीर रूप रथ को विनाश के गर्त में ढकेल देंगे।[7] परंतु यदि सारथी विवेकशील होगा तब मन को लगाम द्वारा इन्द्रिय रूपी अश्वों को खींचकर सन्मार्ग पर ले

---

१. वही, १.५.२१
२. वही, २.१.२७
३. आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मन: प्रग्रहमेव च। कठ० उप० १.३.१
४. वही, १.३.४
५. इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। वही
६. 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।' वही, १.२.१
७. यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे। वही, १.३.५.७

जायेगा। फलस्वरूप शरीर रूपी रथ अपने गंतव्य पर पहुंच जाएगा।[1] अतः जो कुशल सारथी और मन को वश में रखने वाला है, वही अमरत्व को प्राप्त करता है।

'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णो'[2]

जैसे जुए की दृढ़ता के लिए उसे रस्सी से बांधते हैं, वैसे ही मन को कठोरता से संयमित किया जा सकता है। मन की चंचलता विनाश की ओर ले जाती है। मन को नियंत्रित करने से ही वह सन्मार्ग पर आता है। मानव जीवन की सुरक्षा मनोनिग्रह से है और विनाश मानसिक चंचलता से आत्मतत्व मनोनिग्रह से ही प्राप्त किया जाता है।[3] मन जब इन्द्रियों के साथ संसक्त रहता है तब सांसारिक विषयों को भोगता है। परंतु जब मन संयमित होता है तभी आत्मोन्मुख होता है।

मन वायु की तरह गतिमान् और चंचल है। इसीलिए मन को सर्वप्रथम संयमित करना चाहिए। 'युंजानः प्रथमं मनः।'[4] परंतु प्रश्न उठता है कि मन को संयमित कैसे करें? प्राणायाम के द्वारा मन को वैसे ही वश में किया जा सकता है जैसे दुष्ट घोड़ों से जुते हुए रथ को सारथी संयमित करता है।[5] दूसरे आहार शुद्धि से भी सत्व अंतःकरण[6] की शुद्धि होती है।[7] प्रत्येक प्राणी में जो मन रूपी ज्योति है उसी का नाम सत्व है। जो व्यक्ति बहुत भोजन करता है, जो बिल्कुल भोजन नहीं करता उसका मन संयमित नहीं होता।[8] इसके विपरीत युक्त आहार-विहार करने वाले का मन नियंत्रित होता है।[9] भोजन के गुण ही मानसिक गुणों के आधार हैं। मानसिक वृत्तियां, सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार की होती हैं। ये वृत्तियां भी सात्विक, राजसिक, तामसिक भोजन का ही परिणाम हैं।

---

१. वही

२. वही, १.३.९

३. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। वही, २.४.११

—'यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम्

एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्टतातये। ऋग्वेद १०.६०.८

४. श्वे० उप० १.२.१

५. प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणेनासिक्योच्छसीत। दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः। वही, २.२.९

६. आहारशुद्धौ सत्यां वद्धतोऽन्तः करणस्य सत्वस्य शुद्धिः। छां० उप० शां० भा० ७.२६.२

७. आहारशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः''' । वही, ७.१७.८

८. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। गीता ६.१६

९. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। वही, ६.१७

इसीलिए लोक में यह कहावत प्रचलित है कि 'जैसा खाए अन्न वैसा बने मन'। यदि भोजन-आहार पवित्र हो तो अन्तःकरण भी हो जाता है। सत्व शुद्धिः अर्थात् मन शुद्धि से ध्रुवा स्मृति होती है और तदुपरांत समस्त ग्रंथियों की निवृत्ति हो जाती है।

जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, समस्त इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर उनका मन में निरोध हो जाता है तब प्रणव रूपी नौका से समस्त भयावह स्रोतों को पार[1] कर लेता है। अपने शरीर को अरणि बनाकर प्रणव को उत्तर अरणि बनाकर ओंकर का वाणी से जाप करने से और मन द्वारा उसका निरंतर चिंतन करने से परमात्मत्व का बोध होता है।

'ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देव पश्येग्निगूढवत् ?'[2]

अतः ध्यान का निरंतर अभ्यास करने से मनोनिग्रह होता है ? इस प्रकार परमतत्व का मन से ध्यान करते हुए प्रमादरहित होकर स्तुति करनी चाहिए।[3] परमेश्वर का वाचक प्रणव ही धनुष है, जीवात्मा बाण है और परमतत्व ब्रह्म उसका लक्ष्य है। जैसे बाण धनुष से छूटने पर अपने लक्ष्य को बेध देता है, उसी प्रकार जीव को प्रमाद रहित होकर उसे बींधना चाहिए। अर्थात् तीर की भांति जीव को तन्मय अर्थात् ब्रह्ममय हो जाना चाहिए।

'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।'[4]

उस परमात्मा में सब प्राणों के सहित मन ओत-प्रोत है। 'ओतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।'[5] ओम् के द्वारा ध्यान करने से मनोनिग्रह संभव है। 'ओमित्येवं ध्यायय आत्मना।'[6] अतः प्रणवोपासना द्वारा, प्राणायाम द्वारा मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है अथवा

'अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः।'[7]

---

१. श्वे० उप० २.२.८
२. श्वे० उप० १.२.१४
३. 'मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत।' छां० उप० २.२२.२
४. मुण्डकोपनिषद् २.२.४
५. वही, २.२.५
६. वही, २.२.६
७. श्वे० उप० २.२.६

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि मन उत्पन्न होने का क्या तात्पर्य है? मन की दो वृत्तियां हैं—एक बाह्यमुखी और दूसरी अन्तर्मुखी। मन जब बाह्यमुखी होता है तो इन्द्रियों में संसक्त हुआ सांसारिक विषयों को भोगता है परंतु जब मन प्राणायाम और प्रणवोपासना द्वारा पवित्र होता है तो उसकी बाह्य वृत्ति निरुद्ध हो जाती है और मन निगृहीत होने से अन्तर्मुखी हो जाता है। इसी पवित्र हुए मन से परमेश्वर का ध्यान संभव है। स्फटिक की भांति पवित्र निर्मल मन से परमात्मा का साक्षात्कार संभव है। इसीलिए संभवतः ऋषि ने कल्पना की है कि 'तत्र संजायते मनः' तब पवित्र मन उत्पन्न होता है, जिसमें परमतत्व का साक्षात्कार संभव है।

'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।'[1]

अर्थात् शुद्ध पवित्र मन से परमात्मतत्व प्राप्त किया जाता है। जब मन के सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियां सम्यक् रूप से स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती वही परमगति है।

'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।'[2]

इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा होने पर ही मनुष्य अप्रमत्त हो जाता है। जब संपूर्ण कामनाएं पुरुष हृदय से समूल नष्ट हो जाती हैं तभी वह मरणधर्मा अमर हो जाता है।[3]

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।'[4]

---

१. कठ० उप० २.१.११

२. वही, २.३.१०

३. 'तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।' वही, २.३.११

४. वही, २.३.१४

# अग्निहोत्रकर्मणः हेतुत्वनिरूपणम्

—डॉ० लक्ष्मीश्वरझा

पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकादीनां तत्रस्थितानां पदार्थानाञ्च सत्ता अग्निहोत्रेणैव सम्भवति। यथा सूर्ये ब्रह्मणस्पतिनामकस्य सोमस्याहुतिः निरन्तरं सम्पतति तया हुत्यैव सूर्यस्य सत्ता तथैवेतेषां लोकानामप्यग्निहोत्रेणेति "अग्नौ सोमाहुतिरेवाग्निहोत्रम्"[1] इति वचनात् सततं सूर्ये अग्निहोत्रं हूयते। अतएवोक्तम्—सूर्यो वाग्निहोत्रम्।[2] सर्वप्रथमं सोमाहुत्या सूर्यपिण्डः समुत्पन्नो भवति तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रमिति श्रुतिमुदाहरति। प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्येति नियमात् यथा प्रकृतौ यज्ञः स्तायते तथैवेहाग्निहोतृभिः सायं प्रातः समिद्धाग्नौ अग्निसूर्यप्रजापतिभ्यः पयसा घृतेन वा हूयते।[3] अस्यैवाग्निहोत्रकर्मणः व्युत्पत्तिप्रदर्शनाय भगवान् याज्ञवल्क्यः लिखति--सायमस्तमिते सूर्ये अग्नये स्वाहा, प्रजापतयेस्वाहेति आहुतिभ्यामग्नौ हुते सति, सायं अयं सूर्यः अग्नौ प्रविशति इति बोधः सञ्जायते।[4] तथैव प्रातः अग्निः सूर्ये प्रविशति इत्यस्यान्वयो भवति। अयमभिप्रायः—अयमेव सूर्यः यदा पिण्डे, पृथिव्यां, जीवे च प्रविशति तदा तत्तद्पिण्डानां जीवानाञ्च उत्पत्तिः स्थितिः विनाशश्च सम्भवन्ति। एवं यदा चाग्निः सूर्ये प्रविशति तदाऽसौ तपति। अतएव नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता[5] इति श्रुतिरूद्घोषयति। तस्मात् सूर्यो वाग्निहोत्रमित्युक्तम्।

अस्तमितः सूर्यः पार्थिवाग्नेः योनौ गर्भितो भूत्वा प्रविश्यतिष्ठति एवं गर्भस्थितः सूर्यः प्रजाः समस्ताः सृजति। अतएव ज्ञानविशिष्टं (सूर्यं) सम्प्राप्य महता हर्षेण रात्रौ प्रजाः स्वपन्ति। रात्रिवपि गर्भस्थितं सूर्यं लोकेभ्यः तिरोहति गर्भस्यभावात्। यथा रात्रौ सूर्यः गर्भस्थो भवति तथैव सूर्येण निर्मितः पार्थिवप्राणमयः प्राणिनामात्मा पुरीतत् नाम्नीं नाडीं गत्वा पार्थिवप्राणेषु गर्भस्थो भवति।[6] यथा सूर्यस्य गर्भस्थितस्यावस्था तथैव तन्निमित्तस्य प्राणस्यापि भवति।

कथमयं गर्भः अनशनन् जीवति इत्यस्य हेतुं निर्दिशति—यः सायं अस्तमिते जुहोति सः सूर्यगर्भीभूतेऽग्नौ जुहोति। अनयाऽहुत्या सूर्यं स्वात्माभिमुख्यमाकर्षयन्

---

१. श०ब्रा०—द्वितीयकाण्डे-अग्निहोत्रब्राह्मणे—पृ० २३३

२ तदेव—२.३.१.१

३. अस्तमिते--जुहोति, प्रातर्जुहोत्यनुदिते—का०श्रौ०सू०—४.१४.६१, १.१५.१

४. अग्नि वाव आदित्यः सायं प्रविशति—तै०ब्रा०—२.१.३.९

५. ऋग्वेदे – ३.६३.४

६. अथ यद् रात्रिः, तिर एवैतत्करोति तिर इव हि गर्भा—श०ब्रा०—२.३.१ ३

तेन सम्बद्धयते, अपरेद्युश्च पुनः सूर्योदयाय बलं प्रयच्छति। यथा पार्थिवाग्ना-वाहुतिप्रदानेन अग्निगर्भस्थं सूर्यमेव पुष्णाति तथैव मातृगर्भस्थः शिशुः मातृभोज-नेनात्मानं परिपुष्टयति। एवं साक्षात् भोजनं विनापिशिशुः मातृशरीरस्यरसेन जीवन् शनैः शनैरनुदिनं वर्धमानः पूर्णे गर्भे एकदा गर्भाद्वहिरागच्छति। एवं पृथिवी गर्भे सूर्यः रात्रावास्थाय अग्निहोत्रस्याहुत्या आत्मरसेन तं परिपोषयन्ती प्रातरूदयाय गर्भं प्रसस्तयति विस्तारयति च। सूर्योऽपि दिने अग्निमात्मगर्भस्थं कृत्वाऽऽत्मरसेन परितोषयन् सायमुदयाय प्रेरयति। इत्थं सूर्यश्च पृथिवी च परस्परं प्रतिदिनं अन्योऽन्यं परिपोषयतः तस्मादिह जगतीतले सर्वे जीवाः कृमिकीटपशु-पक्षीमनुष्यप्रभृतयः लतागुल्मवृक्षवनस्पतयः औषधयश्च गर्भे स्थित्वाऽऽत्मानं परि-पुष्य यथाकाले उत्पद्यन्ते। उत्पद्य च सूर्यचन्द्रवायवग्नि-जलादिभ्यश्च शरीरपिण्डं परिपोषयति स्वगर्भस्थं शुक्रशोणितं परिरक्षति। अयं क्रमः अनादिकालादेवप्रवहति। तस्मादनया हुत्या जगदिदमपि तदेव तथैव च प्रसरति। इदमेव रहस्यमुद्घाटयति अग्निहोत्रमिति न तिरोहितं विपश्चिताम्।[1]

सायं होमेन गर्भवृद्धिः, प्रातर्होमेन च सूर्योदयो भवति इत्यस्य कारणं निर्दिशन् कथयति याज्ञवल्क्यः—सूर्योदयात् पूर्वं यः जुहोति सूर्यमेव जनयति। प्रातः-कालीनामाहुतिं गृहीत्वा सूर्यवलवत्तरो भूत्वा उदेति। यदि प्रातराहुतिर्न स्यात् सूर्य एव नोदयात्तस्मात् प्रातर्जुहोति।[2] अत्रैव विज्ञानमुदाहरति—सर्वा हि प्रजाः सूर्यादेव प्रसूयन्ते अग्निहोत्रकर्मणा स्थीयन्ते च। अतः सूर्याय हुते सति भगवान् सूर्यो प्रसन्नो भवति, तथा च होतृभ्यः सर्वान् कामान् पूरयति। इत्थं जगदिदं सुस्थिरं तिष्ठतु स्थित्वा च वर्धयतु तस्मादस्ति प्रयोजनमग्निहोत्रस्य।

सूर्यस्य रश्मय एव विश्वेदेवाः[3]। प्रकाशमानोऽयं सूर्यपिण्ड एव प्रजापतिः। सः एवेन्द्रनाम्ना प्रसिद्धः। योऽग्निहोत्रेण जुहोति तस्य ग्रहे विश्वेदेवाः सर्वे प्राणाः गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डेषु समाश्रिताः भवन्ति। तस्मात् सूर्यास्तात् पूर्वमेव आहवनीयकुण्डस्य भस्मस्योद्धरणं कर्तव्यं येन पुनः विश्वेदेवाः साधुतया समाश्रिताः भवेयुः अन्यथा अग्निहोत्रं ऋद्धिशून्यमभिविष्यति। अयमाशयः संस्कृतवस्तुष्वेव शक्तिः तिष्ठति। यथा स्वच्छादर्शे मुखस्य प्रतिबिम्बमालोक्यते तथैव स्वच्छवस्तुषु सूर्यकिरणाः प्रविशन्ति प्रविश्य च तेषु तेषु वस्तुषु प्राणान् सञ्चारयन्ति, येन तस्य वस्तुनः आत्मा सुस्थिरस्तिष्ठति।[4] सति सूर्ये उद्धरणानन्तरं विश्वेदेवाः यजमान-

१. श०ब्रा०—२.३.१.४
२. तदेव—२.३.१.५
३. चित्रं देवानामुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्यवरुणस्याग्नेः।
आप्ताद्यावापृथिव्यन्तरिक्षꣳ सूर्यात्मा जगतस्थुषश्च ॥ वा०सं०—७.४२
४. श०ब्रा०—२.३.१.७

स्याहवनीयकुण्डे आविशन्ति। येन आहवनीयाग्निः समृद्धो भवति। सूर्यास्ते सति तस्मिन्नग्नौ यदि जुहोति तदा विश्वेदेवाः प्रीताः भवन्ति। तेषामाहुतीः गृह्णन्ति। एवं प्रातरपि तथैव विश्वेभ्यो देवेभ्यो जुहोति, सूर्योदयानन्तरं विश्वेदेवाः अग्निकुण्डान्निःसृत्यादित्यमण्डले प्रविशन्ति। तस्मात् सूर्योदयात् पूर्वमेवाग्निहोत्रं होतव्यमिति आसुरीमतम्।[१]

कथं गोदुग्धेनाग्निहोत्रं होतव्यमित्यत्र हेतुं निर्दशति। तत्रान्नं द्विविधं मूलममूलञ्चेति। भूमिसकाशादुत्पन्नाः ओषधि-वनस्पतयः 'मूलान्नं' कथ्यते, पशुभ्यः गवादिप्रभृतिभ्यः लभ्यमानमन्नममूलम्। उभेऽप्यन्ने देवानाम्। सूर्यरश्मय उभयोरन्नयोः भक्षणं कुर्वन्ति। अन्नमिदं न केवलं देवानामपितु मनुष्याणामपि। अनेनैव मनुष्या अपि जीवनं निर्वहन्ति। अमूलाः पशवः मूलमन्नं तृणादिकं भुक्त्वा जलं च पीत्वा जीवन्ति। तृणान्येव दुग्धरूपे परिवर्तयन्ति। अतएव दुग्धं मूलममूलञ्चेति उभयविधम्। तस्मात्तेनैव पयसा प्रथमाहुतिः हूयते।[२]

जीवनाधायकमन्नं देवेभ्यः सर्वप्रथमं निवेद्य ततः यजमानाः स्वयमश्नन्ति। यज्ञोच्छिष्टभोजिनः देवान् सन्तर्प्यैवाश्नन्ति। अतः तेभ्यः देवाः सदैवानुकम्पमानाः भवन्ति। अग्निहोत्रकर्मेतराः यज्ञाः कालेन परिसमाप्यमानाः भवन्ति। परन्तु "अग्निहोत्रस्य न कदापि परिसमाप्तिर्भवति। अहर्निशं आदित्ये पृथिव्याग्नेः अन्तरिक्षाग्नेश्चाहुती प्रदीयेते, पृथिव्याञ्चादित्याग्नेः अन्तरिक्षाग्नेश्च। अथ च, अन्तरिक्षाग्नौ पृथिव्याग्नेः आदित्याग्नेश्चाहुतयः हूयन्ते। अयं क्रमः कदापि न विरमति। अनेनैव वैश्वानराग्नेरुत्पत्तिः विकासः च भवतः। अतएव वाजसनेयसंहितायां मंत्राः आम्नाताः—सजूर्देवेन सवित्रा, सजूरात्रेन्द्रदेवत्या[३] अग्निहोत्रिणः सायं हुत्वा पुनः प्रातः जुह्वतीति एतत्कर्म सुतरां नैरन्तर्यं भजते। अनेनैव कर्मणा सर्वज्ञहिरण्यगर्भ-विराट्पुरुषामुत्पत्तिः। इयं पृथिवी अयञ्च सूर्यः परस्परं अन्योन्यं हुत्वा जीवयन् सुस्थिरो भवति, अन्योऽन्यं वर्धयति च। तस्मात् नेदं कर्म समाप्तिं याति। अतएवोक्तम्—सायं हि हुत्वा वेद प्रातर्होष्यामिति। प्रातर्हुत्वा वेद पुनः सायं होष्यामीति।[४]

अस्याग्निहोत्रकर्मणः नैरन्तर्यादेव लोके प्रजाः प्रजायन्ते, अन्नानि फलमूलानि जायन्ते। जलानि वर्षन्ति, प्राणाः सञ्चरन्ति। स्वयम्भूपरमेष्ठ्यादित्यपृथिव्यन्तरिक्षलोकाश्च परस्परमाबद्धाः सन्तिष्ठन्ते, तेषां परस्परमादानप्रदानाच्च

१. तदेव—२.३.१.९
२. तदेव—२.३.१.१०
३. शु०य०सं०—३-१०
४. श०ब्रा०—२.३.१.१३

जीवाः जीवन्ति, तस्मान्नित्यं हि अग्निहोत्रकर्म। आविवाहात् वानप्रस्थपर्यन्तं साध्यते।

अत्युष्णदुग्धेन अग्निहोत्रं न होतव्यमित्यस्य कारणमुच्यते—दुग्धमधिश्रृत्यैव होतव्यम्। अधिश्रयणात् दुग्धस्य वीर्यं पक्वं भवति। पक्ववीर्यमेव प्रजनने समर्थं भवति। अधिकाधिश्रयणात् दुग्धस्य वीर्यं दग्धं भवति येन प्रजननशक्तिः विनश्यति तस्मादिषदुष्णेन दुग्धेनाग्निहोत्रं होत्तव्यम्।[1]

दुग्धमधिश्रयणानन्तरमापः प्रत्यानयति, येन दुग्धं शान्तं भवति। अथ चाधिश्रयणात् दुग्धरसे यन्न्यूनत्वमायाति तस्य पूर्तिर्भवति। लोकेऽपि यथा जल-वर्षणात् औषधिफलमूलान्युत्पद्यन्ते तथैव दुग्धे जलप्रत्यानयनात् प्रजननशक्तेर्विकासो भवति। अस्माकं शरीरेऽपि यदा वयमन्नानि भक्ष्यामः जलानि च पीबामः तदा रसोत्पद्यते, तेन च रक्तमज्जामांसमेदास्थिशुक्रानामुत्पत्तिः भवति। अतएव दुग्ध-रसस्य परिपूर्णतायै जलेनासिञ्चनं कर्तव्यम्। लोकेऽपि दुग्धेस्तोकं जलमासिञ्च्यैव पिबेत्।[2]

दुग्धाधिश्रयणकाले दुग्धं चतुर्भिरुन्नयति।[3] पृथिव्यन्तरिक्षादित्यपरमेष्ठि-मण्डलानां सारभूतो रस अस्मिन् पयसि सम्मिलितो भवति, तस्मादुक्तम्– "चतुर्धा विहितं हीदं पयः।[4] अतएव चतुर्भिरुन्नयति पयः। वैकङ्कत स्रुचौ चतुर्भिरुन्नीतं पयः गार्हपत्यस्थानात् आहवनीयमानीयते। एवं प्रज्वलिते अग्नावाहुतिप्रदानात् यज्ञोऽपि समृद्धो भवति। अग्निहोत्री अहवनीयस्थले होमीयद्रव्यं न स्थापयन् अपितु हस्ते धारयन्नग्नौ होतव्यम्। यद्युपवेशयन् जुहोति तदा तस्यार्थं एवम्भविष्यति यद्कस्मैचिद् भोजनमाहरन् तद्भोज्यवस्तुं भोक्तृपुरुषाय न दत्वा मध्ये कुत्रचित् निक्षिपति। अतः यदि प्रथमाहुतिः स्थले न स्थापयन् आहवनीयाग्नौ हूयते तदा तस्यार्थं एवं भविष्यति भोक्तृपुरुषाय भोजनं दत्त्वा ततः भूमावशिष्टं निक्षिपति। तस्मात् प्रथमाहुतिमग्नौ हुत्वा तदनन्तरं हुतावशेषं भूमौ स्थापयेत्। परन्तु द्वितीया-ऽऽहुतिः प्रथमं भूमौ संस्थाप्य तदनन्तरं होतव्या। एवं हुतौ सति नानासामर्थ्ययुक्ता आहुतयः क्रियन्ते उभावाप्याहुती मनोवाग् रूपे भवतः। अनयाहुत्या भिन्न-भिन्न-रीत्याऽऽहुतिप्रदानात् वाङ्मनसयोः पृथकत्वमास्थाप्यते। उभयोः यद् भिन्नं-भिन्नं यज्ञसाधनरूपं मनोवागात्मकस्वरूपं तदनयारीत्या प्रकाशते।

---

१. तदेव—२.३.१.१४; पूर्वेणाहवनीयमाहृत्य गार्हपत्येऽधिश्रयति, उत्तरतो निरूह्याङ्गारम्—का०श्रौ०सू०—४.३.१६

२. तदेव—२.३.१.१६

३. चतुरः स्रुवानुन्नयति—का०श्रौ०सू० ४.३.२४

४. श०ब्रा०—२.३.१.१७

अत्र याज्ञवल्क्यः "उन्नीयोपसादयति, पृथिवीमेव प्रीणयति। होष्यन्नुपसादयति अन्तरिक्षमेव प्रीणयति हुत्वोपसादयति दिवमेव प्रीणयेति" (तै०ब्रा०—२-१.५.६) इत्युपवेशयन्माहुतिप्रदानस्य तैत्तिरीयब्राह्मणमतं—खण्डयति।[१]

अग्निहोत्री द्वाभ्यां (अग्नये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा) आहुतिभ्यामग्नौ यजति। वारद्वयं स्रुवावशिष्टं दुग्धं गार्हपत्यग्निकुण्डसमीपस्थं दुग्धकलशे निक्षिपति। वारद्वयं लेह्यति, चतुर्भिरुन्नयति। एवं चतुर्भिरुन्नयति, द्वाभ्यामाहूयते, द्वाभ्यामुपमार्जयति, द्वाभ्यां प्राशयतीति दशकर्मयुक्तमग्निहोत्रं भवति। दशाक्षरं वै विराट्च्छन्दः। विराट् एव यज्ञः।[२] दर्शपूर्णमासाभ्यां (अग्निसोमाभ्याम्) उत्पन्नमिदं जगत् विराट् उच्यते। अतएव पुरुषसूक्ते—"ततो विराडजायते विराजोऽधिपुरुषः"[३] इत्युक्तम्। तदुत्पन्नं जगत् अग्निहोत्रेण संरक्षते। यथा शरीरपिण्डस्यरक्षणं प्रतिदिनं भोजनेनैव भवति तथैव सायं प्रातराहुतिभ्यां विराट्पुरूषस्याधिपुरुषस्य (सूर्यस्य) संरक्षणमग्निहोत्रिणाक्रियते।

अग्नावाहुतिप्रदानात्सर्वेषां देवानां सत्ता तिष्ठति। उपमार्जनाच्च पितृणामोषधीनाञ्च।[४] औषधिः भुक्त्वा जलं पीत्वा अग्नि सम्प्राप्य जीवाः जीवन्ति। तस्मादग्निहोत्रेणैव जीवाः जीवन्तीति सिद्धम्।

नेदमग्निहोत्र सोमयागवत् यज्ञः, अपितु पाकयज्ञवत् गृहे सम्पद्यमानं सर्वेषां श्रौतयज्ञानां मुखस्वरूपमस्ति। यथा बाणेषु शिलीमुखमेव लक्ष्याभिमुखं भूत्वा लक्ष्यं वेधयति। धनुस्तत्र केवलं बाणाय गतिः प्रयच्छति तथैवाग्निहोत्रं श्रौतकर्माणां शिलीमुखमन्यानिचकर्माणि तु तस्मै गतिरेव प्रयच्छति। यथा पाकयज्ञे आहुतिप्रदानकाले घृतं किञ्चिदवशिष्यते स्रुचौ तथैवेहापि। तमवशिष्टभागं "उत्सृज्य निर्लेढि आचम्योत्सिञ्चति—"देवान् जिन्व, पितृन् जिन्व, तृतीयायामुदुक्षति-सप्तऋषीन् जिन्व" इति[५] मन्त्रेणाचमति। इडाहुतिशेष-प्राशनमिदं पाकयज्ञवदिति तस्मादिदं कर्म पाकयज्ञः। इडा पशुः भवति, आहुतिशेषलेहनं पशव्यकर्म। पाकयज्ञोऽपि पशव्यो भवति। अतएव प्राशनेन देवतानां, पितृणां, ऋषीणां, पशूनाञ्च सन्तर्पणं भवति।[६]

आहुतिद्वयप्रदानस्योपपत्तिः प्रदर्श्यंते—प्रजापतिः प्रथमाहुतिः जगद् स्रष्टुं

१. श०ब्रा०—२.३.१.१७
२. तदेव—२.३.१.१८
३. शु०य०सं०—३१.५
४. श०ब्रा०—२.३.१.१९
५. का०श्रौ०सू०—४.३.४१
६. श०ब्रा०—२.३.१.२१

प्रायच्छत् । द्वितीयाहुत्या चाग्निवाय्वादित्यानां स्रष्टुं प्रायच्छत् ।[1]

**द्वितीयोपपत्तिः**

अग्निहोत्रकर्मणि प्रथमाहुतिः अस्यकर्मणः प्रधानदेवतायै प्रदीयते । द्वितीयाहुत्यास्विष्टकृत् कर्म क्रियते । प्रथमाहुत्यायाः सृष्टिरुद्भवति, तस्याः रक्षणार्थं द्वितीयाहुतिः हूयते ।[2] प्रथमाहुतिः योगः द्वितीया च क्षेमः ।

**तृतीयोपपत्तिः**

प्रजननं द्वाभ्यां मिथुनेन वा भवति । तस्मात् द्वाभ्यामाहुतिभ्यां दिव्यात्मा उत्पाद्यते । तदर्थमाहुती हूयेते ।[3]

**चतुर्थोपपत्तिः**

आहुत्या भूतं भविष्यञ्च जातं जनिष्यमणाञ्च अतीतञ्चाशा च जन्येते । तस्मादाहुतिद्वयमाहूयते ।

आत्मा हि भूतो भवति । तस्मादेव स्पष्टो भवति । प्रजाश्च भविष्यत् । अतएव नात्मवत् स्पष्टाः भवन्ति । आत्मा प्रत्यक्षोऽस्ति । प्रजा जनिष्यमाणाः भविष्यन्ति । जनिष्यमाणादेव न ताः प्रत्यक्षाः भवन्ति, आत्मा आगतः प्राप्तो भवति । प्रजाश्चानागताः भवन्ति । आगताः प्राप्ताः प्रत्यक्षो भवति । तद्विरुद्धाः प्रजाः अप्रत्यक्षाः अप्राप्ताः अनागताः भवन्ति । प्रत्यक्षोऽद्यो भवति, अप्रत्यक्षाश्च श्वपदवाच्यो भवति । तत्रात्मा अद्यः प्रजाश्च श्वः भवन्ति ।[4]

संसारेऽस्मिन् तत्त्वद्वयम्—आत्मा च प्रजाचेति । अहमस्मीत्यात्मबोधः पुत्रादि प्रजाः । प्रजननक्रियया आत्मा प्रजारूपे परिवर्तते ।[5] अतएवाग्निहोत्रकर्मणि द्वाभ्यामाहुतिभ्यां दिव्यात्मा उत्पाद्यते । उभयोराहुत्योः प्रथमाहुति आत्मने द्वितीया च प्रजायैः हूयते । प्रथमाहुतिः मन्त्रोच्चारणपूर्विका दीयते, मन्त्रः प्रत्यक्षो भवति, तस्मादात्मा प्रत्यक्षः । द्वितीयाहुति तूष्णीं हूयते, तस्मात् प्रजाः परोक्षाः भवन्ति ।[6]

सायमग्निहोत्री "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति" मंत्रेण जुहोति, प्रातश्च "सूर्योज्योतिर्ज्योति सूर्यः स्वाहा" इति मंत्रेण । आभ्यामाहुतिभ्यां सत्ये एव

---

१. तदेव—२.३.१.२२
२. तदेव—२.३.१.२३
३. तदेव—२.३.१.२४
४. श०ब्रा०—२.३.१.२५
५. तदेव—२.३.१.२७
६. तदेव—२.३.१.२९

जुहोति । अस्तमिते सूर्ये अग्निरेव ज्योतिः एवं सूर्योदये तु सूर्य एव ज्योतिः । इत्थं सत्ये ज्योतिषि हुत्वा देवतां प्राप्नोति ।[1]

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इति सायं हुत्वा अथ च "सूर्योज्योतिर्ज्योतिसूर्यः स्वाहेति" प्रातर्हुत्वा उभाभ्यां मंत्राभ्यामुभयोः योषावृषाप्राणयोः संसर्गेण गर्भस्याधानं भवति । अत्र ज्योतिः रेतः पयश्च रजः । उभयोः रेतरजसो संसर्गादिव गर्भोत्पद्यते । गर्भस्थशिशौ ब्रह्मवर्चसः साधनमपि भवतीति आरूणिको-नामाऋषिर्वक्ति । अत्रैव ऋषिः चेलकः आरूणिकं मतं खण्डयन्नुपदिशति—"अग्निरिति, सूर्य इति" द्वाभ्यां मंत्राभ्यां गर्भस्यस्वरूपन्तु निष्पद्यते परन्तु प्रजननक्रियायाः स्वरूपं नैव सम्पाद्यते । अतएव प्रातः काले सूर्योज्योतिर्ज्योतिर्सूर्यः इति मंत्रस्थाने ज्योतिः सूर्यः सूर्योज्योतिः स्वाहेति मंत्रस्योच्चारणं कर्तव्यम् । अनेन कर्मणा ज्योतिस्वरूपो रेतः देवतापरिग्रहणाद्बहिर्भवति । तस्मात् गर्भोऽपि बहिर्भवति ।[2] अतएव प्रजननक्रियासम्पादकेन मंत्रेण प्रातराहुति होतव्येति विमर्शः ।

अत्रैव भगवान् याज्ञवल्क्यः मतमिदमुदितयाजिनामुक्त्वा प्रतिवादरहितत्वमुद्घोषयति । परन्तु अनुदितानुयाजिनां मते तूभयोः मन्त्रयोः अनर्थकतां प्रतिपादयति याज्ञवल्क्यस्य सम्मतौ तु सूर्योज्योतिः अथ च अग्निर्ज्योतिरिति उभावपि मंत्रौ प्रथमाविभक्तियुक्तौ स्तः । तस्मात्तयोः मंत्रयोः देवतायाः स्पष्टनिर्देशाभावात् यज्ञफलोद्देश्ये एव संदेहः । देवतोद्देश्येन चतुर्थीविभक्तिः प्रयुज्यते । तस्मादुभयोः मंत्रयोः स्थाने मन्त्रान्तरौ निर्दिशति । तौ च मंत्रौ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेत्तु स्वाहेति सायं जुहोति । प्रातश्च सजूर्देवेन सवित्रा सजूरूषसेन्द्रवत्या जुषाणो सूर्योवेत्तु स्वाहेति मंत्रेण जुहुयात् ।[3]

कथमाभ्यां मन्त्राभ्यामग्निहोत्रं होतव्यमिति कारणमुपदिशति—सायं मंत्रे "जषाणो अग्निर्वेत्तु स्वाहेति पदेषु जुषाणपदपाठात् यजमानः साक्षादग्निना युज्यते । अग्निरपि हविः गृह्णाति इत्यस्यापि बोधो भवति ।" सवित्रा इति पदेन प्रजननस्य प्रेरणा प्राप्यते । सजू रात्र्या इन्द्रवत्या इति पदैः मिथुनेन प्रजननं भवति इत्यस्योपपत्तिः प्रदर्श्यते । यज्ञस्य देवता इन्द्रः, तस्य नामग्रहणात् यज्ञसम्पत्तिः समृद्धाः भवति । एवं अग्निहोत्रकर्मणः यदुद्देश्यं यच्च फलं तत्सर्वं यजमानेन प्राप्यते । तस्मादयमेव मंत्र अग्निहोत्रस्य ।

एवं प्रातः "सजूर्देवेन सवित्रा सजूरूषसेन्द्रवत्या जुषाणो सूर्यो वेत्तुस्वाहेति मंत्रः आम्नातः । अनेन मंत्रेण हुते सति सविता इन्द्रवत्योषया सह प्रसन्नो भूत्वा

---

१. श०ब्रा० —२.३.१.३०
२. तदेव—२.३.१.३१-३४
३. तदेव— २.३.१.३६-३७

हविः गृह्णाति । इत्थं प्रजननसम्पत्त्याधायकं मिथुनं कर्म सिद्धं भवति । यज्ञ-देवतेन्द्र आदित्यश्च प्रत्यक्षो भूत्वा हविश्च गृहीत्वा गर्भाद्बहिष्करोति । तस्मादयमेव मंत्रः सर्वथोपयुक्त'[1] इति ।

इत्थमग्निहोत्रकर्मणा पृथिव्यादित्यलोकयोः परस्परं यद्घनिष्टसंबंधः तस्येहपरिज्ञानं भवति । सूर्यः पृथिव्यां वर्षति पृथिवी च सूर्ये । येनोभयोः लोकयोः स्थितिरिति अस्य कर्मणः फलमिति ।

१. तदेव—२.३.१.३९

# भारतीय ज्योतिषशास्त्र में "मौसम विज्ञान"

—रामदेव झा

हमारे प्राचीन तेज: पुञ्ज सूर्य, वादरायणव्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, गर्ग, नारदादि १८ महर्षि, ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्त्तक हुए। इनके पश्चात् भी आचार्यों ने इस अद्भुत शास्त्र और अद्भुत आकाश का अवलोकन, परिवीक्षण, मनन और अध्ययन आगे बढ़ाया तथा इसके सर्वोच्च शिखर तक पहुँचने के लिए विविध सोपानों का निर्माण किया। इसी क्रम में ऋषियों ने ब्रह्माण्ड में होने वाले भविष्य के अद्भुत चमत्कारों की घोषणाएँ आरम्भ कर दीं। इस प्रकार उनकी मनोकामनाएं पूरी हुईं तथा जनता इस ओर आकृष्ट हुई।

**वृष्टि का कारण और समय का निर्धारण**

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान का मूलाधार वेद है। "शुक्लयजुर्वेद के १७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में वृष्टिविद्या का उपदेश किया गया है[१]। इस मन्त्र का भावार्थ यही है कि जिस प्रकार सूर्य जलाशयों और वनस्पतियों से रस हरणकर मेघमण्डल में स्थापित करता है और पुन: वर्षाता है—उससे अन्नादि पदार्थ होते हैं, उसके भोजन से क्षुधा की निवृत्ति, क्षुधा की निवृत्ति से बल की वृद्धि, उससे दुष्टों की निवृत्ति और दुष्टों की निवृत्ति से सज्जनों के शोक का नाश होता है; वैसे अपने समान दूसरों का सुख-दु:ख मान सबके मित्र बनकर दूसरों के दु:ख का विनाश करके सुख की निरन्तर उन्नति मनुष्य करे।" मन्त्र इस प्रकार है—"अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्यऽओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽअधि सम्भृतं पयः। तां नऽइषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणाऽअस्मंस्ते क्षुन्मयि त ऊर्ग्यं द्विष्मन्तं ते शुगृच्छतु।" शुक्लयजुर्वेद के ही एकादशवें अध्याय में प्राणियों को रोगरहित तथा सुन्दर फलों वाली लताओं ओषधियों को शुद्ध करने वाले पवित्र जलवर्षण कराने की चर्चा की गई है।[२] मूल मन्त्रसंख्या ३८ है।

हमारे वैदिकवाङ्मय में यह स्पष्ट रूप से ज्ञात कराया गया है कि वर्षा का मूल कारण आदित्य है—जो सूर्य का ही पर्याय है। सूर्यकिरणों के द्वारा पृथ्वीस्थित जलों का शोषण होता है और वह अन्तरिक्ष में मेघ बनता है तथा वायु के साहचर्य से धरती पर वर्षा होती है।

---

१. शु॰ यजुर्वेद, प्रकाशक—वैदिक पुस्तकालय, केसरगंज, अजमेर

२. शुक्ल यजुर्वेद, प्रकाशक—वैदिक पुस्तकालय, केसरगंज, अजमेर

आधुनिक वैज्ञानिक भी मेघ-वायु और वर्षा का सम्बन्ध इसी रूप में मानते हैं।

वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार तथा यास्कमुनि के निर्वचनों के आलोक में यही कहा गया है कि आदित्य रसों को लेता है, वह ज्योतिष्पिण्डों के प्रकाश को लेता है।[1]

निरुक्तकार ने एक स्थान पर कहा है कि 'स्वर' का अर्थ है सूर्य, यह अत्यन्त दूर है। यह द्रवों में भली भांति प्रविष्ट है। पृश्नि का भी अर्थ है सूर्य। नैरुक्त कहते हैं—यह द्रवों को सम्यक् संयुक्त करता है या यह प्रकाश से सम्यक् संयुक्त है। 'गौ' का अर्थ है सूर्य—यह द्रवों को गतियुक्त करता है, यह आकाश में गति करता है। 'विष्टप्' का अर्थ है सूर्य, यह द्रवों में व्याप्त है, यह ज्योष्पिण्डों में व्याप्त है।[2]

इसी प्रकार 'मिह्' सेचने धातु से निष्पन्न 'मेघ' शब्द है, जिसका काम जल बरसाना है। निरुक्त के हो २२वें खण्ड में कहा गया है कि मेघ-वायु तथा सूर्य, तीन अनुक्रम से कार्य करते हुए पृथ्वी को उष्ण करते हैं अर्थात् ओषधियों को ताप-शीत तथा वर्षा से पक्व बनाते है। उपर्युक्त संक्षिप्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि वर्षा का मूलकारण 'सूर्य' है। इससे निम्नलिखित तीन तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(१) सूर्य पृथ्वी स्थित जलाशयों से तथा वनस्पतियों से रस ग्रहणकर मेघ-मण्डल में स्थापित करता है; अनन्तर वर्षा होती है।

(२) सृष्टि के स्थावर और जंगमों को रोगरहित एवं शुद्ध करने वाले पवित्र जल वर्षा कराने की विधि यहाँ का मानव जानता था।

(३) 'द्रव' पदार्थों के साथ सूर्यकिरणों का अटूट सम्बन्ध है तथा उनको गतिशील बनाता है।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान की तीन शाखाएँ हैं। प्रथम सिद्धान्त, द्वितीय होरा और तृतीय संहिता। इनमें संहिता स्कन्ध में मौसमविज्ञान सम्बन्धी प्रचुर विचार पाए जाते हैं। किन्तु यहाँ प्रस्तुत आलेख में उनकी संक्षिप्त चर्चा ही की गई है।

वर्षाऋतु में अथवा अन्य दिनों में वर्षा कब होगी, कितनी होगी या नहीं होगी—आदि बातों का ज्ञान हमें वर्ष पति, वर्ष के अन्य अधिकारी ग्रहों, अयन-मास-पक्ष-दिन-नक्षत्र-राशि-लग्न-मुहूर्त्त आदि के द्वारा होता है। यह अलग बात है कि यह ज्ञान कितना सच सिद्ध होता है।

प्रत्येक वर्ष ग्रहमन्त्रिपरिषद् का परिवर्त्तन होता है। परिषद् के राजा,

---

१. निरुक्त १३ खण्ड, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (प्र० सं०) १९६७

२. निरुक्त १४ खण्ड, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

मन्त्री, सस्येश, धान्येश, मेघेश, रसेश आदि के अनुसार भी वृष्टि, अल्पवृष्टि, खण्ड-वृष्टि एवं सुवृष्टि की सामान्य भविष्यवाणी की जाती है। यथा—यदि वर्ष का सूर्य राजा हो तो अल्पवृष्टि, चन्द्रमा हो तो प्रचुरवर्षा, मंगल हो तो खण्डवृष्टि, बुध हो तो सस्यबृद्धि, गुरु हो तो उत्तमवृष्टि, शुक्र हो तो अच्छी वृष्टि तथा शनि हो तो अल्पवृष्टि होती है।[1] उदाहरण के लिए वर्त्तमान संवत् २०५१ (१९९४ ई०) को लें। इस वर्ष का राजा चन्द्रमा है। फलस्वरूप अच्छी वर्षा हुई है। किन्तु जो ग्रह वर्षपति है और उत्तम वृष्टिकारक है; यदि वह अस्पष्ट किरण वाला है, नीच-राशिस्थ है तथा पराजित है तो वह उत्तमफल नहीं देता है।[2]

### वर्षा का प्रथम नक्षत्र आर्द्रा

हमारे ग्रन्थों में आर्द्रा नक्षत्र को वर्षा का प्रथम नक्षत्र कहा गया है। पञ्चाङ्गों में जो सम्वत्सर लिखा रहता है, उसमें वर्षा सम्बन्धी फल आर्द्रा नक्षत्र में सूर्य के प्रवेशकाल के आधार पर लिखा जाता है। तथा जिस ग्रह के वार में प्रवेश करता है—उसे मेघों का स्वामी अर्थात् मेघेश कहा जाता है। दिन में आर्द्रा प्रवेश हो तो धान्यहानि तथा प्रजाकष्ट होता है। सन्ध्याकाल में प्रवेश हो तो धान्य-वृद्धि होती है।

आर्द्रा नक्षत्र प्रवेशकाल में यदि थोड़ी वर्षा हो जाए तो मंहगाई बढ़ती है। वर्षा नहीं हो तो फसल की अच्छी उपज होती है। यदि उस दिन वायु का प्राबल्य हो तो टिड्डी आदि कीड़ों से फसल की क्षति होती है।

(१) अर्द्रा प्रवेशकालिक लग्न के समय यदि केन्द्र में चन्द्रमा, गुरु, बुध या शुक्र हो तो ईतिभय नहीं होती है।

(२) आर्द्रा से मूलनक्षत्रपर्यन्त समय-समय पर कृषि के अनुकूल उत्तमवर्षा होती है।[3]

### मेघगर्भ के लक्षण

प्राणियों के प्राण अन्न के बिना नहीं रह सकते और अन्नोत्पादन वर्षा के अधीन है। अतः प्रयत्नपूर्वक वर्षाकाल की परीक्षा करनी चाहिए। आचार्य वराहमिहिर ने बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में कहा है कि "मैंने वसिष्ठ-गर्ग-पराशर-काश्यप-वज्र आदि आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के आधार पर वर्षाकाल के लक्षण लिखे हैं।[4] उन्होंने यहाँ तक कहा है कि जिन दिनों मेघ वर्षा के लिए गर्भ धारण

---

१. बृहत्संहिता—ग्रहवर्षफलाध्याय

२. वही

३. नारदसंहिता—अध्याय ३५

४. बृ०सं० गर्भलक्षणाध्याय

करते हैं–उन दिनों अहर्निशि ज्योतिर्विदों को उसका अध्ययन करते रहना चाहिए। तथा इस प्रकार भलीभांति परीक्षणकर यदि वर्षा के सम्बन्ध में भविष्य-वाणी की जाए तो वह मिथ्या नहीं होती।[1]

मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा तिथि के बाद पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में जब चन्द्रमा आता है तब से मेघगर्भलक्षण का ज्ञान करना चाहिए। यहाँ ज्ञातव्य है कि प्रतिवर्ष प्रायः मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष चतुर्थी या पञ्चमी तिथि को पूर्वाषाढ़ नक्षत्र हुआ करता है। आचार्य गर्ग तथा काश्यप के भी यही मत हैं।

गर्भधारण के पश्चात् कितने दिनों के बाद प्रसव अर्थात् वर्षा होती है— इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस नक्षत्र में मेघ गर्भधारण करता है—उससे १९५ दिनों के बाद अर्थात् सावनमान से साढ़े छः महीने बाद उसी नक्षत्र में चन्द्रमा के आने पर वर्षा होती है।

यदि दिन में गर्भधारण किया हो तो निर्धारित समय पर रात्रि में वर्षा होती है। यदि रात्रि में हो तो दिन में वर्षा होती है।

गर्भों के विशेष लक्षण तथा तदनुसार निर्धारित वर्षाकालनिर्देशन के साथ मेघ और वायु के लक्षण भी बताए गए हैं। जैसे पूर्वोक्त मास नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा के संयोग होने पर यदि पूर्व दिशा में बादल दिखाई दे तो वर्षाकाल में वह पश्चिम की ओर से पानी बरसाना प्रारम्भ करता है। यदि पश्चिम में दिखाई दे तो पूर्व दिशा में पानी बरसना प्रारम्भ होता है। इसी तरह उत्तर में हो तो दक्षिण में यदि दक्षिण में हो तो उत्तर में निश्चित समय पर वर्षा होती है।[2]

**गर्भपुष्टिलक्षण**

निर्धारित मास-नक्षत्र-चन्द्रमा के योग से गर्भग्रहणकाल में मन्द-मन्द वायु चले, आकाश में चन्द्रमा निर्मल रहे अथवा दिन में सूर्य और रात्रि में चन्द्रमा घने बादलों से व्याप्त हों, इन्द्रधनुष दिखाई दे या मेघ मन्द-मन्द गर्जन करे, बिजली चमके, सूर्य की विपरीत दिशा में पक्षिगण तथा वन्य जीव-जन्तुओं के शान्तस्वर सुनाई दे तो गर्भ पुष्ट हो—ऐसा जानना चाहिए। तथा निर्धारित समय पर अच्छी वर्षा होगी—ऐसा मानना चाहिए।

**गर्भोपघातलक्षण**

जिन दिनों मेघ गर्भधारण करने की बातें ऊपर कही गई हैं उन्हीं दिनों यदि उल्कापात, धूलिवर्षण, दिग्दाह, भूकम्प, सूर्य-चन्द्रग्रहण, तामस-कीलक केतु ग्रहयुद्ध,

---

१. बृ०सं० गर्भलक्षणाध्याय

२. वही

गन्धर्वनगर आदि के दर्शन हों तो वर्षाकाल में वर्षा नहीं होती।[1]

**विशेष वर्षा लक्षण**

मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष में पूर्वाषाढ़ नक्षत्रस्थ चन्द्रमा से गर्भधारण काल से निर्धारित अग्रिम साढ़े छः महीने पर सामान्य वर्षायोग की बात इस लेख में पहले कही गई है। अब जिन नक्षत्रों में मेघ गर्भधारण करने से निश्चित समय पर बहुत अधिक वर्षा होती है—इसका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

मार्गशीर्ष तथा पौष में रोहिणी, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, पूर्वाभाद्रपद तथा उत्तरभाद्रपद नक्षत्रों में जब मेघ गर्भधारण करे तब उन दिनों यदि सूर्योदयास्त काल में क्रमशः पूर्वक्षितिज तथा पश्चिमक्षितिज पूरी लालिमा लिए हों तो निर्धारित समय पर बहुत वर्षा होती है। इसी तरह आश्लेषा, आर्द्रा, मघा, स्वाती एवं विशाखा नक्षत्रों में गर्भ रहे तथा अपने उपघातों से सुरक्षित रहे तो निश्चित समय पर प्रचर वर्षा होती है। तथा कितने-कितने दिनों तक तथा कितनी दूर तक लगातार वृष्टि होती रहेगी—इसकी भी चर्चा की गई है।[2] जिस प्रकार आजकल मौसमविज्ञानी सेंटीमिटर, इंच आदि माप के द्वारा वर्षा के परिमाण की बात करते हैं; उसी तरह द्रोण, आढ़क आदि मापक संज्ञाओं के द्वारा वर्षा के परिमाण बताए गए हैं। सर्वाधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि संहिता शास्त्रियों ने वर्षा होने के पूर्व ही वर्षा के परिमाण जान लेने के उपाय बताए हैं कि कितने द्रोण या आढ़क वर्षा होगी। किन्तु द्रोण तथा आढ़क परिभाषाओं पर विचार करने से ये समीचीन प्रतीत नहीं होते। विस्तारभय से उसका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है।

वर्षाविज्ञान के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त संहिता ग्रन्थों में पाए जाते हैं—जिनमें से कुछ का दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया गया है। नक्षत्रों के आधार पर वर्षा तथा उसका परिमाणज्ञान करने के अनन्तर विशेष रूप से रोहिणीयोग, इसके विचार का निश्चित समय, इसका विधान, वायु द्वारा शुभाशुभ एवं वर्षा का ज्ञान, मेघों के लक्षण, दिशाओं के अनुसार मेघफल चन्द्रफल आदि बताए गए हैं। इसी तरह आषाढ़शुक्ल में स्वाति नक्षत्रयुक्त चन्द्र का फल बताया गया है। जिस प्रकार मेघ, वायु तथा उत्पातों का रोहिणीचन्द्र योग द्वारा ज्ञान किया जाता है—उसी तरह स्वातिचन्द्र योग में ज्ञात करना चाहिए। तथा आषाढ़शुक्ल पूर्णिमा को उत्तराषाढ़ नक्षत्रगतचन्द्र से भी वर्षा सम्बन्धी शुभाशुभ परिणाम जानने की बात कही गई है।[3] यहाँ उल्लेखनीय है कि आषाढ़शुक्लपूर्णिमा को अब भी लोग प्रतिवर्ष

---

१. बृ०सं० गर्भलक्षणाध्याय

२. वही

३. वही—रोहिणीयोगाध्याय तथा आषाढ़ीयोगाध्याय

वायुपरीक्षण द्वारा वर्षाज्ञान करते हैं। इस आषाढ़ी योग में इसकी भी परोक्षा की जाती है कि इस वर्ष किस धान्य का विशेष उत्पादन होगा।

## वृष्टि विचार की प्रचलित पद्धतियाँ

### (१) वायु परीक्षा[1]

आषाढ़ की पूर्णिमा को प्रदोष काल में वायु का फल देखा जाता है। यहाँ हवा किस दिशा से आ रही है तदनुसार उसका फल क्या होगा—इसका विवरण दिया गया है—

| दिशा | | फल |
|---|---|---|
| पूर्व में | — | सुवृष्टि, धान्योत्पत्ति श्रेष्ठ। |
| अग्निकोण में | — | अल्पवृष्टि, अत्यल्प धान्य। |
| दक्षिण में | — | अल्पवृष्टि, अल्पधान्य, प्रजापीड़ा। |
| नैऋत्य कोण | — | अनावृष्टि दुर्भिक्ष। |
| पश्चिम | — | महावृष्टि उत्तम धान्योत्पत्ति। |
| वायव्य | — | वायु की तोव्रता, मध्यम धान्य। |
| उत्तर | — | अतिवृष्टि, अतिधान्य, जनसुख। |
| ईशान | — | उत्तमवृष्टि, उत्तमधान्य, सुख। |

### (२) सप्तनाड़ी चक्र द्वारा वर्षा ज्ञान

| संज्ञा | चण्डा | बात | वह्नि | सौम्या | नीरा | जला | अमृता |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | कृत्तिका | रोहिणी | मृगशिरा | अर्द्रा | पुनर्वसु | पुष्य | आश्लेषा |
| | विशाखा | स्वाती | चित्रा | हस्त | उ० फाल्गुनी | पू० फाल्गुनी | मघा |
| | अनुराधा | ज्येष्ठा | मूल | पूर्वाषाढ़ | उत्तराषाढ़ | अभिजित | श्रवणा |
| | भरणी | अश्विनी | रेवती | उ० भाद्रपद | पू० भाद्रपद | शतभिषा | धनिष्ठ |
| स्वामी | शनि | रवि | भौम | गुरु | शुक्र | बुध | चन्द्र |
| | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |

### (३) संक्रान्ति नक्षत्र द्वारा वृष्टि ज्ञान

मेष संक्रान्ति लगने के बाद अश्विनी से आगे १० नक्षत्रों तक देखना

---

१. बृ०सं० आषाढ़ीयोगाध्याय

चाहिए। अश्विनी से जितने संख्या के नक्षत्र में मेघ दिखाई दे—उतनी ही संख्या के नक्षत्र में अच्छी वृष्टि समझना चाहिए।

**सूर्य-चन्द्र नक्षत्रों के द्वारा वृष्टि ज्ञान**

| सूर्य नक्षत्र | चन्द्र नक्षत्र |
|---|---|
| (१) रोहिणी (२) मृगशिरा (३) पूर्वाफाल्गुनी (४) उत्तराफाल्गुनी (५) हस्त (६) चित्रा (७) स्वाती (८) विशाखा (९) अनुराधा (१०) ज्येष्ठा (११) शतभिशा (१२) उत्तरभाद्र (१३) मूल | (१) आर्द्रा (२) पुनर्वसु (३) पुष्य (४) आश्लेषा (५) मघा (६) पू० भाद्रपद (७) अश्विनी (८) भरणी (९) कृत्तिका (१०) पूर्वाषाढ़ (११) उत्तराषाढ़ (१२) श्रवणा (१३) धनिष्ठा (१४) रेवती |

यदि सूर्यनक्षत्रों में चन्द्रमा रहे तथा चन्द्रनक्षत्रों में सूर्य की स्थिति हो तो उस दिन वृष्टि योग कहना चाहिए। सूर्यचन्द्र दोनों सूर्य के नक्षत्रों में हों तो वृष्टि नहीं होती। दोनों चन्द्र के नक्षत्रों में रहें तो साधारण वृष्टि होगी।

**(५) नक्षत्रों के पुरुष-स्त्री-नपुंसक वर्गों में विभाजन तथा उसके योग से वर्षाज्ञान**

| (१) पुरुष संज्ञक नक्षत्र | (२) स्त्री संज्ञक नक्षत्र | (३) नपुंसक नक्षत्र |
|---|---|---|
| (१) मूल (२) पूर्वाषाढ़ (३) उत्तराषाढ़ (४) श्रवणा (५) धनिष्ठा (६) शतभिषा (७) पू० भाद्रपद (८) उ० भाद्रपद (९) रेवती (१०) अश्विनी (११) भरणी (१२) कृत्तिका (१३) रोहिणी (१४) मृगशिरा— ये १४ नक्षत्र पुरुष संज्ञक हैं। | (१) आर्द्रा (२) पुनर्वसु (३) पुष्य (४) आश्लेषा (५) मघा (६) पू० फाल्गुनी (७) उ० फाल्गुनी (८) हस्त (९) चित्रा (१०) स्वाती आदि १० नक्षत्र स्त्री संज्ञक हैं। | (१) विशाखा (२) अनुराधा (३) ज्येष्ठा — ये तीनों नक्षत्र नपुंसकवर्ग में आते हैं। |

(१) कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं— जैसे इस वर्ष ३ अगस्त '९४ श्रावणकृष्ण द्वादशी बुधवार को सूर्य आश्लेषानक्षत्र में आया। उस दिन चन्द्रमा मृगशिरा नक्षत्र में था। पूर्वोक्त पुरुषसंज्ञक नक्षत्र में चन्द्रमा के रहने से तथा स्त्रीसंज्ञक नक्षत्र में सूर्य के रहने से दोनों की स्थिति स्त्री-पुरुष योगकारक है। ऐसे योग में अर्थात् स्त्री-पुरुषयोग जब घटित हो तो वर्षा होती है—और इस वर्ष ३ अगस्त के आस-पास अच्छी वर्षा हुई।

(२) किन्तु जब स्त्री-स्त्रीयोग घटित हो—जैसे इस वर्ष गत ३१ अगस्त '९४ को स्त्री-स्त्री योग था तो उन दिनों वर्षा की कमी रही। क्योंकि सूर्य पूर्वाफाल्गुनी में प्रविष्ट हुआ था तथा उस दिन चन्द्रमा आर्द्रा नक्षत्र में था। ये दोनों नक्षत्र स्त्रीवर्ग में परिगणित हैं। स्त्री नपुंसक योग में अल्पवृष्टि होती है।

## (६) दशतारकविचार द्वारा वृष्टिज्ञान

पौष मास में मूलनक्षत्र से लेकर भरणीनक्षत्र पर्यन्त चन्द्र स्थिति के अनुसार मेघ गर्भ लक्षण का अध्ययन कर आगे वर्षाऋतु के आगमन पर आर्द्रा नक्षत्र से लेकर विशाखा पर्यन्त १० नक्षत्रों में सूर्यचार के अनुसार क्रमशः वर्षा की भविष्यवाणी करनी चाहिए। अर्थात् यदि पौष मासीय मूलनक्षत्र में मेघ गर्भ धारण करता है तो आगे आर्द्रा नक्षत्र में सूर्य के आने पर वर्षा होगी। इसी तरह पौष मास में मूल से आगे यदि पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में मेघ गर्भयोग घटित होता है तो आगे पुनर्वसु नक्षत्र में सूर्य के संचार होने से वर्षा होगी। इसी तरह क्रमशः जानना चाहिए।

## (७) संक्रान्ति से वृष्टि विचार

सिंह की संक्रान्ति के दिन वर्षा-बादल हो तथा कर्क-संक्रान्ति के दिन वर्षा बादल नहीं हो तो उस वर्ष वृष्टि का प्रायः अभाव रहता है। यदि कन्या संक्रान्ति में वायुवेग रहे तो अच्छी वर्षा होती है।[1] रुद्रयामलोक्त मेघमाला के अनुसार मीन-मेष-कन्या तथा कर्क राशि में सूर्य संक्रमण करे और उस समय वर्षा हो तो कृषि-जन्य पदार्थों का अच्छा उत्पादन हो—ऐसा फल लिखा गया है।[2]

## (८) ग्रहस्थितियों के द्वारा वृष्टिविचार

वर्षाकाल में यदि निम्नलिखित ग्रहस्थितियाँ हों तो वर्षा होती है।

(१) शुक्र से सप्तम में चन्द्र शुभग्रह से देखा जाता हो।
(२) शनि से चन्द्र ५, ७, ९वें स्थाल में हो तथा वह शुभग्रह से देखा जाता हो।
(३) यदि बुध-शुक्र समीपस्थ हों।
(४) सूर्य के पहले या पीछे शुभग्रह हों।
(५) ग्रहों के उदयास्तकाल में (सूर्य के अतिरिक्त अन्य ग्रहों के)
(६) ग्रहों के राश्यन्तरगमन में।

---

१. नारदसंहिता—अध्याय ३५
२. मेघमाला—अध्याय ६

(७) ग्रहयुति में।
(८) बुध-शुक्र के उदय-अस्त में।
(९) भौम के राशि संचार में।
(१०) यदि बुध-शुक्र के बीच में सूर्य आ जाए तो वृष्टि का नाश होता है।

**उपसंहार**

मौसम विज्ञानशीर्षक इस लघुनिबन्ध में भारतीयत्रिस्कन्धात्मक ज्योतिष-शास्त्र के संहितास्कन्ध के आधार पर निर्धारित विषय की अति संक्षिप्त चर्चा की गई है या यों कहें कि विचारणीय विषय का यत्किञ्चित् स्पर्शमात्र किया गया है। क्योंकि मौसम विज्ञान-भारतीय ज्यौतिषशास्त्र में विभिन्न रूपों में व्यापक रूप से चर्चित है। ऐसे विस्तृत विषय पर एक छोटे से लेख के द्वारा उसका विवेचन प्रस्तुत किया जाए—संभव नहीं। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना अत्यावश्यक है कि अकाल (दुर्भिक्ष) के योग और समाधान, दुर्भिक्ष (आँधी-तूफान, ओले, कुहासे) के घटक-तत्त्व तथा भूकम्प के कारण और समय की भविष्यवाणियाँ—इन सभी विषयों पर एक साथ एक निबन्ध में विचार करना किसी भी प्रकार से संभव नहीं है।

संहिता ग्रन्थों के अनुसार उपर्युक्त सभी प्रकार की संभावित शुभाशुभ घटनाओं के लिए मुख्यत: सूर्यादि नवग्रहों का विभिन्न नक्षत्रों राशियों में संचार, उसका काल, उनके योगायोग, ग्रहयुद्ध-समागम आदि कारण माने गए हैं।

भूकम्प के कारणों के सम्बन्ध में सिद्धान्तज्यौतिष के मर्मज्ञ आचार्य कमलाकरभट्ट ने अपने 'तत्त्वविवेक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है कि रासायनिक विविध प्रतिक्रियाएँ भूमिगर्भ में होती रहती है – जिनके परिणामस्वरूप विविध खनिज पदार्थ हमें उपलब्ध होते हैं। और जब कभी तीव्ररासायनिक प्रतिक्रियाओं में विकृति आती है तो भूमि की ऊष्मा भूमि की परतों को तोड़कर बाहर निकलती है जो कहीं भूकम्प के रूप में कहीं ज्वालामुखी के रूप में प्रकट होती है। वैसे भूकम्प के कारणों में ग्रहों की दु:स्थिति भी गिनी गई है।

लोकजीवन में सर्वविध कल्याण की दृष्टि से ही ज्योतिषशास्त्र का प्रवर्त्तन किया गया। वह मुख्यत: काल विधान शास्त्र है। त्रिविध काल का ज्ञानकर व्यक्ति, समाज-राष्ट्र तथा विश्व का कल्याण करने के लिए भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और आधुनिक विज्ञान का प्रयोगात्मक तुलना अनिवार्य है।

# वेदमूलकं शुल्बसूत्रम्

—डॉ० रमेशचन्द्रदाशशर्मा

वैदिकसाहित्ये शुल्बसूत्राणां स्थानमतिमहत्वपूर्णं वर्तते। श्रौतसूत्रग्रन्थानां पूरकोऽयं ग्रन्थस्तत्र निर्दिष्ट कुण्डमण्डपरचनजातं प्रतिपादयति। श्रौते हि वैदिकयागानां पद्धतिर्विनिर्दिश्यते। पद्धतिप्रतिपादनपरा आचार्या मध्ये वितानविहरणकथनेन क्रमभङ्गभीर्ति मन्वानः यज्ञीयकुण्डमण्डपविहरणार्थं शुल्बसूत्रनामकं ग्रन्थं पृथक्प्रणयामासुः। तत्र शुल्बसूत्राणां वेदमूलकत्वमधिकृत्य क्वचिद्विद्वत्सु विवादः प्रवर्तते। शुल्बसूत्राणि वेदमूलकानीति केचित् स्वीकुर्वन्ति अपरे तु न। नेति वदतां विदुषां मनस्तोषाय श्रुत्युक्त प्रमाणानु शुल्बसूत्राणां वेदमूलकत्वं प्रतिपिपादयिषयायमुपक्रमः क्रियते।

श्रौतसूत्राणि प्रायः ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रतिपादितयज्ञक्रमानुविधीयन्ते। ब्राह्मणोक्तविधिनिषेधवादा एव श्रौतसूत्रे सूत्रैः प्रणीयत आचार्यैः। श्रुतौ विस्ताररूपेण वर्णिता विषया एव ऋषिभिः सारगर्भितैः सूत्रैः सूत्रयन्ते। वस्तुतः श्रुतेरानीतानीमान्यन्वर्थं श्रौतानीत्युच्यन्ते। तथैव शुल्बसूत्राण्यपि वेदमूलकान्येव। एतान्यपि श्रुतौ विभिन्नस्थलेषु प्रतिपादितयज्ञीयविहरणोपायान् कुक्षौ कृत्वा प्रवर्तन्ते। यानि विहरणप्रयुक्तमानानि प्रकाराणि च शुल्बसूत्रैर्विनिर्दिष्टानि तान्यत्र यथायथं परीक्षणीयानि।

सर्वत्र विहरणारम्भे कृतोर्ध्ववाहोर्यजमानस्य पञ्चमांशेनारत्न्यादीनां मानमानीयते। एतद्विषये श्रुतिराह यथा—"तं वा उद्बाहुना पुरुषेण मिमीते। पुरुषो वै यज्ञस्तेनेदं सर्वं मितं तस्यैषा परमा मात्रा यदुद्बाहुस्तद्याऽस्य परमा मात्रा तामस्य तदाप्नोति तयैनं तन्मिमीते तत्रोपयत्प्रपदेनाभ्युच्छ्रितो भवति तत्परिश्रद्भिराप्नोति तस्मादुद्बाह्वैनैव लेखां परिश्रिद्भः खनेत्[1]।"

लौकिके कुण्डमण्डपादिग्रन्थे तु—

**कृतोर्ध्ववाहोः समभूगतस्य कर्तुः शरांशः प्रपदोच्छ्रितस्य।**
**यो वा स हस्तोऽस्य जिनांशकोऽपि स्यादङ्गुलं तत्तदिभांशका ये॥[2]**

सर्वयागप्रकृतिभूतत्वादादौ दर्शपौर्णमासेष्टेः विहारनिर्माणमुच्यते। तत्रा-

१. श०ब्रा० १०.२.२.६
२. कु०म०सि०।

हवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्नीनां चतुरस्रवृत्तार्धचन्द्ररूपाणिश्रुतिसिद्धानि सन्ति। तेषु "परिमण्डला भवति परिमण्डला हि योनिरथो अयं वै लोको गार्हपत्यः परिमण्डलः"[१] इति गार्हपत्यस्यमण्डलस्वरूपमुत्पाद्यते तत्केन्द्रतोऽष्टैकादशद्वादशप्रक्रमेषु वा आहवनीयं कल्पयेत्। तत्र श्रुतयो भवन्ति—

"व्यामैकादशाः प्रक्रमा अन्तरा वेद्यन्तं च गार्हपत्यञ्चैकादशाक्षरा त्रिष्टुप्"[२]

"अष्टासु प्रक्रमेषु ब्राह्मणेनाधेयोऽष्टाक्षरा गायत्री······एकादशसु प्रक्रमेषु राजन्येनाधेय······द्वादशसु प्रक्रमेषु वैश्येनाधेयः"[३]

"अष्टसु प्रकामेषु ब्राह्मणेनाधेयः।[४]······एकादशस्विति पूर्ववदेव"

"द्वादशसु विक्रामेष्वग्निमादधीत"[५] ···

वेदिस्वरूपोपत्तिः तिराह यथाश्रु···

"व्याममात्री पाश्चात्स्यादित्याहुः। एतावान्वै पुरुषः पुरुषसम्मिता हि त्र्यरत्निः प्राची त्रिबृद्धि यज्ञो नात्रमात्रास्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात्।। सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात् मध्ये संह्वारिता······विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्येति"[६] वेद्यासह द्वौ संग्रहावुच्येते यजति जुहोतिस्थानीये। अथोत्करविषयेऽपि तैत्तरीयब्राह्मण एवमुच्यते –"उत्करेऽधिप्रवृश्चति"[७] "यदुत्करे न्यस्यति"[८] इत्यनेन वेद्या सहोत्करस्थानमपि निश्चीयते। तत्साधनोपायश्च शुल्बसूत्रेषूच्यते। "श्रोण्यंसयोश्चे"[९]ति सूत्रेण श्रोण्यंसयोः निर्माणमुच्यते। एतदेव शतपथब्राह्मणे प्रतिपादितं यत् –

'अभितोऽग्निमंसा उन्नयन्ति···तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयन्ति'।[१०] इत्यंसविषये। "पृथुश्रोणिः"[११] इति श्रोणिविषय उच्यते। "इतरस्यवितृतीये दक्षिणतः"[१२]

---

१. श०ब्रा० ७.१.१.३७

२. श०ब्रा० १०.२.३.२

३. का०क०सं० ८.३

४. क०क०सं० ६.८

५. तै०ब्रा० १.१.४.१

६. श०ब्रा० १.२.३.१४; १.२.३.१६

७. तै०ब्रा० ३.२.१०.१

८. तै०ब्रा० ३.३.२.३

९. का०शु०सू० १.७

१०. श०ब्रा० १.२.३.१५

११. श०ब्रा० १.२.३.१६

१२. का०शु०सू० १.२३। अयमेव विषयो दक्षिणाग्निविषयकः बोधायनशुल्बसूत्रे ४.९-१२ सूत्रेषु वर्णितं वर्त्तते। आपस्तम्बशुल्बसूत्रे तु ४.८.५ वर्तते।

इत्यनेनान्वाहार्यपचनस्य स्थानविशेषमुच्यते। प्रायः सर्वेषु शुल्बग्रन्थेषु दक्षिणाग्नेः स्थाननिरूपणार्थमयमेव नियमः स्वीकृतो वर्त्तते।

शुल्बसूत्रे "पैतृक्यां द्विपुरुपं चतुरस्त्रं कृत्वा करणीमध्येषु शङ्कवः स समाधिः"[१] इत्युच्यते। एतस्मिन्विषये शतपथब्राह्मण उच्यते—"चतुस्स्रक्तिं वेदिं करोत्यवान्तरदिशोऽनुस्रक्तीः करोति चतस्रोवाऽवान्तरदिशोऽवान्तर दिशो वै पितरस्तस्मादवान्तरदिशोऽनुस्रक्तीः करोति"।[२]

रथे[३]षा[४]क्ष[५]यु[६]गश[७]म्यानां विहरणे प्रमाणभूतानामुल्लेखः शुल्बसूत्रेषूपलभ्यते। महावेदिनिर्माणप्रकरणे सकला खलु श्रुतिः शुल्बमयी वर्तते। शुल्बसूत्रे विहरणार्थं स्वीकृतानां प्रमाणानां तदुपकारकशङ्क्वादीनामुल्लेखः सर्वत्र विलसति। तद्यथा—

"तद्य एष पूर्वार्ध्योर्वर्षिष्ठः स्थूणाराजो भवति। तस्मात् प्राङ्प्रक्रामति त्रीन्वाविक्रमांस्तच्छङ्कुं निहन्ति सोऽन्तः पातः॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। दक्षिणा पञ्चदश विक्रमान् प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सा दक्षिणा श्रोणिः॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। उदङ् पञ्चदश विक्रमान् प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सोत्तरा श्रोणिः॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। प्राङ् षट्त्रिंशतं विक्रमान् प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स पूर्वार्धः॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः दक्षिणाद्वादशविक्रमान् प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स दक्षिणोंऽसः। तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। उदङ् द्वादशविक्रमान् प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स उत्तरोंऽसः, एषा मात्रा वेदेः॥"[८]

"तां वै युगशम्येन विमिमीते। युगेन यत्र हरन्ति शम्यया यतो हरन्ति युगशम्येन वै योग्यं युञ्जन्ति"[९] — "अथ शम्यां च स्फ्यं चादत्ते। तद्य एष पूर्वार्ध्यः उत्तरार्ध्यः शङ्कुर्भवति तस्मात्प्रत्यङ्प्रक्रमति त्रीन्विक्रमास्तच्चत्वालं परिलिखति..."[१०]।

---

१. श०ब्रा० २.५.२.१०
२. श०ब्रा० २.५.२.१०
३. अङ्गुलै रथसम्मितायाः प्रमाणम् (का०शु०सू० २.१)
४. तत्राष्टाशीतिशतमीषा (का०शु०सू० २.२)
५. चतुः शतमक्षः (का०शु०सू० २.३)
६. षडशीतिर्युगम् (का०शु०सू० २.४)
७. चत्वारोष्टकाः शम्या (का०शु०सू० २.५)
८. श०ब्रा० ३.४.१.१-६
९. श०ब्रा० ३.४.१.२४
१०. श०ब्रा० ३.४.१.२६

चितीनां विषये यथा—

"तं हैके एतया विकृत्याभिमन्त्र्यां चितिं चिन्वन्ति द्रोणचितं वा रथचक्रचितं कङ्कचितं वा प्रउगचितं वोभयतः प्रउगं वा समूह्यपुरीषं वा" ।[1]

"स वेद्यन्तात्षट्त्रिंशत्प्रक्रमां प्राचीं वेदिं विमिमीते ,त्रिंशतं पश्चात्तिरश्चीं-श्चतुर्विंशतिं पुरस्तात्तन्नवतिः सैषानवति प्रक्रमा वेदिस्तस्यां सप्तविधामग्निं विदधाति ।।"[2] "अथ षट्त्रिंशत्प्रक्रमां रज्जुं मिमीते तां सप्तधा समस्यति तस्यै त्रीन्भागान् प्राच उपदधाति निःसृजति चतुरः। अथ त्रिंशत्प्रक्रमा मिमीते तां सप्तधा समस्यति तस्यैत्रीन्भागान्पश्चादुपदधाति निःसृजति चतुरः । अथ चतुर्विंशतिप्रक्रमां मिमीते । तां सप्तधा समस्यति तस्यै त्रीन्भागान्पुरस्तादुपदधाति निःसृजति चतुर इति नु व्वेदिविमानम् ।"[3]

इत्यादिश्रुतिभिः सपक्षपुच्छविशेषस्याग्नेर्विहरणप्रकारः प्रतिपाद्यते। तत्रेष्ट-कानां निधानं भवति। तद्विषयेऽपि शुल्बसूत्राणि भवन्ति । तत्रेयं श्रुतिः—

"पादमात्र्यो भवन्ति[4]..." । "पदध्याद्यत्र वाऽअस्याऽवदीर्य्यंते यत्र वास्या ओषधयो न जायन्ते निर्ऋतिहास्यैतद्गृह्णाति[5]...।" अथ दर्भस्तम्बमुपद-धाति[6]..." "स्वयमातृण्णामुपद्धाति[7]" "कूर्ममुपदधाति"[8] एवं चित्येष्टकानां सम्बन्धे बह्व्यः स्मृतयो भवन्ति । तास्तत्रैव द्रष्टव्याः। इष्टकानिर्माणविधयस्तु इष्टका-पूरणाध्याये महर्षिकात्यायनेन बिशदीकृतः। श्रुतिप्रतिपादितविधानानुसारं प्रणीताः सर्वेऽपि शुल्बग्रन्थाः वेदमूलका एव। विहरणप्रयोगान्समीक्ष्य श्रौतसूत्रवच्छुल्वसूत्र-ग्रन्था अपि तैस्तैः ऋषिभिस्ततच्छाखानुसारं प्रणीताः। तस्माच्छुल्बग्रन्थाः वेद-मूलका एव।

---

१. श०ब्रा० ६.५.२.८

२. श०ब्रा० १०.२.३.४

३. श०ब्रा० १०.२.३.८-१०

४. श०ब्रा० ७.१.३-७

५. श०ब्रा० ७.१.३.८

६. श०ब्रा० ७.२.१.१

७. श०ब्रा० ७.३.२.१

८. श०ब्रा० ७.४.१.१

# ऋग्वेद में दिव्यशक्ति की परिकल्पना

—डॉ० ज्योत्स्ना मोहन

मानव मस्तिष्क के इतिहास में भारतीय विचारधारा अपना एक अत्यन्त शक्तिशाली तथा भावपूर्ण स्थान रखती है। महान् विचारकों के भाव कभी पुराने या अव्यवहार्य नहीं होते, प्रत्युत् शताब्दियों उपरान्त भी आने वाली सन्तति के लिए प्रेरणा स्रोत होते हैं। ज्ञान की ऐसी कोई विधा नहीं है जिसने भारत के प्राचीन साहित्य से अभिनव प्रकाश प्राप्त न किया हो। आधुनिक धर्म, दर्शन, विधि-विधान, धर्मशास्त्र और सामाजिक मान्यताओं के बारे में तब तक वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक उन परम्पराओं का मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय में न ढूंढ निकाला जाए। रामायण, महाभारत एवं पुराण आदि सभी ग्रन्थों में प्रत्येक विषय में वेदों की प्रामाणिकता एवं सर्वमान्यता की पदे-पदे घोषणा की गई है।

वेद हमारे आदिकालीन प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, जिन्हें हम अपनी निधि समझते हैं। ऋक्, यजु, साम व अथर्व वेदों में से ऋग्वेद को प्रधान माना गया है। ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन भारतीय विचारधारा की सही-सही व्याख्या के लिए अनिवार्य है। ऋग्वेद में हमें कवि हृदयों के भावोत्तेजित उद्‌गार मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि वे इन्द्रियों एवं बाह्य जगत् के विषय में उठने वाली अदम्य आशंकाओं से मुक्ति पाने की खोज में थे। सूक्तों में बुद्धि का जो प्रकाश मिलता है वह सर्वत्र एक-सा नहीं है। ऐसे भी कवि थे जिन्होंने केवल आकाश के सौन्दर्य और पृथ्वी की अद्‌भुत वस्तुओं पर विचारकर वैदिक सूक्तों के निर्माण द्वारा अपनी आत्मा के बोझ को हल्का किया। द्यौ, वरुण, उषा, मित्र आदि देवता उनकी काव्य-मयी चेतना की उपज हैं। यद्यपि यथार्थ ज्ञान के अंकुर आगे चलकर प्रस्फुटित होते हैं फिर भी जीवन का जो स्वरूप सूक्तों में प्रतिबिम्बित है वह शिक्षाप्रद है।

वैदिक सूक्तों का विस्मयकारी पक्ष उनका बहुदेववादी स्वरूप है। अनेक देवताओं का नाम व उनकी पूजा का विधान उनमें प्राप्त है। ऋग्वेद के सूक्तों द्वारा प्रतिपादित धर्म के जो तीन स्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं वे इस प्रकार हैं— प्राकृतिक बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद। पाश्चात्य विद्वान् पिक्टेट का मत है कि 'ऋग्वेद के आर्य एकेश्वरवादी थे'। राजा राममोहनराय के मतानुसार वैदिक देवता परब्रह्म के विभिन्न गुणों के आलंकारिक प्रतिनिधि के रूप में है। प्रसिद्ध भारतीय भाष्यकार सायण सूक्तों में वर्णित देवताओं की प्राकृतिक व्याख्या को स्वीकार करता है। विभिन्न प्रकार के मतान्तर होने पर भी वे सब ऋग्वेद के

सूक्तसंग्रह के विषय-स्वरूप को ओर निर्देश करते हैं।

वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप प्रकृति पूजा था। प्रकृति प्रेमी ने वृक्षों, पौधों, बहते स्रोतों तथा पर्वतों से यथार्थ सत्य को खोजने की चेष्टा को। मित्र, सूर्य, वरुण, आकाश, अग्नि, पृथ्वो आदि प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को ही विभिन्न देवताओं के नाम से सम्बोधित कर विभिन्न ऋचाओं से वैदिक ऋषियों ने उपासना की है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य प्रकृति के नानाविध रूपों का गुणगान है।

इस विवेचना में सर्वप्रथम हम यह देखते हैं कि 'देव' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न पदार्थों का संकेत करने के लिए किया गया है। निरुक्तकार का कथन है **"देवो दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो वा भवति।"**[1] देव वह है जो मनुष्य को देता है। वह समस्त विश्व को देता है। **'विद्वांसो हि देवा:'** अर्थात् विद्वान् पुरुष भी 'देव' हैं क्योंकि वह विद्या या ज्ञान का दान देता है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और आकाश भी देव हैं क्योंकि वे समस्त सृष्टि को प्रकाश देते हैं। पिता, माता और आचार्य भी देव है **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'**। 'देव' शब्द से तात्पर्य है 'दिव्यगुणयुक्त' अथवा प्रकाशमान।

ऋग्वेद में देवों की संख्या सामान्यत: तैंतीस उल्लिखित है **'ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्'**[2]। द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवो स्थानीय कहकर देवों के तीनों स्थानों का उल्लेख है।[3] पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यो लोक में समस्त देवों का परिगण माना जाता रहा है।

देवमाला निर्माण की पद्धति ऋग्वेद में स्पष्टत: द्रष्टव्य है। जैसा कि पोछे स्पष्ट किया है कि वैदिक देवताओं के, प्राकृतिक शक्तियों से साम्य स्थपित करने के समय से ही शनैः शनैः उन प्राकृतिक शक्तियों को ही अतिमानवसत्ता का रूप दे दिया गया। अग्नि, सोम, पर्जन्य, मरुद्गण, आप, उषा, सूर्य आदि का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है। परन्तु सब वैदिक देवताओं का समावेश इन ३३ देवताओं में ही हो जाता है।

जिसकी स्तुति और उपासना सर्वत्र आद्य तत्त्व के रूप में की गई है वह है—पृथिवी और द्यौ या द्यौ और पृथिवो। सूर्य, चन्द्रमा और तारागण स्थान परिवर्तन कर सकते हैं, आँधी तूफान आ सकते हैं और मेघ भी मंडराकर विलुप्त हो सकते

---

१. निरुक्त, ७, १५

२. ऋक्०, ८.२८.१

३. "ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्।"
—ऋक्० १।१३९।११

हैं किन्तु अनन्त आकाश सदा स्थिर रहता है। द्यौ केवल भारतीय-ईरानी देवता ही नहीं है किन्तु भारतीय-यूरोपीय भी है। यूनान देश में यह जीयस के नाम से विद्यमान है, इटली में जुपिटर और ट्यूटनिक वन्य जातियों में टाइर और ट्याई के रूप में।[1] पृथ्वी को भी शीघ्र ही देवी मान लिया गया। 'मधु देने वाली', 'दूध से पूर्ण' ऐसे गुण भूमि के कहे जाते थे।[2] सर्वप्रथम द्यूलोक और पृथ्वीलोक को ही मानवोय गुणों से युक्त रूप दिया गया जैसे 'पिता', 'माता', 'ह्रास न होने वाला'। विद्वानों का मत है कि यह भी हो सकता है कि इस विषय में धीरे-धीरे प्रगति हुई अर्थात् भौतिक अवस्था से चेतनत्व, और चेतनत्व से दैवीय रूप तक पहुंचा गया। पृथ्वी और द्युलोक—जिनकी सबसे पहले प्राचीन समय में विश्व में सर्वत्र पूजा होती थी यद्यपि शुरू-शुरू में अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते थे—शीघ्र ही एक प्रकार के वैवाहिक बन्धन में बंध गये। पृथ्वी को फलदायिनी माँ के समान माना जाने लगा, जिसमें द्युलोक बीज वपन करके उसे गर्भित करता है।

मैक्समूलर लिखते हैं कि विश्व के प्रायः सभी देशों के प्रारम्भिकतम कवियों, दार्शनिकों और चिन्तकों ने पृथ्वी और आकाश के इस युगल का माता-पिता या दम्पती के रूप में नानाविध नाम-रूपों से स्तुति और उपासना की है। होमरिक छन्दों में भूमि को 'देवताओं की माता' और नक्षत्र-मण्डल-मण्डित द्युलोक की पत्नी के रूप में सम्बोधित किया है।[3] ऋग्वेद में उन्हें प्रायः द्वित्व की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। अर्थात् सत्ताएँ दो हैं, किन्तु वे एक हो समान्य प्रत्यय को अभिव्यक्त करती हैं। सूर्य, सूर्योदय, अग्नि, वायु और वर्षा ये सब उनकी सन्तति हैं। वे मनुष्यों एवं देवताओं दोनों के माता-पिता हैं।[4] ज्यों ही देवों की संख्या बढ़ने लगी, प्रश्न उत्पन्न हुआ कि द्युलोक और पृथ्वो का निर्माण किसने किया ? अग्नि, इन्द्र अथवा सोम में इस प्रकार की सृजनशक्ति बताई गई है।[5]

**अग्नि**—दूसरी महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक घटना या शक्ति जो वेदों में पृथ्वी की

---

१. Indian Pilosophy.
—By Dr. Radha Krishanan

२. ऋग्वेद, १।१६०

३. 'Mother of gods, the wife of the Starry Heaven'.
—India what can it teach us ?

४. "अतप्यमाने अवसावन्ती अनुष्याम रोदसी देवपुत्रे।
उभे देवानामुभयेभिरह्नां द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥"
—ऋग्वेद १।१८५।४

५. "कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।"
—ऋग्वेद १।१८५।१

प्रतिनिधि के रूप में है, वह अग्नि है। कम से कम २०० मन्त्रों में 'अग्नि' को सम्बोधित किया गया है। वेदों में वर्णित अग्नि की जैसी स्तुति की गई है, उससे हम उस प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग की कुछ पहचान कर लेते हैं जब जीवन भी अग्नि को प्रकट कर सकने के ज्ञान पर निर्भर था। अग्नि बिजली की भाँति ही बादलों से आई। अन्यत्र दो काष्ठों की रगड़ से अग्नि के प्रकट होने की चर्चा है। जिन दो अरणियों के घर्षण से अग्नि को प्रकट करने का विधान है, संस्कृत में उनका नाम 'प्रमन्थ' है। स्पष्ट है कि अग्नि चाहे यज्ञ कुण्डों में सुरक्षित हो अथवा अरणि-मन्थन से प्रकट की गई हो, प्रारम्भिक सभ्यता का आगे बढ़ा हुआ कदम है।

उसी समय ऋषियों ने उष्णता और प्रकाश के रूप में भी अग्नि को जाना। "हे अग्नि, यह काष्ठ जिसे मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ, स्वीकार करो। इसको चमक के साथ जलाओ और अपने पवित्र धुएँ को ऊपर भेजो, अपनी छटा से आकाश के उच्चतम भाग का स्पर्श करो और सूर्य की किरणों में मिल जाओ"।[1] स्पष्ट है कि अग्नि का निवास पृथ्वी पर चूल्हे या यज्ञकुण्ड आदि तक सीमित नहीं, अपितु उषा और सूर्य तथा उससे आगे तक व्यापक रूप में अनुभव किया जाने लगा। 'अग्नि' शीघ्र ही परम देव बन जाता है जिसका विस्तार द्युलोक तथा पृथ्वी दोनों जगह है। ऋषियों ने मनुष्यों के सच्चे हितैषी, मित्र और देवताओं के संदेशवाहक दूत और मानव द्वारा समर्पित हवि को देवताओं तक पहुँचाने के माध्यम तथा जीवों में एक-मात्र अमर देवता के रूप में 'अग्नि' का स्तवन किया—

"आग्ने वह वरुणमिष्टये न इन्द्रं दिवो मरुतो अन्तरिक्षात्।
सीदन्तु बर्हिर्विश्व आ यजत्राः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्॥"[2]

अर्थात् हे अग्नि, हमें यहाँ आहुति के लिए, वरुण को प्राप्त कराओ, इन्द्र को आकाशलोक से और मरुतों को वायुलोक से ले आओ। मैं अग्नि को अपना पिता करके मानता हूँ। मैं उसे अपना बन्धु करके मानता हूँ, अपना भाई और मित्र भी मानता हूँ। अग्नि के प्रभाव से शस्य तथा फल आदि पकते हैं तथा प्राणिमात्र में विद्यमान अग्नि से ही उनके शरीर गर्म रहते हैं और वे जीवित रहते हैं। इस प्रकार 'अग्नि' तत्त्व की व्यापकता बढ़ने लगी। परम्परा ने 'अग्नि' को सर्वोच्च देवता के रूप में स्वीकार किया।

**सोम**—वैदिक साहित्य में सोम का पर्याप्त वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों

---

१. "दा नो अग्ने बृहतो दाः सहस्रिणो दुरो न वाजं श्रुत्या अपा वृधि।
प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि स्वर्ण शुक्रमुषसो वि दिद्युतः॥"
—ऋग्वेद २।२।७

२. ऋग्वेद १०।७०।११

में सोम के दो रूप स्वीकार किए गए हैं—(१) पार्थिव, (२) दिव्य। पार्थिव रूप में सोम एक लता थी। इसके रस का प्रयोग यज्ञ के अवसर पर किया जाता था। दिव्य रूप में वर्णित सोम ब्राह्माण्ड में व्याप्त एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसमें अमरत्व और प्रकाशत्व दो गुण विद्यमान हैं। दिव्य रूप में सोम यश, चन्द्रमा, प्राण आदि का रूप माना गया है। ऋग्वेद के अनुसार सोमलता श्येन पर्वत पर मिलती थी।[1] ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार सोम को खरीदना और बेचना पाप का कारण माना गया है—'पापो हि सोम विक्रयी'"[2]।

सोम को स्फूर्ति का देवता और अमर जीवन का दाता माना गया है। सोम को सम्बोधित मन्त्र उस समय गाए जाने के लिए थे जबकि पौधे से रस निकाला जाता था।

"स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः।"[3]

अर्थात् हे सोम तुम, जिसे इन्द्र के पानपात्र में डाला गया है, पवित्रतापूर्वक एक अत्यन्त मधुर और उल्लासकारी धारा में प्रवाहित होओ। अन्यत्र भी वर्णन मिलता है कि पूजा करने वाले उच्च स्वर से हर्ष प्रकट करते हुए कहते हैं—

"अपाम सोममममृता अभूमा गन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥"[4]

अर्थात् हमने सोम का पान किया है, हम अमर हो गए, हमने प्रकाश में प्रवेश पा लिया, हमने देवताओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। शनैः शनैः सोम ने रोग-नाशक उपयोगिता की शक्ति प्राप्त कर ली जिससे अंधों को देखने और लंगड़ों को चलने की शक्ति प्राप्त होती थी। पाश्चात्य विद्वान् विटनो का कथन है कि 'सरल-चित्त आर्य लोगों ने, जिनकी समस्त पूजा आश्चर्यमय शक्तियों की ओर प्राकृतिक घटनाओं की होती थी, शीघ्र ही यह अनुभव किया कि उक्त तरल पदार्थ में आत्मिक शक्तियों को ऊँचा उठाने का सामर्थ्य है और वह एक प्रकार का अस्थायी उन्माद उत्पन्न कर देता है, जिसके प्रभाव से मनुष्य ऐसे-ऐसे कार्य कर डालने की ओर प्रवृत्त हो जाता है और उनके लिए उसमें शक्ति भी आ जाती है तथा इस

---

१. "आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारा मथ्नादन्यं परिश्येनो अद्रेः।"
—ऋग्वेद १।९३।६

२. ऐत० ब्राह्मण, ३.१

३. ऋग्वेद, ९।१।१

४. ऋग्वेद, ८।४८।३

शक्ति को देने वाला वह सोम का पौधा उनके लिए वनस्पति का राजा बन गया तथा मदिरा तैयार करने की विधि पवित्र यज्ञ बन गई।"

**इन्द्र**—वैदिक युग में इन्द्र को प्रमुख देवता माना गया है। वैदिक परम्परा एवं मान्यताओं में इन्द्र की महिमा अपार है, अकथनीय है। आकाश या द्यौ जिसे पहले सब देवताओं का पिता माना जाता था, वही इन्द्र के आगे नतमस्तक होता है। कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि "भय या सन्त्राण के कारण ही धर्म उपजे हैं। यदि बिजली की कड़क और चमक हमें नहीं सिखाती तो हम किसी देवी देवता को न मानते"। इन्द्र भी कहता है कि "जब मैं आँधी तूफान भेजता हूँ या बिजली चमकाता हूँ तब तुम मुझे मानते हो।" इन्द्र की उत्पत्ति जल एवं मेघ से है। वह वज्र धारण करता है एवं अन्धकार पर विजय पाता है। वह हमें प्रकाश एवं जीवन देता है। वह दैवीय आत्मा का रूप धारण कर लेता है, सारे संसार का एवं प्राणिमात्र का शासक बन जाता है और मनुष्यों के अन्दर सर्वोत्तम विचारों व मनोभावों के लिए अन्तःप्रेरणा उत्पन्न करता है[1]—

**"एकराळस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।**
**माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्नन्नेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः॥[1]**

आलोच्य ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्द्र एक युद्ध देवता के रूप में चित्रित हैं। युद्ध के समय इन्द्र के साथ मरुतों, वरुणों और विष्णु का भी चित्रण है। ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्द्र देवों के अधिपति हैं। देवों और प्रजापति ने मिलकर इनका राज्याभिषेक किया था।[2] इन्द्र शक्ति का देवता है। जिसकी सहायता के बिना मनुष्य कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकते, जिसका बाण पापियों का नाश करता है। वृत्र का वध करने के कारण इसको वृत्रह्न भी कहा जाता था। वृत्र और इन्द्र को विद्वानों ने आसुरी शक्ति और दैवी शक्ति के रूप में स्वीकारा है। इन्द्र का अन्य अनेक प्रकार से भी वर्णन मिलता है। इसको सूर्य, त्वष्टा, वेन, वृषा, देवलोक आदि नाम दिए गए हैं।

**वरुण**—'वरुण' यह शब्द 'वर्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है ढक लेना अथवा पूर्ण कर लेना। वरुण सात किरणों से युक्त है और अन्तरिक्ष में रहता है[3]—

**तमू षु समना गिरा, पितॄणां च मन्मभिः।**
**नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये॥**

---

१. ऋग्वेद ८।३७।३
२. ऐतरेय ब्राह्मण, ३८।१
३. ऋग्वेद ८।४१।२

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि वरुण अन्तरिक्ष स्थानीय विद्युत है। विद्युत में स्थित सात रंग की किरणें ही वरुण की सात बहनें हैं। वरुण आकाश के तारामंडित विस्तृत क्षेत्र को मानो एक लम्बे चोगे से समस्त जीव-जन्तुओं एवं उनके निवास स्थानों सहित आच्छादित करता है। वरुण के व्यक्तित्व को शनैः शनैः परिवर्तित करते-करते आदर्श रूप दे दिया गया। वह समस्त विश्व का निरीक्षण करता है। जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में चक्र के सभी अरे आश्रित रहते हैं, उसी तरह वरुण में सभी ज्ञान आश्रित हैं—

"यस्मिन् विश्वानि काव्या, चक्रे नाभिरिव श्रिता।
त्रितं जूती सपर्यत व्रजे गावो न संयुजे
युजे अश्वाँ अयुक्षत नभन्तामन्यके समे॥"

वरुण को अर्पित सूक्तों में हम पापों के लिए क्षमा की प्रार्थना ही पाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वैष्णवों और भागवतों का आस्तिक्यवाद, जिसमें भक्ति पर बल दिया गया है, वैदिक वरुण की पूजा का ही रूप प्रतीत होता है, जिसमें पाप सम्बन्धी ज्ञान एवं उसके लिए दैवीय क्षमा पर विश्वास प्रकट किया गया है। प्रो० मैकडानल का कथन है, "वरुण का स्वरूप उच्चतम प्रकार के एकेश्वरवाद में जो दैवीय शासक का रूप है, उससे सादृश्य रखता है।"[1] किसी-किसी ऋचा में 'वरुण' की 'मित्र' के साथ स्तुति की गई है। वहाँ 'मित्र' से प्रकाश या दिन और 'वरुण' से अन्धकार या रात्रि अभिप्रेत है। कहीं-कहीं 'वरुण' का 'अदिति' का पुत्र कहा गया है।

**सूर्य**—महान भारतीय विद्वान् योगी श्री अरविन्द के मतानुसार "वेद रहस्यमय सिद्धान्तों एवं गूढ़ दार्शनिक ज्ञान से भरे हुए हैं। उनके मत में सूक्तों में वर्णित देवता मनोवैज्ञानिक व्यापारों के संकेत हैं। सूर्य मेधा को उपलक्षित करता है, अग्नि इच्छा को और सोम मनोभावों को। गायत्री मंत्र भी सूर्य को सविता के रूप में मानकर सम्बोधित किया गया है "आओ हम सविता के उस अर्चनीय तेज का ध्यान करें जिससे कि वह हमारी बुद्धियों को ज्ञान द्वारा प्रकाशित करे—

"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्"

सूर्य द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता है। वह संसार में प्रकाश एवं जीवन का कर्ता है। सूर्य की पूजा मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। प्लेटो के मतानुसार सूर्य धर्म का प्रतीक स्वरूप हैं। चर और अचर जगत् के आत्म-तत्त्व के रूप

---

१. Indian Philosophy. —By Dr. Radhakrishnan

में सूर्य का वर्णन मिलता है। सूर्य से दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गई है। सूर्य जगत् का रचयिता और शासनकर्ता भी है।

सम्पूर्ण सूक्तों में विख्यात 'सवितृ' भी सूर्यदेवता है। 'सविता' का वर्णन स्वर्णाक्षि, स्वर्णहस्त और स्वर्णजिह्वा वाले रूप में मिलता है। 'कौषीतकि ब्राह्मण' के अनुसार सविता ने देवों को स्वर्ग जाते समय प्रतोची दिशा का ज्ञान कराया। गोपथ ब्राह्मण में आदित्य को सविता बताया गया है। डा० रेले ने सविता को कर्म में प्रेरित करने वाली शक्ति माना है। यह अन्न का उत्पादक है।

**विष्णु**—सूर्य ही विष्णु के रूप में सब लोकों को धारण करता है। अग्नि और सोम की भाँति यह भी सब देवताओं और यज्ञों का प्रतीक है। वैदिक साहित्य में विष्णु के तीन पदों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। उसके लिए कहा जाता है कि विपद्ग्रस्त मनुष्य के लिए उसने पृथ्वी को तीन पगों में नाप लिया।

**उषा**—ऋग्वेद के अनुसार उषा सुन्दरी युवती है, जो कभी भी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होती। असीम प्रभातवेला में जो दिग्दिगन्त में अपनी प्रकाशरश्मियाँ विकीर्ण करती हैं, उषा देवी के रूप में प्रकट होती है तथा जिसे प्रातःकाल की उज्जवल कन्या के रूप में सूर्य प्रेम करता है। किन्तु जो सूर्य के सामने तिरोहित हो जाती है जबकि वह अपनी स्वर्णिम किरणों से उसका आलिंगन करना चाहता है। ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित उषा प्रजापति की पुत्री है।

**पर्जन्य**—वेदों में पर्जन्य आकाश का दूसरा नाम है। अथर्ववेद में कहा है—

**······पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।**[1]

अर्थात् पृथ्वी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ, पर्जन्य पिता है। वह हमारी सहायता करे। एक अन्य स्थान पर पृथ्वी को पर्जन्य की पत्नी कहा है। पर्जन्य मेघ और वर्षा का देवता है। वह देवता के समान इस सम्पूर्ण विश्व पर शासन करता है। वह सब प्राणियों का आश्रय है। सभी स्थावर-जंगम पदार्थों का वह आत्मा है।[2] ऋग्वेद में पर्जन्य का कल्याणकारी रूप में वर्णन मिलता है। यथा—

**अच्छावद······महान्तं कोशम्······कमुत प्रजाभ्योऽविद्योमनीषां॥**

---

१. अथर्ववेद, १२।१।१२

२. ऋग्वेद, ५।८३

जब पर्जन्य इस धरती की ओर अग्रसर होता है, तब जल-पूरित पवनें चलने लगती हैं और आकाश में चारों ओर बिजलियों की चमक और कड़क भर जाती है। पर्जन्य के प्रकट होते ही धरती पर औषधियाँ उगने लगती हैं। यह पृथ्वी सम्पूर्ण भुवन के लिए हितकारक व मनोहर बन जाती है।

मैक्समूलर की सम्मति में पर्जन्य लिथूएनियन के विद्युतदेवता पेरकुनास के समान है।

**मरुद्**—इन्द्र के साथ ही साथ युद्ध में उसके सहयोगी रूप में अन्य अनेक छोटे-छोटे देवता अन्तरिक्ष सम्बन्धी अन्य प्रकार के चमत्कारों का प्रतिनिधित्व करते हैं यथा वात या वायु, मरुद्गण और रुद्र भयंकर शब्द करने वाला। 'मरुत्' शब्द का अर्थ है मारक या संहारक। वायु के विषय में ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि यह वायु कहाँ उत्पन्न हुआ और कहाँ से कैसे प्रवाहित होता है? यह जो वायु सारे विश्व और देवगणों का जीवनाधार एवं उत्पादक है, जो सब देवताओं का संचालक है, वह वायु कहाँ से प्रादुर्भूत होता है? वह देवता सर्वत्रगति करता है, जहाँ कहीं भी वह सुनता है, उसके शब्द सुनाई पड़ते हैं।[1] मरुद्गण उन बड़े-बड़े आँधी-तूफानों के देवता हैं जिनका भारतवासियों को प्रतिदिन अनुभव होता है। साधारणतः मरुद्गण का वर्णन शक्तिपूर्ण और संहारक रूप में है परन्तु कभी-कभी दयालु और परोपकारक भी सिद्ध होते हैं—वे एक कोने से दूसरे कोने तक संसार पर वेग से प्रहार करते हैं अथवा वायु को शुद्ध करते हैं और वर्षा लाते हैं—

**"क्व वः सुम्ना नव्यांसि मरुतः क्व सुविता। क्वो विश्वानि सौभगा"।**
**"सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः। मिहं कृण्वन्त्यवाताम्"।**
**"गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि"।**[2]

यदा कदा उन्हें भी इन्द्र की भाँति द्योः का पुत्र बताया गया है किन्तु वे रुद्र के पुत्र भी कहे गये हैं।

**रुद्र**—ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में 'रुद्र' का स्तवन किया गया है। संहारक एवं संरक्षक, दोनों ही रूपों में 'रुद्र' का वैशिष्ट्य व्यक्त हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'रुद्र' को भयानक देवता माना गया है "घोरा वै रुद्राः"। ऐतरेय ब्राह्मण में आता है कि अपनी पुत्री पर वासनापूर्ण दृष्टि रखने वाली प्रजापति को दण्डित करने के लिए देवताओं ने अपने उग्र अंश से 'रुद्र' को उत्पन्न किया था। यहाँ इसका नामोल्लेख

---

१. ऋग्वेद, १०।१६८।३४

२. ऋग्वेद, १।३८।३, १।३८।७, १।८६।१०

नहीं किया है अपितु 'एषदेवोऽभवत्' कहकर सम्मान प्रकट किया है। 'रुद्र' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक अन्य कथा भी है कि अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा द्वारा उषा में सिंचित रेतस् को प्रजापति ने कलश में एकत्रित किया तो उससे सहस्र नेत्रों और सहस्रों पैरों वाला हिरण्यगर्भ उठा। प्रजापति ने इसके भव, शर्व, उग्र, पशुपति, महान्देव, रुद्र, ईशान तथा अशनि ये आठ नाम रखे। रुद्र अपनी भुजाओं में वज्र धारण करता है और आकाश से बिजली के बाण छोड़ता है। बाद में वही कल्याणकारी शिव बन जाता है।[१]

इसी प्रकार कुछ देवियों का भी विकास हुआ है। ऋग्वेद के 'नदी' सूक्त में 'सिन्धु' नदी की एक देवी के रूप में ख्याति है। जैसाकि अन्य नदियों की भी देवी रूप में उपासना की गई है उससे वैदिक देवतवाद के विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है तथा भारतवासियों की सभ्यता और संस्कृति एवं एकात्मकता को जानकारी भी होती है।

'सरस्वती' जो पहले नदी का नाम था, शनैः शनैः विद्या की देवी बन गई। ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में सरस्वती को साक्षात् रूप से वाणी की ही देवी माना गया है—"वाग्वै सरस्वती"। तै० ब्राह्मण में यह पुष्टि करने वाली "सरस्वती पुष्टिः", गर्भस्थ भ्रूण की रक्षक "सरस्वतीयोन्यां गर्भमन्तः .... सुकृतं बिभर्ति" भी बतायी गयी है। आधुनिक विद्वान् इसको मानव-मस्तिष्क को शक्ति मानते हैं—"Saraswati must bea power of Higher mind".[२]

वाक् वाणी की देवी है। अरण्यानी जंगल की देवी है। शनैः शनैः प्राकृतिक जगत् से आध्यात्मिक जगत् की ओर तथा भौतिक से आत्मिक की ओर विकास हुआ तो कतिपय गुणों को लेकर जो परमात्मा के यथार्थ भाव के साथ जुड़े हैं उन्हें देवत्व रूप दिया गया। इस प्रकार के अधिकांश देवी-देवता का संकेत ऋग्वेद के अन्तिम भाग में मिलता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ये सब वर्णन प्रतीकात्मक हैं जो विविध भावों को प्रकट करते हैं। सभी एक ही शक्ति के विविध रूप दिखाई देते हैं। दिव्य रूप में ये सभी एक ही परमतत्त्व के वाचक हैं। वैदिक ऋषि के लिए समग्र पृथ्वी ही सजीव थी। उसे कण-कण में देवत्व की अनुभूति होती थी। बादलों की गर्जना को ऋषियों ने कहा इन्द्र देव गर्ज रहे हैं। वर्षा हो रही है तो ऋषियों ने कहा—पर्जन्यदेव अपनी जलपूर्ण निधि पृथ्वी पर बिखेर रहा है। उषा के प्रकट होने को ऋषियों ने कहा कि उषा सुन्दरी किसी नृत्यांगना के समान अपनी कला का वैभव

---

१. ऋग्वेद, ७।४६।३, १।११४

२. Studies in Vedic Interpretation, p. 112 by A.B. Purani

बिखेरती हुई क्षितिज मंच पर धीरे-धीरे प्रकट हो रही है। मैक्समूलर लिखते हैं कि "धार्मिक जनों को जो तुलनात्मक दैवत-विज्ञान का मजाक करते हैं, मैं यह कहना चाहूंगा—"जाओ और स्वयं अपनी आँखों से देख लो।" अर्थात् भारत जाइए और वहाँ वेदों का स्वाध्याय कीजिए। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का अध्ययन करते-करते ही आप सौर दैवतवाद के विरोध में अपनी आवाज उठाना बन्द कर देंगे।"[१]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वेद में मानव तथा प्रकृति को एक ही उल्लासमय प्राणतत्त्व में स्फुरित पाते हैं। आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी सर्वत्र मानवीय कल्पना और जीवन से प्रकृति का दैवीकरण हुआ है। एक ओर प्रकृति का प्रत्यक्ष बोध है जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ, पवन, समुद्र, विद्युत, वन, वृक्ष, अग्नि, वर्षा सभी को चित्रमय और भावमय स्थान मिला है, दूसरी ओर व्याप्त सत्ता के रूप में इन्द्र, वरुण, उषा, पृथ्वी, मरुत्, अग्नि आदि देवता हैं, इनके माध्यम से वैदिक द्रष्टा, सत्य, शक्ति, प्रकाश, उर्जा, स्फूर्ति, आवेग आदि प्रत्ययों का आवाहन करता है।

---

१. India what can it Teach us ?

# वैदिक ऋषियों की दृष्टि में शिक्षा के आदर्श

—डॉ० (श्रीमती) शशिप्रभा कुमार

वेद ईश्वरीय ज्ञानराशि है। 'वेद' का अर्थ ही ज्ञान है किन्तु ईश्वरीय होने से वेद सत्यज्ञान है और सत्यविद्याओं का भण्डार है। इस विद्या की निधि का कोई अन्त नहीं; वह कभी न जीर्ण होने वाला, सदा जीवन, प्रेरणा एवं ज्ञान देने वाला शाश्वत स्रोत है।[1] वेद-मन्त्रों के द्रष्टा 'ऋषि' कहे गये[2]—कल्प के आदि में जिन पुण्यात्माओं के अन्तःकरण में वेदज्ञान प्रकाशित हुआ, वे मानवजाति की प्रथम, अमैथुनी सृष्टि से जन्मे थे।[3] तपःपूत योगयुक्त इन ऋषियों को वेद में विप्र, वेधस्, कवि, ऋषि, मनीषी और मुनि आदि पदों से अभिहित किया गया है,[4] उनका जीवन श्रेष्ठ, निर्मल, निर्विकार था, जो नामधेय (वेद) इनके गुहारूप अन्तःकरण में निहित था, वह आत्मप्रेरणा और ब्रह्मप्रेरणा से आविष्कृत हुआ।[5] वेदज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् यावज्जीवन वे साक्षात्कृतधर्मा ऋषि उन अन्य मनुष्यों के लिए इस ज्ञान का उपदेश करते रहे जो स्वयं वेदज्ञान को प्रत्यक्ष कर पाने में असमर्थ थे। शनैः-शनैः जब ह्रास के क्रम में मनुष्यों की तृतीय कोटि उन उपदेशों को यथावत् ग्रहण करने में भी असमर्थ हो गई, तब वेद-वेदाङ्गों का ग्रन्थ रूप में प्रणयन हुआ और उनके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा प्रचलित हुई।[6] शिक्षा, छः वेदाङ्गों में से एक है और इसे वेद रूपी पुरुष का घ्राण कहा गया है।[7]

वेदाङ्ग की दृष्टि से तो अक्षरों एवं शब्दों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा है,[8] किन्तु व्यापक दृष्टि से शिक्षा के चतुर्दश विषय या विद्यायें ही शिक्षा का प्रतिपाद्य कहे जा सकते हैं।[9] वस्तुतः शिक्षा एक वैदिक शब्द है और सर्वप्रथम

---

१. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। —अथर्व०, १०।८।३२

२. ऋषिः दर्शनात्। – निरुक्त, द्वितीय अध्याय

३. वेदालोक, द्वितीय खण्ड, विद्यानन्द विदेह, पृ० २

४. Mookerjee, R.K., Ancient Indian Education, p. 35.

५. ऋ० १०।७१।१

६. निरुक्त, प्रथम अध्याय

७. पाणिनीय शिक्षा, ४१-४२

८. स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षेति। —सायण ऋ०भा०भू०

९. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ —याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय ३

ऋग्वेद[1] में ही इसका प्रयोग हुआ है। √शिक्ष् विद्योपादाने धातु से टाप् प्रत्यय लगाकर शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है। तदनुसार **'शिक्ष्यते उपादीयते विद्या यया सा शिक्षा'** अर्थात् जिसके द्वारा विद्या का उपादान किया जाये, वही शिक्षा है। शिक्षा से जिस विद्या की प्राप्ति की जाती है, वह सार्थक तभी होती है जब अज्ञान के बन्धन से मुक्त कराने वाली हो—**'सा विद्या या विमुक्तये।'**

वैदिक संस्कृति में शिक्षा का उद्देश्य इह लोक में सर्वाङ्गीण 'अभ्युदय' और परलोक में परम 'नि:श्रेयस्' की प्राप्ति रहा है। ऐसी शिक्षा का मूल स्रोत वेद एवं वेदानुयायी शास्त्र ही हैं, जिनमें ऋषियों ने उदात्त भाव भरे हैं। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में आदर्श शिक्षा को परिकल्पना यही है कि उसके द्वारा भौतिकविज्ञान, कला-कौशलादि की उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नयन एवं मनुष्य के अन्तस् में विद्यमान आत्मसत्ता का स्वाभाविक प्रकाशन हो सके। यजुर्वेद में ऋषि ने इन्हें ही विद्या और अविद्या का नाम दिया है[2] तथा इन दोनों के सन्तुलन-समन्वय का सन्देश देते हुए कहा है कि ये दोनों स्थितियां पृथक्-पृथक् रूप से हानिकारक हैं, अत: केवल एक की नहीं, अपितु दोनों की साधना करनी चाहिए, यही वैदिक शिक्षा का प्रथम पाठ है।[3] इसी दृष्टि से मुण्डकोपनिषद् में विद्या का परा और अपरा-दो भागों में विभाजन किया गया है। ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय दिलाने वाली विद्या अपरा कही गई है एवं इस भवबन्धन से मुक्त कराकर परमतत्त्व का ज्ञान कराने वाली विद्या परा है—**अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'**।[4] वैदिक ऋषियों की दृष्टि में आदर्श शिक्षा-प्रणाली में परा एवं अपरा दोनों का समन्वय नितान्त अपरिहार्य है।

वस्तुत: वैदिक ऋषियों की दृष्टि में मनुष्य की मूल प्रकृति आध्यात्मिक है और इसी के कारण वह सृष्टि के अन्य प्राणियों से विलक्षण है, इसीलिए उन्होंने शिक्षा को शरीर, बुद्धि, मन एवं आत्मा—सभी के विकास का साधन माना है।[5] अत: वैदिक आदर्शं के अनुसार शिक्षा भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित न रहकर 'आत्मचिन्तन' का उच्च लक्ष्य निर्धारित करती है, तदनुसार शिक्षा का सर्व-प्रमुख उद्देश्य 'आत्मज्ञान' की उपलब्धि है—कोरी किताबी शिक्षा किसी काम की नहीं। सारे वेदों और विद्याओं का परम प्रतिपाद्य वही आत्मतत्त्व है, जो उसे नहीं जानता,

---

१. ऋ०, २।१६।९ तथा ३।४३।५

२. यजु० ४०।१२

३. वैदिक सम्पदा, वीरसेन वेदश्रमी, पृ० ३१५

४. मुण्डक० १।१५

५. हृदा तष्टेषु मनसा जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोह ब्रह्माणो विचरन्त्युत्वे ।। —ऋ० १०।७१।८

वह वेद पढ़कर भी क्या करेगा—जैसा कि कहा गया है—

**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।**[1]

जो केवल वेद की ऋचाओं का उच्चारण ही करता है, उनके अन्दर सन्निहित परमात्मतत्त्व को नहीं पहचानता उसके लिए परा विद्या वेद भी 'अपरा' बनकर रह जाता है और वह कभी कल्याण के मार्ग को नहीं जान पाता।[2]

अतः 'आत्मज्ञान' रूप चरम ध्येय की सिद्धि हेतु वैदिक ऋषियों ने शिक्षा का यह आदर्श प्रतिष्ठित किया कि यद्यपि वेदाङ्ग रूप में शिक्षा के लक्षणानुसार वेद-मंत्रों का पठन या उच्चारण भी महत्त्वपूर्ण है तथा शिक्षार्थियों को शिक्षक द्वारा बोले जानेवाले प्रत्येक वर्ण का शुद्धता से उच्चारण करना चाहिए—यह शिक्षा का प्रथम सोपान अवश्य है, तथापि अर्थ-बोध या आत्मज्ञान के बिना यह व्यर्थ है। अर्थ-बोध की यह प्रक्रिया बड़ी जटिल एवं लम्बी है, इसमें गम्भीर चिन्तन एवं मनन की अपेक्षा होती है। इसके लिए शिक्षार्थियों को दृढ़ अनुशासन एवं संयम का पालन करना होता है और 'व्रतचारी' बनना पड़ता है। अतः जैसे ग्रीष्म ऋतु में मेंढक शान्त हो जाते हैं और वर्षा आने पर पुनः सक्रिय हो जाते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होते ही शिक्षार्थी भी विचार-विमर्श में भाग लेना आरम्भ कर देते हैं।[3] इस भाँति, ऋषि या आचार्य अपने उपदेश से शिष्यों को 'श्रुतर्षि' बना देते हैं अर्थात् जो शिष्य पहले गुरुमुख से सत्य का श्रवण करने से 'श्रुत' थे—वे सत्य का साक्षात्कार करने से 'ऋषि' बन जाते हैं—यही वैदिक शिक्षा का परम लक्ष्य है। इसी लिए वैदिक ऋषि पुनः-पुनः यही उद्घोष करते हैं कि जो वेद पढ़कर भी उनके अर्थ या प्रतिपाद्य तत्त्व को नहीं जानता, वह तो निरा ठूंठ है और इसके विपरीत जो उस तत्त्व या अर्थ को पा लेते हैं, वे ही समग्र कल्याण के भागी होते हैं[4]—अर्थात् सच्चे अर्थों में शिक्षित होते हैं।

अन्य शब्दों में, वैदिक ऋषियों के अनुसार सच्ची शिक्षा का लक्ष्य केवल अक्षरज्ञान या पुस्तकीय ज्ञान का संग्रह नहीं, अपितु सर्वतोमुखी उन्नति या विकास है और उसके लिए आत्मज्ञान अपरिहार्य है। इस दृष्टि से छान्दोग्य उपनिषद् का वह स्थल उल्लेख्य है जहाँ नारदजी सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने वेद, इतिहास,

---

१. ऋ० १।१६४।३९

२. अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्। —ऋ० १०।७१।५

३. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषु॥ —ऋ० ७।१०३।१

४. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

—निरुक्त, प्रथम अध्याय

पुराण, विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, ललितकला तथा ब्रह्म-विद्या—सब पढ़े हैं और वे 'मन्त्रविद्' बन चुके हैं किन्तु 'आत्मविद्' नहीं बन सके हैं अर्थात् उनके पास पुस्तकीय ज्ञान तो है, किन्तु आत्मज्ञान नहीं, अतः उनकी शिक्षा अपूर्ण है। तब सनत्कुमार ने उन्हें समझाया कि विद्या का आरम्भ तो पुस्तकीय ज्ञान से होता है किन्तु वही चरम या अन्तिम साध्य नहीं है, परम लक्ष्य तो आत्म-ज्ञान ही है और उसके लिए अपनी सम्पूर्ण अन्तर्निहित शक्तियों को जागृत करना होगा'[1]—यही सच्ची शिक्षा का उद्देश्य है। इसी भाँति, बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति की तीन 'दकार' वाली शिक्षा[2] क्रमशः देवों, मानवों और दानवों को यही सन्देश देती है कि वैदिक ऋषियों के अनुसार व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास ही शिक्षा का लक्ष्य है।

इस उदात्त एवं परिष्कृत शिक्षा की निष्पत्ति हेतु वैदिक ऋषियों ने चरित्र-निर्माण को अतीव महत्त्व दिया है। इसके लिए जन्म से पूर्व ही, बालक के गर्भावस्था में आते ही बीजरूप में संस्कार पद्धति से शिक्षण-व्यवस्था भी परिकल्पित की गई। वैदिक संस्कृति में विहित गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म और उपनयन संस्कार सूक्ष्म शिक्षणक्रम के ही विविध स्तर हैं। इनमें भी शिक्षा की दृष्टि से उपनयन संस्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसके विषयों में ऋग्वेद[3] और अथर्ववेद[4] में स्पष्ट निर्देश उपलब्ध हैं। तदनुसार जब बालक ब्रह्मचारी होकर, दीक्षा लेकर आचार्य के पास शिक्षा के लिए आता था, तब आचार्य उसे अपने हृदय में उसी प्रकार स्थान देता था जैसे माता सन्तान को अपने गर्भ में रखती है। तब आचार्य स्वयं भी व्रत लेकर बालक को आश्वासन देता था कि मैं तेरे हृदय को अपने हृदय में लेता हूँ, तेरे चित्त को अपने चित्त के अनुकूल बनाता हूँ[5] और तेरे जीवन को दिशा दर्शन कराने का दायित्व लेता हूँ। शिक्षा का इससे उत्कृष्ट आदर्श क्या हो सकता है? वस्तुतः वैदिक शिक्षा के साथ दीक्षा या व्रत की भावना अनुस्यूत रहती थी—व्रतचारी शिष्यों में से आचार्य उनकी योग्यता एवं रुचि के आधार पर शिष्यों का वरण करते थे जबकि अन्यों को दूसरे व्यवसायों में नियुक्त कर दिया जाता था।[6]

वैदिक ऋषियों की दृष्टि में ऐसी आदर्श शिक्षा के लिए एक विशेष प्रकार

---

१. छान्दोग्य ७।१।२

२. बृहदा० ५।२।१

३. युवा सुवासा परिवीत आगात्स उ श्रेया-भवति जायमानः।
तं धीरा : सः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥ —ऋ० ३।८।४

४. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। —अथर्व० ११।५।३

५. पारस्कर गृह्यसूत्र २।१६

६. ऋ० १०।७१।६

के वातावरण या परिवेश की आवश्यकता होती है, अतः 'गुरुकुल' शिक्षा के केन्द्र बनाये गये जहाँ विद्यार्थी नगर के कोलाहल से दूर, शान्त वनस्थली के एकान्त, शुद्ध वातावरण में आचार्य के 'अन्तेवासी' बनकर शिक्षा ग्रहण करते थे। जब आचार्य बिना किसी जाति, वर्ग या सम्प्रदाय गत भेदभाव के, सभी शिक्षार्थियों के साथ मिलकर 'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु', का पाठ करता था, तब विद्वेष-वैमनस्य की दुर्भावनायें स्वयमेव विगलित हो जाती थीं। श्रीकृष्ण की भाँति सम्पन्न राजकुमार एवं सुदामा जैसे विपन्न ब्राह्मण की प्रगाढ़ मैत्री वैदिक गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली से ही पनप सकी, इसमें सन्देह नहीं। अत: वैदिक ऋषियों द्वारा प्रतिष्ठापित शिक्षा के आदर्शों का अधिष्ठान 'गुरुकुल' ही बनें।

गुरुकुल में रहनेवाले शिक्षार्थियों के लिए ब्रह्मचारिता का विधान किया गया। वास्तव में वैदिक शिक्षा-प्रणाली का मूल, सर्वप्रधान आदर्श **ब्रह्मचर्य** का अभ्यास ही था। शिक्षार्थियों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य माना गया क्योंकि इसी के द्वारा उनका शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास संभव है। वैदिक ऋषियों का उद्घोष है—

**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।**[1]

ब्रह्मचर्य संयम और साधना का वह सनातन आधार है जिसपर ज्ञान प्रतिष्ठित होता है; ब्रह्मचर्य-पालन से प्रबल बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है, अतः ब्रह्मचारी के मस्तिष्क में प्रखर इच्छा शक्ति और शरीर में अमोघ कार्यशक्ति रहती है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने न केवल कन्याओं के लिए ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य बताया[2], अपितु आचार्य के लिए भी ब्रह्मचर्य का अभ्यास आवश्यक घोषित किया क्योंकि यह तो निश्चित है कि भोगी-विलासी आचार्य, श्रेष्ठ विद्यार्थी नहीं बना सकता। अतएव वेद का सन्देश है—

**"आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।"**[3]

इस भाँति वैदिक ऋषियों के अनुसार शिक्षा द्वारा चरित्र-निर्माण का प्रमुख साधन ब्रह्मचर्य ही माना गया है, इसीलिए आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत विद्यार्जन-काल को ब्रह्मचर्य-आश्रम कहा गया। चरित्र-निर्माण के लिए व्यक्तित्व के सभी अङ्गों की शुद्धता पर बल दिया गया है। शिक्षक के लिए प्रयुक्त होने वाला 'आचार्य' शब्द ही आचार-शुद्धता को सूचित करता है[4] तथा आचार-शुद्धि के लिए

---

१. अथर्व० ११।५।१९

२. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। —वही, ११।५।१८

३. वही, ११।५।१७

४. आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।

—निरुक्त, द्वितीय अध्याय

शरीर-शुद्धि भी आवश्यक है। इसीलिए यजुर्वेद में आचार्य शिष्य को सम्बोधित करते हुए कहता है कि मैं तेरी वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, मेढ्र, पायु और चरित्र—अर्थात् समस्त व्यवहारों को शुद्ध करता हूँ ताकि ये सब प्रशस्त गुणयुक्त हो सकें।[1]

वैदिक परम्परा में **गुरु-शिष्य-सम्बन्ध** भी उदात्त आदर्शों को प्रकट करते हैं। वैदिक ऋषियों ने यह सत्य अनुभव कर लिया था कि शिक्षक एवं शिक्षार्थी के बीच पूर्ण सौहार्द न होने पर सच्ची शिक्षा असम्भव है इसीलिए उनके अनुसार शिष्य के मन में गुरु के प्रति अविचल श्रद्धा होनी अनिवार्य है। यही बात उपनिषत्कारों ने **'आचार्यदेवो भव'** इस दीक्षान्त वाक्य में प्रकट की है।[2] महर्षि यास्क का स्पष्ट कथन है कि शिष्य गुरु को माता-पिता के समान समझे और उससे कभी द्रोह न करे क्योंकि विद्या ऐसे छात्रों की रक्षा नहीं करती जो मन, वाणी और कर्म से गुरु का आदर नहीं करते—

**य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।**
**तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥**
**अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।**
**यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥**[3]

दूसरी ओर, शिक्षक कैसा हो, इसका वैदिक आदर्श भी अतीत श्रेष्ठ रूप में एक ऋचा में इस भाँति प्रस्तुत किया गया है—शिक्षक दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण **'देव'** तथा वरण करने योग्य विशेषताओं से युक्त होने के कारण **'वरुण'** है; शिक्षक का लक्ष्य केवल शिक्षार्थियों को विविध विषयों की पुस्तकें पढ़ाना ही नहीं, अपितु उनके जीवन में **'क्रतु'** (कर्तृत्व, कार्य करने की शक्ति) और **'दक्ष'** (दाक्षिण्य, कार्य कुशलता) के संस्कार समङ्कित करना भी है—साथ ही उनकी **'धी'** या धारणा-बुद्धि को धवल बनाना है तथा सदाचाररूपी **'सुतर्मा'** नौका पर आरूढ़ कराके सदाचार की स्थापना भी करनी है—

**"इमां धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि ।**
**ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नाव रुहेम ॥"**[4]

इस एक मंत्र में ही मानो वैदिक ऋषियों ने शिक्षा के समग्र आदर्श सन्नि-

---

१. वाचं ते शुन्धामि, प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि, मेढ्रं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि, चरित्रांस्ते शुन्धामि। —यजु० ६।१४

२. तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षा वल्ली

३. निरुक्त, द्वितीय अध्याय

४. ऋ० ८।४२।३

विष्ट कर दिए हैं। यजुर्वेद के एक मंत्र में भी अध्यापक के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो **'मियेध्य'** (प्रशस्त, नीर-क्षीर-विवेकी) **'अग्ने'** (तेजस्वी **'देववीतमः'** (विद्वानों को अत्यन्त इष्ट **'विधूमम्'** (निर्मल, पवित्र) तथा **'दर्शतम्, अरुषम्'** (दर्शनीय व्यक्तित्व का स्वामी, अकोपन) हो, वही शिक्षणालय का आचार्य बनने योग्य है।[1]

वैदिक ऋषियों की दृष्टि में ऐसे आदर्श विद्वान् ही **'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो'** कहे जाते हैं तथा इन्हीं के विषय में **'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि'** कहा गया है।[2] ऐसे उत्तम आचार्य ही अपने शिष्यों को अविद्या-बन्धन से मुक्त करा सकते हैं[3] तथा ऐसे ज्ञानी गुरु से ही शिष्य यह विनती कर सकता है कि हे गुरो! मुझे जनता का रक्षक बना दे, हे सरलता के साथ धर्म पथ पर चलने वाले! मुझे राजा बना दे, ऋषि बना दे, सोम पान करने वाला बना दे और दैवी सम्पदाओं या 'अमृत' से समन्वित कर दे।[4]

जैसा कि स्पष्ट ही है, यहाँ आचार्य को **'ऋजीषिन्'** कहा गया है अर्थात् 'सरल स्वभाव वाला' क्योंकि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में ऋजुता या आर्जव विद्वान् का प्रमुख गुण है[5] तथा 'अमृत' पद का प्रयोग यहाँ मोक्ष के लिए हुआ है। स्वयं वेद की वाणी से ही अमृत की उपलब्धि होती है—**'विद्ययाऽमृतमश्नुते'**।[6]

अतः वह विद्या ही क्या जो मोक्ष या अमृत का पथ प्रशस्त न करे? अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने की प्रार्थनायें यही ध्वनित करती हैं कि वैदिक शिक्षा का सर्वोच्च आदर्श अमृतत्व की सिद्धि है। ऐसे उदात्त आदर्श-हेतु मार्गदर्शन करने में वे ही गुरु सक्षम हैं जो केवल **'श्रोत्रिय'** ही नहीं, **'ब्रह्मनिष्ठ'** भी हों। ऐसे परा विद्या के उपदेष्टा आचार्य के पास शिष्य को श्रद्धा रूपी समिधा हृदय में लेकर, शान्त चित्त एवं इन्द्रिय जयी होकर जाना चाहिए तथा विधिवत् आये हुए ऐसे सच्छिष्य को अविद्या के पाश से मुक्त करना ही गुरु का कर्त्तव्य है जिससे कि वह अक्षर तत्त्व को जान सके।[7]

---

१. सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्तं दर्शतम्॥ —यजु० ११।३७

२. ऋ० १०।७१।२

३. ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः। —यजु० ६।८

४. कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद् राजानं मघवन् ऋजीषिन्।
कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य, कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षा॥ —ऋ० ३।४३।५

५. यजु० ६।१२

६. यजु० ४०।१४

७. मुण्डक० १।२।१२-१३

वैदिक ऋषियों के अनुसार शिक्षा तथा वेदाध्ययन का अधिकार सभी मानवों को समान रूप से है[1] क्योंकि जो भी पदार्थ ईश्वर द्वारा रचित हैं, उनके दाय भागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं, किसी वर्ण विशेष के नहीं और वैसे भी वैदिक परम्परा में वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मों के आचार-विभाग से ही होती है।[2] किन्तु उल्लेखनीय है कि शिक्षा का अधिकार सभी मानवों को समान रूप से होने पर भी पात्रता-अपात्रता का निर्देश वैदिक ऋषियों ने अवश्य किया है। निरुक्त में आचार्य यास्क ने विद्या-ब्राह्मण-संवाद उद्धृत किया है जिससे संकेत मिलता है कि शिक्षक द्वारा कैसे शिष्य को अङ्गीकार करके विद्या का उपदेश देना चाहिए—योग्य व्यक्ति को दी गई विद्या ही शक्ति सम्पन्न होती है, अयोग्य को दी गई नहीं। शुचि, अप्रमत्त, मेधावी और ब्रह्मचर्योपपन्न शिष्य ही विद्या का अधिकारी है तथा असूयक, अनृजु एवं अयत शिष्य को दी गई विद्या फलवती नहीं होती।[3]

इन निर्देशों से सुव्यक्त है कि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सच्चरित्रता और सुसंस्कार शिक्षा के आधार भूत तत्त्व थे। शिक्षा-ग्रहण के साथ ही शिक्षार्थी में अन्य सद्गुणों का भी आधान होता था और यह सब सम्भव हो पाता था—सर्वथा निःस्पृह, निष्णात, आचारवान् आचार्यों के आदर्श आचरण एवं शिक्षण से। अध्यापन या विद्यादान, धर्मार्थ किया जाता था; धन लालसा से नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से अध्यापन के तीन प्रयोजन थे—धर्म, अर्थ और शुश्रूषाप्राप्ति।[4] इसीलिए महर्षि मनु ने 'ज्ञान' को ही ब्राह्मण का तप कहा है।[5]

अतः वैदिक ऋषियों के अनुसार त्याग-वृत्ति-समन्वित, ज्ञानोपासक, ब्रह्म-वर्चस्व से भरित आचार्य ही आदर्श शिक्षक होता था, तभी तो वह अपने विद्यार्थियों में अखण्ड-सत्य का सकल ज्ञान पाने की वृत्ति विकसित कर पाता था एवं उनके व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करते हुए उन्हें सामाजिक, नागरिक कर्त्तव्यों के प्रति सजग बनाते हुए राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार भी करता था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेद के शब्दों में 'ऋषि' वही है जो

---

१. यजु० २६।२

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, महर्षि दयानन्दकृत, पृ० ३२५-२८

३. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्॥
—निरुक्त, द्वितीय अध्याय

४. अध्यापनं च त्रिविधं धर्मार्थं चार्थकारणात्।
शुश्रूषाकरणं चेति ऋषिभिः परिकीर्त्तितम्॥ —हारीतस्मृति, १।१९

५. ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्। —मनु० ११।२३६

मनुष्य मात्र का हितकारी है,[1] अतः वैदिक ऋषियों की दृष्टि में शिक्षा के उदात्त आदर्श मानवता की मंगलकामना से अनुप्राणित थे, इसीलिए उन्होंने जीवन-कला की शिक्षा ही सच्ची शिक्षा मानी तथा उसी के लिए उद्बोधित किया।[2] आज हमारे देश का दुर्भाग्य है कि ऐसी आदर्श शिक्षा-व्यवस्था पूर्णतः लुप्त होती जा रही है क्योंकि आज न तो वैसे मानवता के सच्चे साधक आचार्य सुलभ हैं और न ही विद्यार्थियों में सच्ची जिज्ञासा या श्रद्धा के भाव दिखाई देते हैं। इसी लिए आज की शिक्षा केवल बौद्धिक विकास करा पाती है, छात्रों का अन्तःकरण सर्वथा असंस्कृत एवं अशिक्षित ही रह जाता है। वस्तुतः खण्ड सत्य का ज्ञान कराने वाली वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली से प्राप्त होने वाली विद्या 'मुक्तये' न होकर 'भुक्तये' हो गई है। अतः जब हमारी शिक्षा-प्रणाली में अर्थ-काम के साथ-साथ धर्म एवं मोक्ष का उद्देश्य भी समाविष्ट होगा, जब शिक्षा का लक्ष्य समग्र व्यक्तित्व का विकास होगा, जब शिक्षा केवल भौतिक उपलब्धियों तक सीमित न रहकर नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष को भी साध्य समझेगी, तभी भारत की युवा शक्ति सृजनोन्मुख होगी, तभी तेजस्वी राष्ट्र का पुनर्निर्माण सम्भव होगा, तभी हमारी संस्कृति पुनः 'विश्ववारा' कहलाने के योग्य बनेगी तथा तभी वैदिक ऋषियों की ये प्रार्थनायें फलीभूत होंगी—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

—अथर्व० १९।७१।१

—०—

१. ऋषिः स यो मनुर्हितः। —ऋ० १०।२६।५

२. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। —कठ० १।३।१४

# The Worship of Sarasvati and Athena : The Cultural Context in Communication

—Archana Daya Shankar

Worship of Goddess Athena in Greek culture and goddess Sarasvati in Hindu culture have been an indispensable part of these two cultures. However interpreting the representation of human archetype in the worship of goddess Athena in Greek culture and goddess Sarasvati in Hindu culture have not been investigated from a communication perspective that is, communication between the worshipped and the worshipper.

In the past their worship has been considered a mythological and religious phenomenon. When the goddess Athena appears in Homer's Iliad, she is the divine protectress of the young warriors and heroes. In the Hindu Vedas, the goddess Sarasvati is associated with a river symbolizing purity and life. The worship of Athena and Sarasvati illustrates what Jung calls "the human collective unconscious." Thus their worship represent much more than the plain religious rituals.

Athena and Sarasvati are the forms that may influence the individual archetype and in the process they affect the perceptions and social realities of their devotees. The images of these goddesses represent the "others" who serve as consorts for their devotees. The individuals' interaction with Athena and Sarasvati form narratives which are subject to various interpretations.

The worship of Athena in Greek culture and Sarasvati in Hindu culture offers an explication about linking and

unifying elements in human communication. Such element of human communication can be observed during the various worship rituals. The devotees would assign attributes and symbols to these goddesses. The imagination and innovation involved in assigning meaning to attributes and symbols helps the devotees in constructing a subjective reality; it enables them in communication their personal desires and wishes to their specific goddess.

After all, "Invention is an ongoing process of creating one's reality, of constructing meaning out of the things, experiences, [ideas, and imagination] ...... Indeed people construct the other in terms of themselves" (Drewal, 1988, p. 1).

In his definition of communication Gary Cronkhite (1986) emphasizes the centrality of symbols in communica-on. He states that "communication is the study of human mbolic activity" (p. 245). Goddess Athena and the goddess rasvati represent specific attributes which are obvious in eir characters. This essay intends to present the interpreta-ion of the attributes of goddess Athena and Sarasvati in cultural context and then show their linking to the phenomenon of human communication.

**Goddess Athena**

The goddess Athena occupies a place of eminence in the Greek Panthenon. Her temple, the Parthenon (Parthenos meaning "virgin"), still dominates the Acropolis in Athens. And:

> "as the Maiden Warrior and patroness of the city of Athens, she came to stand for the highest spiritual ideals and creations of fifth century B.C. Greek patriarchy" (Woolger and Woolger, 1989, p. 67).

For Bolen (1984) Athena is a feminine archetype who thinks logically and clearly. She represents the spirit of the weavers,

the metalworkers, and craftsmen. Her energy is almost wholly extraverted, and her concerns are mostly worldly. "As the companion of heroes she can be sensitive to the way men get along with each other and can help bind groups together. Moreover, she reflects the companionate spirit that the Greek warriors fantasized in their goddess" (Woolger/ Woolger, 1989, p. 71). She worked alongside men in their combats, battles, and wars. Moreover the goddess Athena inspires her devotees for their enterprize, politics, and education. She had that extraordinary ability which binds the Athenian spirit for a common ideal (Bolen, 1984).

**Goddess Sarasvati**

Sarasvati is primarily the goddess of speech, poetry, and music. The Vedic literature consistently addresses her as Vag Devi the goddess of speech. Accordingly she gives eloquence, wisdom, and poetic inspiration. She removes speech defects and thus grants charming speech. Sarasvati is also said to embody the attributes of intellect and wisdom; hence she specializes in promoting success among scholars, philosophers, and among her devotees (Khan, 1978). At the spiritual level it is with her grace that her devotees would be able to transcend their physical constraints through their inner spiritual strengths (Kinsley, 1987).

In Vedic literature Sarasvati's attributes are also associated with a river. As a river goddess she is praised for helping her devotees in crossing from world of ignorance to the shore of wisdom. Her ever-flowing stream of water represents her celestial grace and symbolizes purity.

Being the Goddess of wisdom and knowledge, Sarasvati is particularly favored by the students as the patron of learning; she is described as calm and peaceful. Her iconography illustrates her association with the swan and the flower lotus. In Hindu culture swan is considered a symbol of purity.

According to Hindu belief the swan has a power of distinguishing the pure from the impure, it symbolizes the human potential for analyzing and synthesizing and learning to make right judgement. She is seated on a lotus flower. Here the connotation is that just as the lotus flower transcends itself from the mud, the goddess Sarasvati floats above the muddy imperfections of the physical world (Kinsley, 1987).

Sarasvati's association with the river, the flower lotus, and the swan relates to the religion of the Vedic Aryans. This should be noted that the religion of the Vedic Aryans was primarily a portable religion. As explained by Kinsley (1987), that in the beginning the Aryan religion did not require permanent temples or places of worship. For them the domestic altar was the centre of worship. Realistically speaking such religion was appropriate for the Aryans who, prior to their settling down in a place of their choice, had been nomadic people.

Having said, that the worship of Athena and Sarasvati should be assessed in light of the purposeful message they reflect in symbolic interaction. The author of this paper will now focus on the interpretation of communication elements in the worship of Athena and Sarasvati.

In her article, "The Interpretive Perspective : An Alternative to Functionalism," Linda Putnam (1983) defined interpretation as, "the way individuals make sense of their world through their communicative behaviors," (p. 31). Accordingly, the very act of worship cannot be removed from the act of communication, use of symbols is a basic building block in communication. Not only do human beings communicate through symbols but also they create their social reality through symbols (Berger, Luckman, 1967). Thus the interpretation of communicative acts involves much more than the simple presentations of events. It involves a variety of perspectives, flexibility, contextuality, and recreation of meanings.

This paper suggests that in worship of Athena and Sarasvati the worshippers mirror their own view of life "outside" by fantasizing it in the attributes of these goddesses. The worshippers here express their thoughts in the form of myths, metaphors, rituals, and symbols. From psychosocial perspective the images of Athena and Sarasvati represent the "others" who serve as consorts to their worshippers. Such consorts in mythological terms would be the personal [chosen] god or goddess of the devotees, with whom the individuals feel comfortable to self-disclose, have dialogue, and communicate their inner feelings and thoughts. In Hindu mythology the chosen deity is so important that there is a Sanskrit word—Istadevi (the personal goddess) and Istadeva (the personal god)—which are used for such gods and goddesses. The chosen goddesses as consorts can be perceived as equal partners as well as the protectresses of their worshippers. The interpersonal interactions between the worshipped and the worshippers form very important narratives which are subject to various interpretations. To call them mere illusions is to weaken their implications for human interaction and communication. Such performative ritualistic ceremonies demonstrate a unique phenomenon of human communication. To the worshippers the interaction with their goddesses is serious and very real, just as the world of the actors on a stage is real, though its status may seem less straight forward and an act of mere imagination.

The Athena worshippers interpret her attributes according to their own precepts, assign new meanings to them, and then recreate them in new ways to serve their own personal and social needs. For example, some of the most prominent attributes of goddess Athena are that she is intellectual, achievement oriented, and hardworking. She places high emphasis on education, recognizes the importance of social

and political issues. She represents the elements with which the Greek society would like to associate. She reflects the social conscience of the Greek culture.

Athena is a warrior goddess who loves competitiveness and fights. Unlike Sarasvati she is not solely an epitome of calm and peace. Thus in ancient Greece was an archetypical embodiment of the civic pride of the urban warrior state. The rise of the Athens, as stated by Woolger (1987), owed its strength not to the land around it, but rather to its military prowess. Thucydides wrote of the Athenians,

> "they were adventurous beyond their power...... One might truly say that they were born into the world to take no rest themselves and to give none to others" (as quoted by Woolger, 1987).

Thus in Athena they saw something special with which they felt comfortable, and were able to relate and communicate. It was through her that they were able to construct meanings of their own encounters with strangers, attackers, and invaders.

In building on myths and beliefs in Athena, Greeks incorporated new ideas, such as intellectual curiosity, competition and achievement. By nature the Athenians were action oriented people. They were not content with simply having great ideas; they were curious to implement them. They examined the concepts and theories in relation to personal and social needs, and then attributed meanings to them. In the worship of goddess Athena the Greek worshippers visualize their ideals in the image of their goddess. Thus Athena represents a complex and highly evolved consciousness that characterizes many Greek ideals, imagination, and myths, and beliefs.

Unlike Athena, the Hindu goddess Sarasvati is calm and peaceful. She promotes communication among human

beings through poetry, literature, art, music, and eloquence. Sarasvati represents the Hindu society of the Vedantic period. In that society harmony and conformity were esteemed above individual advancement – and thus were seen as the goals of—communication (Ady, 1990). It is for this reason that for the worshippers of Sarasvati, effective communication is possible mainly by the devotion to this goddess. After all say the Sarasvati worshippers,

> "Sarasvati is Vagdevi—the goddess of speech. She signifies the creative sound of the universe; she represents the—shabdabrahman—the ultimate reality in the form of sound" (Kinsley, 1987, p. 69).

It is likely that to her devotees the archetype of Sarasvati may appear as princess or protectress; because often in our fantasy our unconscious minds tend to draw upon our common pool of archetypical images. In case of Sarasvati the inner individual minds of the worshippers mirror their mental images in the image of their goddess. Their myths, beliefs, and metaphors construct a reality which is vital to their life and living. The principal function of the worshippers' established reality is to assist them in getting into harmony with the universe and stay tuned with it. With the grace of Sarasvati her devotees acquire a coherent sound that permits the transmission of ideas, wisdom, and culture. Such speech is not just plain verbal expression, it is associated with rationality and refinement.

Sarasvati is also identified with thought and intellect. These attributes are demonstrated in her power of knowledge, the power of ideas, and the power of intelligence. Thus she enables her worshippers to be creative and communicative. With her grace the individuals are able to communicate wisdom and knowledge to their fellow human beings thus making significant contribution to society and culture.

Since the process of communication is by its very

nature deep-rooted in its cultural context, it seems logical that the interpretation of philosophical and mythological concepts in the worship of Hindu goddess Sarasvati and the Greek goddess Athena can assist us in understanding the communication patterns of these two cultures in their religious and philosophical contexts. Both the goddesses represent the religious and social consciousness of two cultures, therefore their worship should be assessed in light of the purposeful message they convey in their images, metaphors, symbols, and myths. Since the intention of the devotees, the cultural contexts in terms of their traditional values, the beliefs, the attitudes, and the thought processes, add to the complexity of human communication, interpretation of these elements in Athena and Sarasvati is important to understand the human communication in its cultural context.

## References


Ady, J.C. (1990). Associating International Communication Theories : Toward A Universal Paradigm ? *World Communication*, 19, 2, 121-136.

Bolen, J.S. (1984). *Goddess in Every Woman.* New York : Harper and Row.

Berger, P.L., and Luckman, T. (1967). *The Social Construction of Reality.* New York : Doubleday Anchor.

Drewal, H.J. (1988). Interpretation in the Worship of Mami Wata, *Journal of Folklore Research*, 25, 1, 101-133.

Kinsley, D. (1987). *Hindu Goddesses.* Varanasi : Motilal Banarsidas.

Putnam, L.L. (1983). The Interpretive Perspective : An Alternative to Functionalism, in L.L. Putnam and M.E. Pacanousky (Eds.), *Communication and Organizations : An Interpretive Approach.* Beverley Hills : Sage.

Woolger, J.B. and Woolger, R.J. (1989). *The Goddess Within.*

# दिक्शोधकयन्त्र एवं सूर्यघटिका (कालबोधकयन्त्र)

—श्री कल्याणदत्त शर्मा

यज्ञयागादि के कार्य हेतु सर्वप्रथम दिक्शोधन करके यज्ञमण्डप की रचना की जाती है उसमें जिस देवता का जिस दिशा में स्थान होता है वहां उसका स्तम्भ स्थापित करते हैं और उस स्तम्भ को उस देवता का प्रतीक मानकर पूजा की जाती है यह बात सर्वविदित व सर्वथा सत्य है। जैसे पूर्वे इन्द्रायनमः, दक्षिणे यमाय नमः, पश्चिमे वरुणाय नमः, उत्तरे कुबेराय नमः। दिक्शोधन किये गये मण्डप में ठीक पूर्व-दिशा में इन्द्रदेव का आवाहन करके पूजन करते हैं इसी प्रकार अन्य देवताओं का अपनी-अपनी दिशा में स्तम्भ स्थापित कर पूजन करने का विधान है। यदि दिक्-शोधन सही प्रकार से नहीं होता है तब दिक् चिह्न लोम विलोम हो जाने से इन्द्रदेव का स्तम्भ यदि आग्नेय कोण में स्थापित हो गया तो अग्निकोणस्थ स्तम्भ पर पूर्वे इन्द्राय नमः बोलकर इन्द्र का आवाहन करते हैं तब इन्द्रदेव ठीक जो पूर्वदिशा का चिह्न है वहां उपस्थित होकर देखते हैं कि यहां तो मेरा प्रतीकात्मक स्तम्भ ही नहीं है अतः इन्द्रदेव, बिना आसन के किस तरह विराजमान होवें यह सोचकर यज्ञ-मण्डप से अनुदान व वरदान की जगह अभिशाप देकर वापस चले जाते हैं। साधारण सामाजिक दृष्टि से भी यदि किसी उच्चस्तरीय व्यक्ति को अपने उत्सव की शोभा बढ़ाने हेतु आमन्त्रित करके उसका आसन तो कहीं अन्यत्र लगा दिया हो और उनसे बार-बार निवेदन किया जाय कि आप विराजमान होइये पर जहां उन्हें बैठने के लिये आग्रह किया जा रहा है वहां आसन ही नहीं है तब कैसे बैठा जाय इस स्थिति में क्रुद्ध होकर वापिस जाने की नौबत बन जाती है जिससे समारोह की छवि ही धूमिल हो जाती है। जब मनुष्य के साथ ही ऐसा बर्ताव करने पर ऐसी स्थिति बन जाती है तब देवताओं को ऐसा व्यवहार कब अच्छा लगेगा। अतः यज्ञ यागादि के आरम्भ में सर्वप्रथम दिक्शोधन करना परमावश्यक माना गया है।

आजकल वैदिक विद्वान् दिक्शोधन के लिये कम्पास, कुतुबनुमा (एक चुम्ब-कीय यन्त्र) के आधार पर दिक्शोधन की प्रक्रिया अपनाते हैं। परन्तु इस प्रक्रिया में एक बड़ा भारी दोष उत्पन्न हो जाता है। जिस स्थान पर दिक्शोधन किया जाता है वहां यदि पृथ्वी के गर्भ में कहीं ऐसा धातु व पदार्थ गड़ा हुआ हो जो चुम्बक को आकर्षित कर रहा हो तो वहां कम्पास द्वारा दिक्शोधन दोषपूर्ण होगा—यह सुनिश्चित है। यदि बिजली के तार उस भूमि के ऊपर से जा रहे हों तब भी चुम्बक, आकर्षित हो जाने से ठीक दिक्शोधन नहीं कर पाता ऐसा प्रयोग, दिग्भ्रम उत्पन्न

कर देगा; अतः वह सर्वथा त्याज्य है।

कम्पास भी प्रत्येक वैदिक के पास उच्च कोटि के उपलब्ध नहीं होते। होने पर भी जहां उत्तम प्रकार से बने कम्पास आकर्षण के कारण भ्रमित कर देते हैं वहां साधारण कम्पास पर किस तरह विश्वास किया जा सकता है। अब प्रश्न उठता है कि सही ढंग से दिक्शोधन किस प्रकार किया जाय इस प्रश्न का समाधान कलाई पर बंधी आजकल की घड़ियों से किया जा सकता है। जेब की घड़ी हो या दीवार पर लगी घड़ी हो अथवा अलार्म घड़ी हो कोई भी घड़ी हो उसको सर्वप्रथम रेडियो के समय से मिलाकर सही समय बना लेना चाहिए उसके बाद ही उस घड़ी का उपयोग करके सही प्रकार से दिक्शोधन किया जा सकता है। आजकल घड़ियां सभी के समक्ष होती हैं तथा रेडियो भी होते हैं अतः रेडियो के समय (I.S.T.) अर्थात् भारतीय स्टैण्डर्ड समय सही ज्ञात कर उसके माध्यम से दिक्शोधन सरलता से सुगम्य हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व में स्पष्टमध्याह्न काल में सूर्य ठीक दक्षिण दिग् बिन्दु को स्पर्श करता है तब शंकुजन्य छाया ठीक उत्तर दिग्बिन्दु को स्पर्श करती है। जिसे याम्योत्तरा रेखा भी कहते हैं। सूर्यदेव धूप घड़ी के ठीक १२ बजे ही याम्योत्तर लंघन करते हैं यह निर्विवाद सिद्ध है। इसी १२ बजे के समय को स्पष्ट मध्याह्न काल कहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों पर बनी धूप घड़ियों में जब १२ बजते हैं तब ही भगवान् भास्कर याम्योत्तर रेखा का उल्लंघन करते हैं। परन्तु आजकल धूपघड़ियां सर्वत्र उपलब्ध नहीं होती अतः धूपघड़ी के १२ बजे का समय गणित के आधार पर निश्चित कर लिया जाता है। इसका गणितागत सरल उपाय यह है कि स्थानीय धूपघड़ी के १२ बजे के समय, आपकी भारतीय स्टैण्डर्ड समय बतलाने वाली घड़ी में क्या बजेगा यह बात मालूम हो जाय तो धूपघड़ी अभीष्ट स्थान पर अनुपलब्ध होने पर भी स्पष्ट मध्याह्न काल का ज्ञान गणितागत हो जाता है।

भौगोलिक स्थिति का ज्ञान करने के लिये दो उपकरण मुख्य हैं। (१) अक्षांश (२) रेखांश, अक्षांश की स्पष्ट व्याख्या यह है कि अभीष्ट स्थान पर ध्रुवतारे की क्षितिज से अंशात्मक ऊंचाई जितनी होगी वह ही अंशात्मक मान अक्षांश कहलाता है। स्थानीय धूपघड़ी के निर्माण में तथा जातक के जन्म-दिवस के सूर्योदय काल ज्ञात करने में प्रमुखतः इस अक्षांश का उपयोग होता है। जिस स्थान पर उत्तरी-ध्रुव आकाश में ऊंचा दिखे वहां का उत्तर अक्षांश होता है तथा जहां दक्षिण ध्रुव आकाश में ऊंचा दिखे वहां का अक्षांश दक्षिण अक्षांश कहलाता है भारतवर्ष में उत्तरीध्रुव की ऊंचाई होने से उत्तर अक्षांश हैं तथा मारीशस् में दक्षिणध्रुवोन्नत होने से दक्षिण अक्षांश है इस प्रकार सर्वत्र विचार करना चाहिये।

**रेखांश**—समस्त भूमण्डल को एक सूत्र में स्थिर रखने हेतु रेखांश की गणना आजकल ग्रिनविच (लन्दन) से की गई है ग्रिनविच से पूर्वीय क्षेत्रों में पूर्व रेखांश एवं पश्चिमीय क्षेत्रों में पश्चिम रेखांश की कल्पना की गई है। १ अंश का माप ४

मिनट होता है अतः पूर्व में प्रति अंश ४ मिनट के हिसाब से समय बढ़ता है एवं पश्चिम में प्रति अंश ४ मिनट के हिसाब से ग्रिनविच (लन्दन) स्थान से समय घटता जाता है। इस मापदण्ड के लिये प्रत्येक देश का स्थिर रेखांश निश्चित किया गया है जैसे भारत देश का ८२ अंश ३० कला स्थिर रेखांश है। १ अंश में ४ मिनट एवं १५ अंश में १ घण्टा, इस मापदण्ड से ८२ अंश ३० कला का मान ५ घण्टे ३० मिनट होता है इसलिये भारतवर्ष का समय ५-१/२ घण्टे ग्रिनवीच समय से अधिक निर्धारित किया गया है।

समस्त भारतवर्ष में इस स्थिर रेखांश (८२ अं० ३० क०) का समय ही भारतीय स्टैण्डर्ड समय के नाम से विख्यात है अतः भारतवर्ष में सभी घड़ियां इस समय को ही बतलाती हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों के स्थिर रेखांश कल्पित कर उसके आधार पर ही भिन्न-भिन्न देशों का समय घड़ियां स्टैण्डर्ड समय का ज्ञान करवाती हैं। भारतवर्ष में अभीष्ट स्थानीय रेखांश का और स्थिर रेखांश (८२ अं० ३० क०) का परस्पर अंशात्मक जो अन्तर होता है उसे ४ से गुणा करने पर जो मिनट व सेकण्ड प्राप्त होते हैं वे ही अभीष्ट स्थान के मध्यमान्तर के नाम से जाने जाते हैं। इसको उदाहरण रूप में समझने के लिये दिल्ली का रेखांश ७७ अं० १३ कला है। इसका और स्थिर रेखांश (८२ अं० ३० क०) का अन्तर करने पर ५ अंश १७ कला हुआ इसे क्रम से ४ से गुणा करने पर २० मि० ६८ से० हुये अर्थात् २१ मिनट ८ सेकण्ड दिल्ली का मध्यमान्तर ऋणात्मक हुआ। भारतवर्ष में जिस नगर का रेखांश ८२ अंश ३० कला से कम हो उसका मध्यमान्तर ऋणात्मक और जिस नगर का रेखांश ८२ अंश ३० कला से अधिक हो वहां का मध्यमान्तर धनात्मक होता है। कलकत्ते का रेखांश ८८ अंश २३ कला है इसका ८२ अंश ३० कला से अन्तर करने पर ५ अंश ५३ कला प्राप्त हुआ इसे क्रमशः ४ से गुणा करने पर २० मि० २१२ से० अर्थात् २३ मिनट ३२ सेकण्ड मध्यमान्तर प्राप्त हुआ किन्तु यह धनात्मक है इस प्रकार भारतवर्ष में सर्वत्र धनात्मक व ऋणात्मक मध्यमान्तर का ज्ञान गणित के अधार पर कर लेना चाहिये।

मध्यमान्तर मिनटादि का और अभीष्ट दिन के वेलान्तर मिनटादि का संस्कार करने पर स्पष्टान्तर के मिनटादि ज्ञात हो जाते हैं इस स्पष्टान्तर के मिनटादि का भारतीय स्टैण्डर्ड समय में विपरीत करने पर अर्थात् गणितागत स्पष्टान्तर यदि ऋणात्मक हो तो जोड़ने पर और धनात्मक होने पर घटाने पर स्पष्ट मध्याह्नकाल अर्थात् अभीष्ट स्थान की धूप घड़ी के १२ बजे के समय का ज्ञान सुलभता से हो जाता है यही हमारा अभीष्ट है।

भारतीय स्टैण्डर्ड समय का ठीक-ठीक ज्ञान रेडियो से प्रतिदिन प्रत्येक स्थल पर सुलभ है। अपनी घड़ी में स्पष्टान्तर का विपरीत संस्कार करने पर धूपघड़ी के १२ बजे के समय का ज्ञान हो जाता है। जैसे किसी अभीष्ट नगर के मध्यमान्तर में

वेलान्तर का संस्कार करने पर १५ मिनट ३० सेकण्ड ऋणात्मक स्पष्टान्तर ज्ञात हुआ तो अपनी भारतीय स्टैण्डर्ड समय सूचक घड़ी में जब १२ बजकर १५ मिनट ३० सेकण्ड होंगे तब अभीष्ट स्थानीय धूपघड़ी के १२ बजेंगे।

**वेलान्तर**—इसकी विस्तृत व्याख्या की यहां आवश्यकता नहीं है केवल इतना ही समझ लेना चाहिये कि प्रतिवर्ष प्रत्येक अंग्रेजी तारीख को एक-सा ही मिनटात्मक वेलान्तर होता है। वेलान्तर की स्थायी सारणी बनी हुई हैं उसके आधार पर वर्तमान दिन के धनात्मक व ऋणात्मक वेलान्तर का ज्ञान कर लेना चाहिये अभीष्ट स्थानीय मध्यमान्तर व अभीष्ट दिन के वेलान्तर का संस्कार करने पर स्पष्टान्तर का ज्ञान सुलभता से हो जाता है।

दिक्शोधन के लिये १ लठ्ठा समतल जमीन में मजबूती से गाड़ देना चाहिये। अपनी घड़ी का भारतीय स्टैण्डर्ड समय सही बनाकर दोपहर १२ बजे के कुछ समय पूर्व लठ्ठे के पास खड़े होकर उस लठ्ठे की छाया को देखते रहना चाहिये। मान लो जिस दिन आप लठ्ठे को छाया जिस स्थान पर देख रहे हों उस दिन उस स्थान का स्पष्टान्तर ऋणात्मक १५ मिनट ३० सेकण्ड हो तो आपअपनी घड़ी के १२ बजकर १५ मि० ३० से० का समय होते ही उस लठ्ठे की छाया के ठीक मध्य भाग पर सरल रेखा बना दीजिये बस यही रेखा दक्षिणोत्तर दिशा की सूचक होगी इस रेखा पर लम्बरूपात्मक दूसरी रेखा खींचने पर पूर्वापरा रेखा बनेगी। इसी प्रकार सुलभता से दिक्शोधन की प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है। दिक्शोधित मण्डप में यज्ञ-कुण्ड व देवस्तम्भ सही दिशा में बन जाने से यज्ञकार्य विधिपूर्वक सम्पन्न होने से देश व राष्ट्र का कल्याण अवश्य होता है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि विश्व में सर्वत्र स्थानीय धूपघड़ी के १२ बजने पर सूर्यदेव याम्योत्तर रेखा का उल्लंघन करते हैं तब सीधे व मजबूती से गड़े हुये लठ्ठे व लोहे की मोटी छड़ की छाया के मध्य भाग पर सीधी रेखा खींचने पर याम्योत्तरा रेखा बन जाती है। उस समय आपकी स्टैण्डर्ड समय सूचक घड़ी में क्या बजेगा? बस इस बात को जानने के लिये स्पष्टान्तर का ज्ञान किया जाता है। ± स्पष्टान्तर = ± मध्यमान्तर ± वेलान्तर। वेलान्तर के मिनटादि सम्पूर्ण विश्व में अभीष्ट दिन में एक-से होते हैं। अर्थात् भारत चीन जापान अमेरिका आदि देशों के प्रत्येक नगर में वेलान्तर का मान अभीष्ट दिन में बराबर होता है। २६ दिसम्बर से १४ अप्रैल तक तथा १५ जून से ३१ अगस्त तक प्रत्येक वर्ष में वेलान्तर के मिनट व सेकण्ड—(ऋणात्मक) होते हैं तथा १५ अप्रैल से १४ जून तक एवं १ सितम्बर से २५ दिसम्बर तक वेलान्तर सर्वत्र + (धनात्मक) होता है। भारतवर्ष में ८२ अंश ३० कला रेखांश से जिन नगरों का रेखांश कम होता है उनका मध्यमान्तर ऋणात्मक और जिनका रेखांश ८२ अंश ३० कला से अधिक होता है उनका वेलान्तर धनात्मक होता है। ± स्पष्टान्तर = ± वेलान्तर ±

मध्यमान्तर। यदि वेलान्तर और मध्यमान्तर मान का चिह्न एक-सा नहीं हो तो दोनों का अन्तर करने पर स्पष्टान्तर ज्ञात होता है तथा स्पष्टान्तर का चिह्न अधिक संख्या के चिह्न का होगा। जैसे मध्यमान्तर २१ मिनट ऋणात्मक और वेलान्तर ७ मि० धनात्मक है तब दोनों के चिह्न भिन्न होने के कारण अन्तर करने पर १४ मिनट स्पष्टान्तर प्राप्त हुआ, चूंकि मध्यमान्तर की संख्या अधिक है और ऋणात्मक है इस कारण स्पष्टान्तर भी ऋणात्मक हुआ। अभीष्ट दिन में ऋणात्मक १४ मिनट स्पष्टान्तर का विपरीत संस्कार करने पर अर्थात् अपनी घड़ी के १२ बजे में १४ मिनट जोड़ने पर १२ बजकर १४ मिनट पर शंकु की छाया के मध्य भाग में सरल रेखाङ्कित करने पर याम्योत्तर रेखा बन जाएगी और उस समय धूपघड़ी के १२ बजे का समय होगा। इसके बाद १५, १५ मिनट के अन्तर पर शंकुछाया को परिधि तक बढ़ा देने पर समय का ज्ञान होता रहेगा।

रात्रि में ग्रह व नक्षत्र का याम्योत्तर लंघन काल जब होता है तब याम्योत्तर रेखा पर आंख सटाकर देखने पर शंकु के अग्रभाग पर ग्रह व नक्षत्र दृष्टिगोचर होता है। उस समय के आधार पर रात्रि में भी समय का ज्ञान होता है।